काव्यशास्त्र और साहित्यालोचन

द्वितीय प्रश्न-पत्र

Paper - 2

एम.ए. हिंदी (उत्तरार्द्ध)

M.A. Hindi (Final)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय

रोहतक-124 001

विषय सूची

[खण्ड-क : संस्कृत काव्यशास्त्र]

[खण्ड-ख : पाश्चात्य काव्यशास्त्र]

[खण्ड-ग : हिन्दी काव्यशास्त्र]

एम.ए. हिंदी (उत्तरार्द्ध)
द्वितीय प्रश्न-पत्र
काव्यशास्त्र और साहित्यालोचन

पूर्णांक : 100
समय : 3 घंटे

निर्देश:—

1. खण्ड 'क', 'ख' और 'ग' में से तीन-तीन आलोचनात्मक प्रश्न पूछे जायेंगे, जिनमें से परीक्षार्थियों को प्रत्येक खण्ड से एक-एक प्रश्न करना अनिवार्य होगा। प्रत्येक प्रश्न बीस अंकों का होगा।
2. खण्ड 'घ' में पूरे पाठ्य विषय से आठ लघूत्तरी प्रश्न पूछे जायेंगे, जिनमें से परीक्षार्थियों को पाँच के उत्तर लिखने होंगे। प्रत्येक प्रश्न चार अंकों का और पूरा खण्ड प्रश्न बीस अंकों का होगा।
3. खण्ड 'ङ' (अन्तिम प्रश्न) अति लघूत्तरी प्रकृति का होगा। इसमें अनिवार्य दस प्रश्न पूछे जायेंगे। परीक्षार्थियों को सभी प्रश्नों के उत्तर (प्रत्येक लगभग 50 शब्दों में) देने होंगे। प्रत्येक प्रश्न दो अंकों का होगा। पूरा प्रश्न 20 अंकों का होगा।

खण्ड-क : संस्कृत काव्यशास्त्र

1. काव्य : स्वरूप और प्रकार
   - काव्य लक्षण
   - काव्य-हेतु
   - काव्य-प्रयोजन
   - काव्य के प्रकार
2. रस-सिद्धान्त
   - रस का स्वरूप
   - रस निष्पत्ति
   - साधारणीकरण
   - सहृदय की अवधारणा
3. अलंकार सिद्धान्त
   - अलंकार की अवधारणा
   - अलंकार सिद्धान्त की प्रमुख स्थापनाएँ
   - अलंकारों का वर्गीकरण
4. रीति सिद्धान्त
   - रीति का स्वरूप
   - रीति एवं शैली
   - काव्य-गुण
   - रीति-सिद्धान्त की प्रमुख स्थापनाएँ
5. ध्वनि सिद्धान्त
   - ध्वनि का स्वरूप
   - ध्वनि सिद्धान्त की प्रमुख स्थापनाएँ
   - ध्वनि काव्य के प्रमुख भेद : गुणीभूत व्यंग्य काव्य, चित्रकाव्य
6. वक्रोक्ति सिद्धान्त
   - वक्रोक्ति का स्वरूप
   - वक्रोक्ति के भेद
   - वक्रोक्ति और अभिव्यंजना
7. औचित्य सिद्धान्त
   - औचित्य का स्वरूप
   - औचित्य की प्रमुख स्थापनाएँ
   - औचित्य के भेद

खण्ड-ख : पाश्चात्य काव्यशास्त्र

8. प्लेटो - काव्य-सिद्धान्त
9. अरस्तू - (क) अनुकरण सिद्धान्त (ख) विरेचन सिद्धान्त
10. लौंजाइनस - उदात्त की अवधारणा
11. जान ड्राइडन - काव्य-सिद्धान्त
12. वर्ड्सवर्थ - काव्य-भाषा का सिद्धान्त
13. कॉलरिज - कल्पना सिद्धान्त
14. मैथ्यू आर्नल्ड - आलोचना का स्वरूप और कार्य
15. टी०एस० इलियट - निर्वैयक्तिकता का सिद्धान्त
16. आई०ए० रिचर्ड्स - संवेगों का संतुलन
17. सिद्धान्त और वाद - स्वच्छन्दतावाद, अभिव्यंजनावाद, मार्क्सवाद, फ्रायडवाद, अस्तित्ववाद

खण्ड-ग : हिन्दी काव्यशास्त्र

18. हिन्दी आलोचना का विकास
19. हिन्दी के प्रमुख आलोचक और उनकी आलोचना द ष्टि
    - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
    - आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी
    - आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी
    - डॉ० रामविलास शर्मा

खण्ड-क
संस्कृत काव्यशास्त्र

1. काव्य : स्वरूप और प्रकार

काव्य-लक्षण

'लक्षण' संस्कृत का एक पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ वह सरल तथा संक्षिप्त परिभाषा है, जो अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव दोनों से मुक्त हो। सरल भाषा में इसे पूर्ण एवं निर्दोष परिभाषा कहा जा सकता है। भौतिक जगत् की द श्यमान वस्तु की भी पूर्ण एवं निर्दोष परिभाषा देना कठिन है। फिर काव्य सद श मानसिक धरातल-वस्तु की निर्दोष परिभाषा करना तो नितान्त दुष्कर कार्य है। यही कारण है कि प्रत्येक भाषा के अध्येताओं ने इस दुष्कर कार्य के लिए अथक प्रयास किया है, लेकिन आज तक काव्य की पूर्ण, निर्दोष तथा सर्वमान्य परिभाषा नहीं बन सकी। यहाँ संस्कृत, हिन्दी और पाश्चात्य विचारकों के मतों का अवलोकन कर एक समन्वित परिभाषा देने का प्रयास किया गया है।

संस्कृत आचार्यों के मत

विश्व की प्राचीनतम पुस्तक 'ऋग्वेद' में एक स्थल पर वाणी के स्वरूप को संकेतित किया गया है। द्रष्टा (कवि) कहता है - "मैं अपने कवित्व को बादलों में से फूटकर आनेवाली पावस-धारा मानता हूँ।" यहाँ द्रष्टा ने अपने काव्य को सहज एवं प्रवेगपूर्ण अभिव्यक्ति माना है, वह सहज सम्भूत है, श्रमसाध्य नहीं। संस्कृत का प्रथम काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ भरतमुनि का 'नाट्यशास्त्र' है। नाट्यशास्त्र के सप्तदश अध्याय में काव्य के छत्तीस लक्षणों का विवरण दिया गया है, किन्तु केन्द्रबिन्दु का अभाव होने के कारण इस विस्त त विवरणिका को काव्य-लक्षण नहीं कहा जा सकता। उनकी निम्न कारिका काव्य लक्षण के सन्दर्भ में विशेष उल्लिखित है-

म दुललित पदाढ्यं गूढ़शब्दार्थ हीनं
जनपदसुख बोध्यं युक्तिमन्न त्य योज्यम्।
बहुकृतरसमार्ग सन्धि सन्धान युक्तं
स भवति शुभकाव्यं नाटक प्रेक्षकाणाम्।।

उक्त कारिका में भरतमुनि ने सत्काव्य के सात लक्षण माने हैं: (1) म दुललित पद-योजना, (2) गूढ़शब्दार्थहीनता, (3) सर्वसुगमता, (4) युक्तियुक्तता, (5) न त्य की योजना के योग्य, (6) नानाविधि रस-योजनाओं से परिपूर्ण तथा (7) सन्धि युक्तता। इनमें से पाँचवाँ तथा सातवाँ लक्षण द श्य काव्य की द ष्टि से रखा गया है तथा शेष में रीति, गुण, अलंकार और रस का निर्देश किया गया है। स्पष्ट है कि यह काव्य-लक्षण न होकर, काव्य-प्रशस्ति मात्र है। संस्कृत काव्य शास्त्र के प्रसिद्ध आचार्य भामह ने काव्य का यह लक्षण दिया है-

'शब्दाथो सहितौ काव्यम्'

अर्थात् शब्द और अर्थ के सहभाव को काव्य कहते हैं। भामह का यह लक्षण अतिव्याप्ति दोष से दूषित है। क्योंकि शब्दार्थ का सहभाव तो शास्त्र में भी पाया जाता है। वस्तुतः यहाँ भामह पूर्ववर्ती अलंकारवादियों के दो वर्गों - शब्दालंकारवादी और अर्थालंकारवादी - का उल्लेख कर रहे हैं। अलंकार-प्रकरण का समापन करते हुए वे लिखते हैं - इनसे अर्थमर्मज्ञों की अलंकृत वाणी विभूषित नारी के समान सुशोभित होती है। इससे स्पष्ट है कि भामह काव्य को निसर्गतः अलंकार युक्त मानते हैं। अलंकृत शब्दार्थ ही काव्य है- ऐसा भामह का मत है।

आचार्य दण्डी ने काव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है-

'शरीरंतावदिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली।'

अर्थात् अभीष्ट अर्थ को व्यक्त करनेवाली पदावली ही काव्य-शरीर है। दण्डी की परिभाषा भामह से किंचिद् भिन्न है, वे शब्दार्थ को नहीं, बल्कि इष्टार्थ के व्यंजक पदों को ही काव्य मानते हैं। वे शब्द को ही काव्य माननेवाली जगन्नाथ की परम्परा के प्रवर्तक है। दण्ड की एक विशेषता यह भी है कि उन्होंने पदावली को काव्य-शरीर कहकर काव्यात्मा की खोज का मार्ग उद्‌घाटित किया।

वामन गुण और अलंकारों से सम्पन्न शब्दार्थ को काव्य मानते हैं। उनकी परिभाषा इस प्रकार है-

'काव्यशब्दा यं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयो वर्तते।'

उनका मत है कि गुण काव्य-शोभा के उत्पादक धर्म और अंलकार उस शोभा को व द्विगत करने वाले तत्त्व। जब शब्दार्थ गुण और अलंकारों से सम्पन्न हो तथा दोषों से रहित, तो उसे काव्य कहा जाता है।

वक्रोक्ति-सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक राजानक कुन्तक ने काव्य का लक्षण इस प्रकार दिया है-

शब्दार्थो सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्नादिकारिणी।।

अर्थात् काव्यमर्मज्ञों को आनन्द देनेवाले, रम्य कवि व्यापार से युक्त रचना में व्यवस्थित शब्द और अर्थ मिलकर काव्य कहलाते हैं। कुन्तक के इस लक्षण से निम्नलिखित तथ्य निकलते हैं-

(क) शब्द और अर्थ दोनों मिलकर ही काव्य होते हैं। उनका मत है कि जिस प्रकार प्रत्येक तिल में तेल रहता है, उसी प्रकार शब्द और अर्थ दोनों में ही आह्नादकारिता रहती है।

(ख) कुन्तक की द ष्टि में वक्रता विचित्र गुणों और अलंकारों की सम्पदा का परस्पर स्पर्द्धा पर आ जाना ही शब्दार्थ का उचित सहभाव है।

(ग) वक्रोक्ति से सम्पन्न या अलंकृत शब्दार्थ ही काव्य का मूल है।

(घ) अलंकृत शब्दार्थ को काव्यमर्मज्ञों के आह्नादन में सक्षम होना चाहिए।

मम्मट का 'काव्य-प्रकाश' उत्तर संस्कृत काल की एक प्रौढ़ रचना है। उनका काव्य-लक्षण इस प्रकार है-

'तद्‌दोषौ शब्दार्थो सगुणावनलंकृति पुनः क्वपि।'

मम्मट की द ष्टि में शब्द और अर्थ दोनों की समष्टि ही काव्य है। इस शब्दार्थ में तीन विशेषताएँ होनी चाहिए। प्रथम, यह दोषों से मुक्त होना चाहिए; यदि सदोष है तो काव्यत्व की हानि होगी।

द्वितीय, इसे माधुर्य, प्रसाद आदि गुणों से सम्पन्न होना चाहिए। मम्मट की द ष्टि में गुण रस के धर्म हैं। अतः गुण सम्पन्नता से तात्पर्य सरसता से ही है। त तीय, साधारणतः काव्य अलंकृत ही होता है किन्तु जहाँ रसादि की प्रतीति हो रही हो, वहाँ अलंकार-रहित भी हो सकता है। मम्मट अलंकारों की स्थिति वैकल्पिक मानते हैं। यह काव्य-लक्षण इतना लोकप्रिय हुआ कि हेमचन्द्र, वाग्भट, विद्याधर, विद्यानाथ, जयदेव आदि अनेक आचार्यों ने उनकी काव्य-विषयक धारणा का अनुकरण करते हुए अपने लक्षण प्रस्तुत किए हैं।

जहाँ मम्मट के काव्य-लक्षण को इतनी मान्यता मिली, वहाँ उसका प्रबल खण्डन भी हुआ। विश्वनाथ ने 'अदोषौ' तथा 'सगुणौ' की, जगन्नाथ ने 'शब्दार्थो की तथा जयदेव ने 'अलंकृति' पुनः क्वपि की कटु आलोचना की। इन आलोचनाओं पर द ष्टिपात कर लेना अप्रासंगिक न होगा-

(क) विश्वनाथ ने 'अदोषौ' की आलोचना करते हुए लिखा है कि यदि दोष रहित शब्दार्थ को ही काव्य माना जाए तो नितान्त दोषरहित काव्य संसार में मिलना दुर्लभ हो जाएगा। जो मिलेगा, उसकी मात्रा अत्यल्प होगी। उन्होंने आनन्दवर्द्धन के ध्वनि काव्य को भी दोषयुक्त दिखाया है।

(ख) लक्षण में प्रयुक्त 'सगुणों' विशेषण का खण्डन करते हुए विश्वनाथ ने कहा है कि गुण रस के धर्म है, शब्दार्थ के नहीं। अतः वे रस में रहते हैं शब्दार्थ में नहीं। ऐसी स्थिति में में यह विशेषण उचित नहीं है।

मम्मट ने स्वयं प्रतिपादित किया है कि गुण रस के नित्य धर्म हैं। अतः वे रस के साथ ही रहते हैं। किन्तु वे गौण रूप से वे शब्दार्थ के साथ भी रह सकते हैं। इसी आधार पर उन्होंने 'सगुणौ' विशेष का प्रयोग किया है।

(ग) पण्डितराज जगन्नाथ ने 'शब्दार्थो' विशेष्य की आलोचना की है। उनका मत है कि काव्यत्व शब्द और अर्थ दोनों में रहनेवाला धर्म नहीं है, बल्कि केवल शब्दों में रहनेवाला धर्म है। यदि हम दोनों में रहनेवाला धर्म मानते हैं तो एक धर्म दो में रहनेवाला होने से यह श्लोक है, काव्य नहीं - इस प्रकार का व्यवहार होने लगेगा। यदि शब्द और अर्थ दोनों में अलग-अलग रहनेवाला धर्म माने तो दुहरा काव्यत्व आ जाएगा। अतः काव्यत्व न शब्दार्थ की समष्टि में रहता है और न दोनों में प थक्-प थक्, बल्कि केवल शब्दों में निवास करता है। इस प्रकार मम्मट का 'शब्दार्थो' विशेष्य उचित नहीं है पण्डित राज की आलोचना अत्यन्त गम्भीर है और सहानुभूतिपूर्ण है।

(घ) जयदेव ने 'अनलंकृति पुनः क्वपि' की आलोचना करते हुए लिखा है कि काव्य निसर्गतः अलंकारयुक्त मानने का प्रश्न ही नहीं उठता। उनका मत है कि जो काव्य को अलंकार-विहीन मानता है, वह अग्नि को उष्णताविहीन क्यों नहीं मान लेता-

अंगीकरोति य काव्यं शब्दार्थानलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती।।

जयदेव अलंकारवादी आचार्य है। उनका अलंकारों के प्रति अतिशय मोह है। तथापि परवर्ती परम्परा अलंकार को अनिवार्य तत्त्व नहीं मानती, इसलिए मम्मट का उक्त मत अनुचित नहीं है। मम्मट की आलोचना भले ही की गई हो, किन्तु उनका काव्य-लक्षण, अन्य लक्षणों की अपेक्षा अधिक परिमार्जित है। उन्होंने निर्दोषता तथा गुणवत्ता को महत्त्व देकर नया द ष्टिकोण प्रस्तुत किया है। वे शब्दार्थ के सहभाव से काफी आगे बढ़े हैं। इस पर भी उनका लक्षण अत्यन्त संक्षिप्त रहा है। परवर्ती आचार्यों द्वारा उनका अनुकरण ही उनकी सफलता एवं लोकप्रियता का द्योतक है।

विश्वनाथ रसवादी परम्परा के आचार्य हैं। उन्होंने आनन्दवर्द्धन, मम्मट आदि के लक्षणों का सतर्क खण्डन कर, एक पूर्ण एवं निर्दोष लक्षण के निर्माण का दायित्व अपने ऊपर ले लिया है। किसी भी पूर्णवर्ती आचार्य ने लक्षण में रस को आधार नहीं बनाया। विश्वनाथ ने रस को काव्य का प्रमुख तत्त्व स्वीकारते हुए निम्न लक्षण प्रस्तुत किया है-

''वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।''

रसयुक्त वाक्य ही काव्य है। विश्वनाथ ने एक ओर तो रसात्मक वाक्य को काव्य मानकर रसवादी परम्परा को गति प्रदान की, दूसरी ओर शब्द या शब्दार्थ से ऊपर उठकर उन्होंने वाक्य को काव्य नाम दिया।

संस्कृत काव्यशास्त्र के अन्तिम प्रतिष्ठित आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य को शब्दनिष्ठ तथा रमणीय अर्थ का वाहक माना है। उनका काव्य-लक्षण इस प्रकार है-

"रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्द काव्यम्।"

अर्थात् रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को ही काव्य कहते हैं। पण्डितराज का 'रमणीयता' शब्द, उसी अर्थ का वाचक है, जिसके लिए दण्डी ने 'इष्ट', वामन ने 'सौन्दर्य', आनन्दवर्द्धन और कुत्तक ने 'लोकोत्तर आह्लाद' आदि शब्दों का प्रयोग किया। काव्य-शास्त्र में चारुता, विच्छित्ति, चमत्कार, आह्लाद, सौन्दर्य पर्याय ही है। अन्तर यही है कि सौन्दर्य में काव्य के बाह्य पक्ष पर अधिक बल है, जबकि आह्लाद या आनन्द में आन्तरिक पक्ष पर। रमणीयता में दोनों पक्षों का उचित सामंजस्य जान पड़ता है। पण्डितराज ने स्वयं रमणीयता का अर्थ लोकोत्तर आह्लाद के उत्पादक ज्ञान का विषय होना माना है। तात्पर्य यह है कि जिसके पुनः-पुनः अनुसंधान से लोकोत्तर आनन्द की प्राप्ति हो, वह रमणीय कहलाएगा। लोकोत्तर आनन्द काव्यशास्त्रीय परम्परा का प्रसिद्ध शब्द है पण्डितराज की विशेषता यह रही है कि उन्होंने आनन्तर बाह्य - दोनों पक्षों से सम्बद्ध रमणीयता शब्द को पकड़कर काव्य की व्याख्या की है। पण्डितराज बहुत सीमा तक काव्य-सत्य को प्रकट करने में समर्थ हुए हैं, तथापि उनका लक्षण निर्विवाद नहीं है। परवर्ती आचार्यों ने उनकी आलोचना शब्द निष्ठता को लेकर ही अधिक की है।

हिन्दी विचारकों के मत

हिन्दी में काव्यशास्त्रीय चिन्तन का प्रारम्भ रीतिकाल से होता है। रीतिग्रन्थों में काव्य के स्वरूप पर बहुत प्रकाश डाला गया है, किन्तु इनमें मौलिकता के दर्शन प्रायः नहीं होते। संस्कृत-ग्रन्थों की कारिकाओं को ही छन्दबद्ध कर दिया गया है। मम्मट इस काल के विशेष उपजीव्य रहे हैं। रीतिकाल के प्रारम्भिक आचार्य-कवि चिन्तामणि का काव्य-लक्षण इस प्रकार से है-

"सगुन अलंकारन सहित, दोषरहित जो होइ।
शब्द अर्थ वारौ कवित, बिबुध कहत सब कोइ।।"

मम्मट से इनके लक्षण में इतना ही अन्तर है कि यहाँ अलंकारों की स्थिति वैकल्पिक न होकर अनिवार्य हो गई है।

कुलपति मिश्र ने अपने लक्षण में पूर्णतः मम्मट को ही आधार बनाया है। उनका लक्षण इस प्रकार है -

"दोषरहित अरु गुनसहित, कछुक अल्प अलंकार।
सबद अरथ सो कवित है, ताको करो विचार।।"

आधुनिक युग के विचारकों में कुछ की काव्य-विषयक धारणाएँ तो पाश्चात्य विचारधारा पर

आधारित है, किन्तु कुछ ने मौलिक विवेचन भी किया है। इन विचारकों ने काव्य-रूपक का क्रमबद्ध विवेचन बहुत कम किया है। उनके ये काव्य विषयक उल्लेख प्रायः अन्य प्रसंगों से ही मिलते हैं। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के यत्र-तत्र विकीर्ण काव्य-विषयक उल्लेख इस प्रकार हैं-

"ज्ञानराशि के संचित कोश का नाम ही साहित्य है।"
"कविता प्रभावशाली रचना है, जो पाठक या श्रोता के मन पर आनन्दमय प्रभाव डालती है।"
"मनोभाव शब्दों का रूप धारण करते हैं। वही कविता है, चाहे वह पद्यात्मक हो, चाहे गद्यात्मक।"
"अन्तःकरण की प्रव त्तियों के चित्र का नाम कविता है।"

उक्त पंक्तियों से उनकी काव्य-विषयक मान्यताओं का पता चलता है। मनोभाव या अन्तःकरण की व त्तियों का चित्र जब शब्दाकार ग्रहण करता है और इतना प्रभावी हो कि पाठक के हृदय पर आनन्दमय प्रभाव डाल सके तो उसे काव्य कहते हैं। आचार्य रामचन्द्रशुक्ल रसवादी आचार्य हैं। वे काव्य में भाव-सम्पदा पर विशेष बल देते हैं। साधारणीकरण द्वारा लोकोत्तर भावभूमि पर पहुँचाकर मानवीय रागों का परिष्कार ही काव्य का उद्देश्य है। उनका वक्तव्य इस प्रकार है-

"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मानव की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं। इस साधना को हम भावयोग कहते हैं और कर्मयोग और ज्ञानयोग के समकक्ष मानते हैं।" आचार्य शुक्ल की भाषा कुछ जटिल होने से परिभाषा रहस्यमय बन गई है। उनका तात्पर्य यही है कि जो शब्द-रचना मानव-हृदय को जिस पर चेतना से ऊपर उठाकर विशुद्ध भावना के धरातल पर प्रतिष्ठित कर सके। उसे लोकोत्तर आनन्द दे सके, वही काव्य है। यहाँ शुक्ल जी रस-सिद्धान्त के साधारणीकरण को ही, शब्दान्तर से काव्यनिकष स्वीकार रहे हैं।

बाबू श्याम सुन्दरदास ने शास्त्र और काव्य में भेद करते हुए कलात्मकता को भेदक तत्त्व माना है। उनका कथन है-

"किसी पुस्तक को हम काव्य या साहित्य की उपाधि तभी दे सकते हैं। जब जो कुछ उसमें लिखा है, वह कला के उद्देश्यों की पूर्ति करता हो - यही एकमात्र उचित कसौटी है।"

तात्पर्य यह है कि जिस कृति को पढ़ने से पाठक को कलात्मक आनन्द की प्राप्ति हो, उसे काव्य कहा जा सकता है।

कविवर जयशंकरप्रसाद ने काव्य को आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति माना है उनका विचार है-

"कवि आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान नहीं है। वह एक श्रेयमयी प्रेम रचना है। काव्य या साहित्य आत्मा की अनुभूतियों का नित्य नया रहस्य खोलने में प्रयत्नशील है।" इस परिभाषा में पाठक की अपेक्षा कवि को प्रमुख स्थान दिया गया है। इसमें सत्यं, शिवं तथा सुन्दरम् का भी अच्छा समावेश द ष्टिगत होता है और क्रोचे की सहजानुभूति से भी इसका पर्याप्त साम्य है।

उपन्यास-सम्राट मुंशी प्रेमचन्द्र ने काव्य को मानव-हित में सहायक स्वीकार किया है। उसकी उपादेयता मार्गदर्शन में सक्षम होने में ही है। उनका अभिमत इस प्रकार है-

"साहित्य की बहुत-सी परिभाषाएँ की गई हैं। पर मेरे विचार से उसकी सर्वोत्तम परिभाषा 'जीवन की आलोचना' है, चाहे वह निबन्ध के रूप में हो, चाहे कहानी या काव्य के। उसे हमारे जीवन

की आलोचना और व्याख्या करनी चाहिए।" मुंशी जी की परिभाषा पाश्चात्य उपयोगितावाद से प्रभावित जान पड़ती है। वे कला को कला के निमित्त न स्वीकारकर मानव-जीवन के निमित्त स्वीकार करते हैं।

महादेवी जी से काव्य में प्रेषणीयता तथा भावोद्‌बोधन-क्षमता को प्रमुखता दी है। काव्य के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा है-

"कविता कवि-विशेष की भावनाओं का चित्रण है और वह चित्रण इतना ठीक है कि उससे वैसी ही भावनाएँ किसी दूसरे के हृदय में अभिभूत होती है।" महादेवी जी का उक्त वक्तव्य रसात्मक काव्य या गीतिकाव्य पर विशेषतः लागू होता है, अन्य विधाओं पर नहीं।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने काव्य के स्वरूप पर विचार करते हुए लिखा है-

"काव्य तो प्रकृत मानव-अनुभूतियों का नैसर्गिक कल्पना के सहारे ऐसा सौन्दर्यमय चित्रण है, जो मानवमात्र में स्वभावतः अनुरूप भावोच्छ्‌वास और सौन्दर्य संवेदन उत्पन्न करता है। इसी सौन्दर्य-संवेदन को पारिभाषिक शब्दावली में रस कहते हैं, यद्यपि यह स्वीकार करना होगा कि रस का हमारे यहाँ दुरुपयोग भी कम नहीं किया गया।"

स्पष्ट है, वाजपेयी जी काव्य में अनुभूति और कल्पना का ऐसा मणिकांचन योग स्वीकारते हैं। जो पाठक के हृदय में अनुरूप भावोद्‌बोध कर सकें। इस वक्तव्य में जहाँ एक ओर काव्य-निर्माण की प्रक्रिया को स्पष्ट किया गया है, वहीं दूसरी ओर भावात्मक प्रभाव को महत्त्व दिया गया है। अन्तिम वाक्य में कोरे रसवाद की कटु आलोचना की गई है?

पाश्चात्य विचारकों के मत

काव्य या साहित्य के स्वरूप के विषय में पाश्चात्य विद्वानों ने भी अनेक प्रकार के विचार प्रकट किए हैं। प्लेटो ने काव्य को अनावश्यक तथा अनुपादेय मानते हुए भी उसके प्रभाव को स्वीकार किया था। अरस्तु ने काव्य को एक कला माना है। अनुकरण कला का मौलिक तत्त्व है। काव्य भी कला का ही एक रूप है। काव्य में यह अनुकरण शब्दों के माध्यम से होता है और मानव-मन पर अमिट प्रभाव डालता है-

"It is an initiation by means of words."

कालरिज ने काव्य का उद्देश्य मानव को भावजन्य आह्लाद प्रदान करना ही स्वीकारा है। वे काव्य में भावनाओं को सुन्दर रूप से सजाने के पक्ष में हैं तथा अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों पर समान बल देते हैं। उन्होंने काव्य की अनुभूतिपरक तथा अभिव्यक्तिपरक दोनों प्रकार की परिभाषाएँ की हैं -

(क) "Poetry is the excitement of emotion for purpose of immediate pleasure through the medium of beauty."

(ख) "Poerty is the best words in the best order," प्रसिद्ध कवि वर्ड्‌सवर्थ का विचार है कि कविता प्रबल अनुभूतियों का सहज उद्रेक है, जिसका स्रोत शान्ति के समय में स्म त मनोवेगों से फूटता है-

"Poerty is the spontaneous overflow of powerful fellings it takes its origin from emotions recollected in tranquillity."

उक्त परिभाषा भावानुभूति और भावाभिव्यक्ति की प्रक्रिया पर प्रकाश डालने में पर्याप्त तथ्यपूर्ण है। मनोवेगों के आवेग के समय कवि उन्हें अभिव्यक्त नहीं करता, बल्कि आवेग के शान्त होकर भाव बन जाने पर उन्हें व्यक्त करता है। सर्जन-प्रक्रिया पर प्रकाश डालने के साथ इस परिभाषा में यह न्यूनता है कि कलाकार की प्रतिभा और अभिव्यक्ति-कौशल का उल्लेख नहीं हुआ है, जिसके अभाव में सभी की अभिव्यक्तियाँ काव्य नहीं बन पाती।

मैथ्यू आर्नल्ड के काव्य को सर्वाधिक सुखद तथा पूर्ण वक्तव्य माना है, जो मानवीय भाषा का चरमोत्कर्ष है। उनकी काव्य-विषयक मान्यता इस प्रकार है-

"Poerty is a criticism of life under the conditions fixed for such criticism by the laws of poetic truth and poetic beauty.

अर्थात् काव्य-जीवन की आलोचना है। यह आलोचना काव्यगत सत्य और काव्यगत सौन्दर्य के नियमों से परिचालित होती है। उक्त परिभाषा से स्पष्ट होता है कि आलोचना के मानदण्ड तो काव्यगत सत्य और काव्य-सौन्दर्य ही रहते हैं। लेकिन काव्य जीवन से असम्प क्त नहीं होते। उसे जीवन की आलोचना करनी चाहिए और मानव का मार्ग-दर्शन भी करना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि काव्य जीवन से निरपेक्ष वस्तु नहीं है। उसकी उपादेयता जीवन के उन्नयन में ही है। लेकिन उन्नयन का संदेश भी कलात्मकता से निरस्स त होना चाहिए।

जानसन महोदय काव्य को उस कला के रूप में स्वीकार करते हैं, जो कल्पना की सहायता से युक्ति द्वारा सत्य को आनन्द से समन्वित करती है। उनका वक्तव्य इस प्रकार है-

" Poetry is the art of uniting pleasure with truth by colling imagination to the help of reason."

इस परिभाषा में, जहाँ काव्य में कल्पना को प्रमुख माना गया है, वहाँ सत्य, आनन्द और युक्तियुक्तता को भी उचित स्थान मिला है। डॉक्टर जॉनसन ने भाव कल्पना, बुद्धि और आनन्द सभी का उचित समावेश किया है।

कविता की एक महत्त्वपूर्ण परिभाषा चैम्बर्स कोश में दी गई है। इस परिभाषा में काव्य का स्वरूप इस प्रकार वर्णित है-

"Poetry is the art of expressing words, thoughts, which are the creations of imagination and feeling."

अर्थात् कविता कल्पना और अनुभूति से उत्पन्न विचारों को मधुर शब्दों में अभिव्यक्त करने की कला है। इस परिभाषा में काव्य के समस्त तत्त्वों का उल्लेख हुआ है। अभिव्यंजना कौशल काव्य का प्रमुख तत्त्व है, जो विचार व्यक्त किए जाते हैं, वे भी कल्पना और अनुभूति के संयोग से विस्म त होते हैं। इस परिभाषा में दोष केवल यह है कि शैली सदैव मधुर ही मानी गई है। वैदर्भी श्रेष्ठ रीति है, अतः परिभाषा में कलात्मकता का कथन अनावश्यक है।

समस्त मतों की विवेचना और उपयुक्त काव्य-लक्षण

ऊपर संस्कृत, हिन्दी और पाश्चात्य विचारकों के काव्य-लक्षणों पर विचार किया गया है। अब इस विवेचन के उपरान्त किसी सामान्य निष्कर्ष पर पहुँचना चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि एक-एक भाषा के आचार्यों के मतों का अवलोकन करते हुए उनके अन्तरंग तत्त्वों को खोजा जाए।

यदि संस्कृत आचार्यों के मतों का तनिक गम्भीरता से अध्ययन किया जाए तो निम्नांकित तथ्य उपलब्ध होते हैं - अलंकारिता, सगुणता, निर्दोषता, रसमयता, वक्रता। इन्हें दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। रसवादी तत्त्व और सौन्दर्यवादी तत्त्व। सौन्दर्यवादी तत्त्वों-सालंकारता,

निर्दोषता, वक्रता आदि में काव्य के बाह्य पक्ष पर बल दिया गया है। रसवादी तत्त्वों-सरसता, सगुणता आदि में - आन्तरिक पक्ष पर। रसवादी और सौन्दर्यवादी किसी भी वर्ग के आचार्यों ने दूसरे वर्ग के प्रमुख तत्त्व का तिरस्कार नहीं किया है, अन्तर केवल प्राधान्य का है। जैसे सौन्दर्यवादी आचार्य कुन्तक ने वक्रता पर विशेष बल दिया है लेकिन रस तत्त्व का भी महत्त्व प्रदर्शित किया है, उसका अपलाप नहीं किया। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि मानव में अन्तःकरण (मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार) और बाह्यकरण (पांच ज्ञानेन्द्रिय -कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका, पांच कर्मेन्द्रिय - वाणी, पाणि, पाद, वायु और उपस्थ) के समान काव्य में भी अन्तरंग और बहिरंग दोनों ही तत्त्व आवश्यक हैं। अतः काव्य की परिभाषा ऐसी ही हो सकती है जिसमें दोनों पदों का उचित समन्वय हो। संस्कृत के आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ ने इसी तरह की परिभाषा देने का प्रयास किया था - 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' इसका विरोध केवल इसलिए हुआ कि इसमें शब्द को काव्य माना गया है। यद्यपि इसमें अर्थ की उपेक्षा नहीं की गई, किन्तु पुरातन पण्डित शब्द और अर्थ के सहभाव का अभाव देखना ही नहीं चाहते। काव्य का लक्ष्य लोकोत्तर आनन्द है, इसमें सभी एकमत हैं।

यदि हिन्दी के विचारकों के काव्य-लक्षणों पर ध्यान दिया जाए तो दो बातें स्पष्ट द ष्टिगत होती हैं - प्रथम, काव्य-लक्षण विषयक उक्तियाँ प्रासंगिक होने से उनमें काव्य के पूर्ण स्वरूप को बाँधने की क्षमता का प्रायः अभाव है। द्वितीय, अधिकांश में संस्कृत या पाश्चात्य विचारकों के मतों की अनुगूंज है, तथापि कुछ विचारकों ने मौलिक मतों की स्थापना की है। हिन्दी आचार्यों के मतों के विवेचन से जो तत्त्व निकलते हैं, वे हैं - सरसता, सामाजिक उपादेयता, प्रेषणीयता, रागात्मक परिष्कार। मनोवैज्ञानिक द ष्टि और सामाजिक उपादेयता - दो ऐसे तत्त्व हैं जिनका विकास हिन्दी आचार्यों में हुआ है। हिन्दी आचार्यों के विवेचन से यह भी स्पष्ट होता है कि वे लोकोत्तर आनन्द के साथ सामाजिक उपादेयता को भी काव्य में आवश्यक समझते हैं। यहाँ तक आते-आते काव्य का रूप, नानाविध वस्त्राभूषणों से सुसज्जित नवविवाहिता वधु का रूप नहीं, बल्कि ग हकार्य संलग्न भार्या का है, जिसके शरीर पर श ंगार के नाम पर सिन्दूर-बिन्दु ही पर्याप्त है, उसकी सार्थकता पति विमोहन में नहीं, ग ह-संचालन में है।

जहाँ तक पाश्चात्य विचारकों के लक्षणों की बात हे, वे अंश मात्र का बोध कराते हैं। इन विचारकों ने संगीतात्मकता, जीवन-सत्य, कल्पना, अनुभूति, बुद्धि तत्त्व आदि पर बल देते हैं। ये विचारक अभिव्यक्ति कौशल की अपेक्षा जीवन-सत्य पर अधिक बल देते हैं। कल्पना और अनुभूति को काव्य का महत्त्वपूर्ण तत्त्व माना गया है। हिन्दी विचारकों के समान इनका बल न सामाजिक उपादेयता पर है और न संस्कृत आचार्यों के समान लोकोत्तर आनन्द पर।

सभी विचारकों के मतों का निरीक्षण-परीक्षण करने से कुछ तथ्य उपलब्ध होते हैं। इन्हें सूत्रबद्ध करना अधिक उपयुक्त होगा-

(क) सौन्दर्य तत्त्व - अलंकार, वक्रता, रीति आदि काव्य का अपरिहार्य अंग नहीं है। इनका प्रयोग उपयोगी है, किन्तु प्रयोगाधिक्य अनुपादेय भी।

(ख) भाव काव्य का मूलाधार है इसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। इसी से काव्य में रमणीयता उत्पन्न होती है।

(ग) अभिव्यक्ति कौशल, संगीतात्मकता, नाद-सौन्दर्य काव्य को आकर्षक बनाते हैं। किन्तु ये उसके प्राणाधायक तत्त्व नहीं हैं।

(घ) कल्पना कवि का मौलिक अधिकार है, जिसके अभाव में काव्य की स ष्टि ही सम्भव नहीं।

(ङ) काव्य का लक्ष्य है - लोकोत्तर आनन्द। सामाजिक उपादेयता काव्य का मूल प्रयोजन नहीं है। यदि काव्य आनन्द के साथ समाज के मार्गदर्शन में सक्षम है तो समाज के लिए उसका मूल्य बढ़ जाता है।

काव्य सद श मानसिक धरातल पर अधिष्ठित तत्त्व की परिभाषा करना कठिन है और उससे सभी का सहमत होना कठिनतर, तथापि उपर्युक्त तथ्यों को ध्यान में रखकर काव्य की निम्न परिभाषा दी जा सकती है-

"अनुभूति और कल्पना से निस्स त रमणीय अर्थ की सुन्दर अभिव्यक्ति ही काव्य है।"

काव्य-हेतु

हेतु का अर्थ है-कारण। कवि में काव्य-प्रणयन की सामर्थ्य उत्पन्न करनेवाले साधनों को काव्य-हेतु या काव्य के कारण कहा जाता है। ये साधन ही कवि को काव्य-प्रणयन में सक्षम बनाते है। प्रयोजन से तात्पर्य रचना से प्राप्त होनेवाले लाभों से है। यदि ये लाभ काव्य-निर्माण पूर्व ही द ष्टिगोचर होते हैं तो प्रेरणा कहलाते हैं और यदि बाद में प्राप्त होते हैं तो प्रयोजन कहे जाते हैं। इस प्रकार प्रेरणा और प्रयोजन में पूर्वापर सम्बन्ध है। वस्तुतः दोनों प्रयोजन ही हैं। लेकिन हेतु और प्रयोजन में अन्तर है। हेतु का सम्बन्ध कवि सामर्थ्य से है, जबकि प्रयोजन का सम्बन्ध कृति से प्राप्त होनेवाले लाभों से है।

संस्कृत काव्य-शास्त्र में काव्य हेतुओं का निरूपण करनेवाले आचार्यों में भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट, कुन्तक और मम्मट का नाम उल्लेखनीय है। हिन्दी के रीतिकालीन कवियों में सूरति मिक्षि, श्रीपति तथा आधुनिक युग के जगन्नाथ प्रसाद भानु आदि ने मम्मट के आधार पर ही हेतु-निरूपण किया है। इसके विवेचन में मौलिकता एवं नवीनता नहीं, पिष्टपेषण मात्र है। काव्य शास्त्र के प्रथम आचार्य भामह ने तीन काव्य-हेतु माने हैं - प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास। दण्डी ने शब्द-भेद से इन्हें ही स्वीकार किया है। उनके नाम हैं - नैसर्गिक प्रतिभा, निर्मल शास्त्रज्ञान तथा अमन्द अभियोग। रुद्रट तथा कुन्तक ने भामह की प्रतिभा के स्थान पर शक्ति नाम दिया है, शेष यथावत है - शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास। (दण्डी ने शब्द-भेद से इन्हें ही स्वीकार किया है। उनके नाम) वामन ने इसे विस्तारपूर्वक तथा प्रकारान्तर से स्वीकार किया है। उनके हेतु हैं - लोक, विद्या तथा प्रकीर्ण। प्रकीर्ण के उन्होंने छः भेद किए हैं - लदज्ञत्व, अभियोग, व द्ध सेवा, अवेक्षण, प्रतिभा और अवधान। राजशेखर ने शक्ति को ही मुख्य काव्य-हेतु माना है। समाधि और अभ्यास - ये दोनों कवित्व शक्ति को उद्‌भाषित करते हैं। परवर्ती आचार्य मम्मट ने तीन काव्य-हेतु दिए हैं और शेष सभी का अन्तर्भाव इन्हीं में माना है। उनकी कारिका इस प्रकार है-

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्‌भर्व।।

ये हेतु हैं - शक्ति, लोक व्यवहार, शास्त्र तथा काव्य आदि के अनुशीलन से प्राप्त निपुणता (व्युत्पत्ति) और काव्यज्ञ की शिक्षा से अभ्यास। पण्डितराज जगन्नाथ ने प्रतिभा को ही काव्य-हेतु माना है। व्युत्पत्ति और अभ्यास प्रतिभा के उन्मीलक हेतु हैं। उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि संस्कृत काव्य-शास्त्र में शब्द-भेद से प्रायः तीन ही हेतु स्वीकार किए गए हैं ये हैं प्रतिभा, अभ्यास और व्युत्पत्ति।

इन सभी विभिन्न हेतुओं के स्वरूप को समझने से पूर्व यह ज्ञान लेना आवश्यक है कि संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य-हेतुओं पर अधिक विवाद नहीं है, विवाद है उनके तारतम्य, महत्त्व और प्रभाव के विषय में। इस विषय में आचार्यों के तीन वर्ग हैं-

(क) प्रथम वर्ग में वे आचार्य आते हैं, जो मात्र प्रतिभा को ही हेतु मानते हैं, शेष अभ्यास और व्युत्पत्ति को प्रतिभा का ही संस्कारक स्वीकारते हैं। इन्हें प्रतिभावादी आचार्य कहा जा सकता है। इस वर्ग में राजशेखर, बाग्भट्ट, हेमचन्द्र तथा जगन्नाथ का नाम उल्लेखनीय है। ये सभी आचार्य प्रतिभा को काव्य-हेतु तथा व्युत्पत्ति एवं अभ्यास को प्रतिभा का उपकारक, संस्कारक, विभूषक या उन्मीलक मानते हैं। बाग्भट का कथन है-

"प्रतिभैव च कवीनां काव्य-कारणकारणम्।
व्युत्पत्त्यभ्यासौ तस्या एव संस्कार कारकौ।।"

इसी प्रकार हेमचन्द्र का मत है-

"प्रतिभास्य हेतुः। व्युत्पत्त्यभ्यासाभ्यां संस्कार्या।"

(ख) द्वितीय वर्ग में वे आचार्य आते हैं, जो प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों को सम्मिलित कारण मानते हैं। इन्हें समन्वयवादी आचार्य कहा जा सकता है। रुद्रट और मम्मट इसी वर्ग के आचार्य हैं। मम्मट का मत है कि शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास। ये तीनों समष्टि रूप से, काव्य के उद्‌भव निर्माण और विकास में कारण हैं, अलग-अलग तीन हेतु नहीं हैं।

(ग) त तीय वर्ग में वे आचार्य आते हैं, जो काव्य-हेतु में महत्त्वपूर्ण स्थान तो प्रतिभा को देते हैं। किन्तु उसके अभाव में भी काव्य प्रणयन की बात कहते हैं। जबकि प्रथम दोनों वर्गों के आचार्य इसे असम्भव मानते हैं। इस वर्ग में दण्डी का नाम आता है। उनका मत है कि यदि प्राक्तन संस्कारों से उत्पन्न प्रतिभा न भी हो तो भी अध्ययन और अभ्यास के द्वारा सरस्वती की कृपा सेवकों पर अवश्य होती है। तात्पर्य यह है कि वे प्रतिभा की अपरिहार्यता को स्वीकार नहीं करते। उसके अभाव में उत्कृष्ट न बन सके, किन्तु मध्यम श्रेणी का काव्य अवश्य बन जाएगा- ऐसी दण्डी की धारणा है।

काव्य-हेतुओं के निर्धारण के उपरान्त उनके स्वरूप पर द ष्टिपात कर लेना भी अप्रासंगिक न होगा। मान्य काव्य-हेतु निम्नलिखित है-

प्रतिभाः काव्य-हेतुओं में प्रतिभा का स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इस विषय में प्रायः सभी आचार्य एकमत हैं कि प्रतिभा ही कवित्व का बीज है। जिस प्रकार बीज के अभाव में व क्ष की कल्पना नहीं की जा सकती, उसी प्रकार प्रतिभारहित व्यक्ति काव्य-प्रणयन नहीं कर सकता। यदि वह काव्य-प्रणयन में प्रव त्त होता है, तो उसकी कृति उपहास योग्य ही होता है। आचार्य जयदेव ने प्रतिभा का महत्त्व प्रदर्शित करते हुए कहा है कि प्रतिभारूपी बीज अकुंरित करने के लिए व्युत्पत्ति और अभ्यास, मिट्टी और जल के समान हैं-

प्रतिभैव श्रुताभ्याससहिता कवितां प्रति।
हेतुर्म दम्बुसम्बद्धा बीजमालालतामिव।।

इससे स्पष्ट होता है कि काव्य-हेतुओं में प्रतिभा ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। दण्डी ही एकमात्र ऐसे आचार्य है, जिन्होंने प्रतिभा के अभाव में व्युत्पत्ति और अभ्यास से मध्यम श्रेणी के काव्य का प्रणयन सम्भव माना है। उनके मत को किसी भी आचार्य का समर्थन प्राप्त नहीं हुआ। इससे उसकी

महत्त्वहीनता स्वतः प्रकट है। इसके विपरीत प्रायः सभी आचार्यों ने एक स्वर से प्रतिभा को काव्य का कारण माना है—"प्रतिभैव च कवीनां काव्यकारणकारणम्।

'प्रतिभा के स्वरूप के विषय में भट्टलोल्लट का मत है—प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभामता' अर्थात् नए-नए भावों और विचारों के उन्मेष से युक्त प्रज्ञा को प्रतिभा कहते हैं। राजशेखर ने कहा है कि प्रतिभा कवि-हृदय में शब्दार्थ-समुदाय, अलंकार, सुन्दर-उक्तियों, सुरम्य कल्पनाओं तथा अन्यान्य काव्य-सामग्री को प्रतिभासित करती है। प्रतिभाविहीन व्यक्ति को अनेक पदार्थ प्रत्यक्ष दिखते हुए भी अप्रत्यक्षवत् लगते हैं, जबकि प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति को अनेक अप्रत्यक्ष पदार्थ भी प्रत्यक्षवत् प्रतीत होते हैं। तात्पर्य यह है कि प्रतिभा वह तत्त्व है, जो कवि के हृदय में नूतन शब्दार्थ समूह, अलंकार-योजना, उक्ति वैचित्र्य तथा कल्पना-वैभव आदि को जाग त करती है, कवि-हृदय को नूतन वस्तुओं का दर्शन कराती है। जिस प्रकार दर्पण में सम्मुखस्थ वस्तु प्रतिफलित होती है, उसी प्रकार प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति के हृदय में न केवल स्थूल पदार्थ, बल्कि उनका अन्तरंग जगत् भी प्रतिबिम्बित होने लगते हैं। इस सम्पूर्ण वैशिष्ट्य के अभाव में काव्य का प्रणयन असम्भव है। यही कारण है कि प्रतिभारहित व्यक्ति से काव्य-प्रणयन की आशा नहीं की जा सकती।

प्रतिभा तीन प्रकार की होती है—सहजा, आहार्या और औपदेशिकी। पूर्व जन्म के संस्कारों से प्राप्त प्रतिभा सहजा कहलाती है। शास्त्राध्ययन और काव्याभ्यास से प्रतिभा का विकास, उसे आहार्या कहते हैं। तन्त्र, मन्त्र, देवता, गुरु आदि के आशीर्वाद से प्राप्त प्रतिभा औपदेशिकी कहलाती है। सहजा प्राक्तन संस्कारों से सम्बद्ध होने से, अल्प संस्कार से ही उद्‌बुद्ध हो जाती है। जबकि शेष दोनो के लिए अथक परिश्रम करना पड़ता है। राजशेखर ने कवि और सहृदय के आधार पर प्रतिभा के दो भेद किए हैं—कारयित्री और भावयित्री। कारयित्री प्रतिभा कवि की उपकारक होती है। वह कवि के हृदय में नूतन शब्दार्थ समूह, मनोहर कल्पना, उक्ति वैचित्र्य आदि को प्रतिभासित करती है। भावयित्री प्रतिभा सह्रय का उपकार करती है। यह प्रतिभा कवि के श्रम तथा अभिप्राय को स्पष्ट करती है। यही प्रतिभा कवि की कवितारूपी लता को सफल बनाती है इसके अभाव में कविता का वास्तविक मूल्यांकन नहीं हो पाता। यही उसकी उपादेयता को सिद्ध करती है।

कुछ आचार्यों ने प्रतिभा के स्थान पर शक्ति नाम दिया है। आचार्य रुद्रट ने शक्ति के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जिस व्यक्ति में शक्ति होती है उसके समाहित चित्त में अर्थ का सदैव अनेक प्रकार से भान होता रहता है तथा क्लिष्टत्व आदि दोषों से शून्य पद उसे सदैव सूझते रहते हैं। इससे स्पष्ट है कि प्रतिभा और शक्ति एक दूसरे के भिन्न नहीं हैं। रूद्रट ने स्वयं भी स्पष्ट कर दिया है कि इस शक्ति को ही अन्य अलंकारिकों ने प्रतिभा नाम दिया है। राजशेखर ने दोनों में अन्तर माना है। उनका मत है कि शक्ति कर्त रूप है और प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति कर्मरूप। शक्ति-सम्पन्न में ही प्रतिभा उत्पन्न होती है और वह ही व्युत्पन्न होता है। तात्पर्य यह है कि दोनों में बहुत अन्तर नहीं है। उक्त अन्तर अत्यन्त सूक्ष्म तथा सैद्धान्तिक है, व्यावहारिक धरातल पर शक्ति और प्रतिभा दोनों एक ही है।

व्युत्पत्तिः व्युत्पत्ति या निपुणता का सम्बन्ध ज्ञान से है। यह ज्ञान दो प्रकार का होता है-शास्त्रीय और लौकिक। शास्त्रीय ज्ञान अध्ययनजन्य होता है। इसके लिए भारतीय आचार्यों ने काव्यशास्त्र, छन्दशास्त्र, दर्शन, व्याकरण, ज्योतिष, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, शब्दकोष आदि का अध्ययन कवि के लिए आवश्यक माना है। इनका सम्यक् ज्ञान होने पर कवि अनेक दोषों से बच जाता है। लौकिक ज्ञान के अन्तर्गत लोक-व्यवहार का सूक्ष्म निरीक्षण-परीक्षण आता है। कवि का शास्त्रीय ज्ञान तभी सफल होता है, जब उसे लोक-व्यवहार का अच्छा ज्ञान हो। लोक-निरपेक्ष शास्त्रीय ज्ञान अपूर्ण ही नहीं, भयंकर भी होता है। कवि का अनुभवजन्य ज्ञान अत्यन्त विस्त त होना

चाहिए। उसे मानव स्वभाव से नही, मानवोत्तर स्वभाव का भी अच्छा ज्ञान आवश्यक है। लोक और शास्त्र दोनों की ही परिधि इतनी विशाल है कि उनकी अधिकतम सीमा निर्धारित करना कठिन है, तथापि यह ज्ञान जितना विस्त त एवं सूक्ष्म होगा, काव्य-क ति उतनी ही महान होगी।

लोक एवं शास्त्र के अतिरिक्त कवि को विभिन्न काव्य-परम्पराओं का भी अच्छा ज्ञान होना आवश्यक है। इससे कवि विभिन्न काव्य-क तियों के जीवन्त तत्त्वों का सम्यक् अध्ययनकर, उनका अपनी रचनाओं में समावेश कर सकता है। साथ ही पुरातन विषयों, सूक्तियों, भावों तथा वस्तु-वर्णनों से उसे अनेक नूतन दिशायें प्राप्त होती हैं।

भारतीय काव्यशास्त्र के अधिसंख्य आचार्यों ने व्युत्पत्ति का ही संस्कारक या उन्मूलक माना है। काव्य-क ति में महानता व्युत्पत्ति या लोकशास्त्र की निपुणता के अभाव में नहीं आ सकती। अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों को रमणीय और हृदयावर्णक बनाने के लिए व्युत्पत्ति या निपुणता आवश्यक है।

अभ्यासः निरन्तर काव्य रचना का प्रयास करते रहना भी अभ्यास है। काव्य में सौष्ठव लाने के लिए अभ्यास आवश्यक वस्तु है। इसके अभाव में अनेक प्रतिभाएँ कुण्ठित होकर नष्ट हो जाती है। काव्यः मर्मज्ञों से शिक्षा प्राप्तकर, उनके निर्देशन में काव्याभ्यास भी काव्य का हेतु है। जो व्यक्ति काव्य-प्रणयन में प्रव त्त हो अथवा नित्य-निरूतर उसका अनुशीलन करते रहते हों, ऐसे मर्मज्ञ व्यक्ति प्रोढ़ता-प्राप्ति में बहुत सहायक होते हैं। अभ्यास से काव्य-रचना में परिष्कार आता है। और वह नित्य-निरन्तर परिष्क त एवं परिमार्जित होती जाती है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों की समष्टि ही काव्य-रचना का हेतु है। तीनों प थक्-प थक् नहीं बल्कि मिलकर ही काव्य-हेतु बनते हैं। समाधि न केवल काव्य-रचना, बल्कि प्रत्येक रचनात्मक कार्य के लिए आवश्यक है। अतः उसे काव्य-हेतु के अन्तर्गत स्थान देना उचित नहीं है।

काव्य-प्रयोजन

मानव के अनेक कर्म में प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से कुछ-न-कुछ प्रयोजन निहित रहता है। प्रयोजन से तात्पर्य उन उपलब्धियों से है, जो किसी कार्य से प्राप्त होती है। जब मानव का प्रत्येक कार्य ही इन प्रयोजनों से परिचालित रहता है तो काव्य भी इनसे परे कैसे हो सकता है? काव्य-प्रणयन में कवि के जो उद्देश्य रहते हैं, वे ही काव्य-प्रयोजन कहलाते हैं। संस्क त काव्यशास्त्र में इन प्रयोजनों का प्रायः सभी आचार्यों ने उल्लेख किया है।

संस्क त विचारक

'नाट्यशास्त्र' के प्रणेता भरत मुनि ने नाटक के प्रयोजनों को इस प्रकार निरूपित किया है—

"दुःखार्तानां क्षमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विक्षान्तिजननं कवि नाट्यमेतद् भविष्यति।।
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्द्धनम्।
लोकोपदेशननं नाट्यमेतद् भविष्यति।।"

इस प्रकार भरत ने द श्य-काव्य को दुःख, शोक तथा थकान से पीड़ित मानव को शान्ति देनेवाला, लोकोपदेशक, धर्म, यश एवं आयुष्य प्रदान करनेवाला तथा मानवों की बुद्धि को तीव्र करनेवाला माना है। परवर्ती आचार्यों ने इसी आधार पर काव्य-प्रयोजनों का निरूपण किया है— भामह की काव्य-प्रयोजन सम्बन्धी कारिका इस प्रकार है—

"धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासुच।
करोति कीर्तिप्रीतिं च साधु काव्यनिबन्धनम्।।"

उत्तम काव्य-क ति पुरुषार्थ-चतुष्टय तथा समस्त कलाओं में निपुणता, कीर्ति एवं आनन्द उत्पन्न करनेवाली होती है। भामह की इस कारिका को परवर्ती आचार्यों ने अत्यधिक सम्मान दिया है। पुरुषार्थ-चतुष्टय, कीर्ति एवं आनन्द को प्रायः प्रत्येक आचार्य ने किसी-न-किसी रूप में स्वीकारा है।

आचार्य वामन ने काव्य-प्रयोजनों का उल्लेख अत्यधिक संक्षेप में किया है। उनका सूत्र इस प्रकार है—

"काव्यसद ष्टाद ष्टार्थ प्रीतिकीर्ति हेतुत्वात्।"

उन्होंने काव्य के दो प्रयोजन माने हैं—आनन्द और कीर्ति। इनमें आनन्द को काव्य का द ष्ट तथा कीर्ति को अद ष्ट प्रयोजन माना गया है। इनमें प्रथम सहृदय की द ष्टि से तथा द्वितीय प्रणेता की द ष्टि से रखा गया है।

काव्य-प्रणयन के उपरान्त प्रणेता भी सहृदय हो सकता है। काव्य-प्रयोजनों को अधिक स्पष्ट करते हुए राजानक कुन्तक ने लिखा है—

"धर्मादि साधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः।
काव्यबन्धो भिजातानां हृदयाह्लादकारकः।।"
व्यवहार परिस्पन्दसौन्दर्य व्यवहारिभिः।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनमौचित्यमाप्यते।।
चतुर्वर्गफलास्वादभव्यतिक्रम्य तद्विवाम।
काव्याम तरसेनान्तरश्चमत्कारो वितन्यते।।"

काव्य-क ति कुलीन लोगों के पुरुषार्थ-चतुष्टय की प्राप्ति का सरल मार्ग, सम्पूर्ण मानवों के व्यवहार का रम्य साधन तथा आनन्दानुभूति रूप चमत्कार उत्पन्न करनेवाली होती है।

परम्परा-प्राप्त काव्य प्रयोजनों का परिष्कार एवं परिमार्जन करके आचार्य मम्मट ने उनका निरूपण इस प्रकार किया है—

काव्यं यशसे र्थक ते व्यवहारविदे शिवेतरज्ञातये।
सद्यः परनिर्व तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।।

आचार्य मम्मट ने काव्य के छः प्रयोजन माने हैं - यश प्राप्ति, अर्थ प्राप्ति, व्यवहार-परिज्ञान, अनिष्ट-निवारण, अलौकिक आनन्दानुभूति तथा कान्तासम्मित उपदेश। इनमें यश प्राप्ति, अर्थ प्राप्ति, एवं अनिष्ट-निवारण का सम्बन्ध मुख्यतः कवि से है, जबकि शेष का सम्बन्ध मुख्यतः सहृदय से। राजानक कुन्तक के समान मम्मट ने भी आनन्दानुभूति को ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना है। मम्मट द्वारा उल्लिखित प्रयोजनों के स्वरूप पर संक्षिप्त विचार कर लेना चाहिए—

(क) यश प्राप्ति— यश की प्राप्ति मानवमात्र की सहज आकांक्षा है। महान्-से-महान् व्यक्ति भी यश की कामना करता है। अंग्रेजी की उक्ति है कि यश महापुरुषों की भी अंतिम दुर्बलता है—"Fame is the last infirmity of noble minds." जब यह महापुरुषों की भी दुर्बलता है तो साहित्यकार भी यश की कामना से कैसे विमुख हो सकता है? संसार के प्रसिद्ध साहित्यकार कालिदास, भवभूति, शेक्सपीयर आदि ने यश की कामना से ही काव्य-प्रणयन किया है। सूफी कवि जायसी मे 'पद्मावत' में इसी प्रकार के प्रयोजन का उल्लेख किया है—

**ओ मैं जानि कवित अस कीन्हा।
मकु यह रहें जगत् में चीन्हा।
केहि न जगत जस बेंचा, केहि न लीन्ह जस मोल।
जो यह पढ़े कहानी, मुहिं सुमिरे दुई बोल।।**

(ख) अर्थप्राप्ति— संसार-सागर में अपनी जीवन-नौका सरलता से खेने के लिए मानव को धनरूपी पतवार की आवश्यकता होती है। यही कारण है कि प्रत्येक मानव अपने उपलब्ध साधनों का अर्थ-प्राप्ति के लिए उपयोग करता है। रविन्द्रनाथ टैगोर सद श धनी अथवा तुलसी जैसे विरक्त कवि ही इसके अपवाद हो सकते हैं। अर्थप्राप्ति के लिए प्राचीन काल से ही काव्य को माध्यम बनाया जाता रहा है। कहते हैं कि कवि धावक ने 'रत्नावली' नाटिका रचना पर महाराज हर्षवर्द्धन से विपुल धन प्राप्त किया था। रीतिकालीन कवि धन के लिए राजाश्रय की खोज किया करते थे। पाश्चात्य साहित्यकार वाल्टर स्कॉट ने ऋण से मुक्ति पाने के लिए उपन्यास लिखे थे। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सभी कवि धन से प्रेरित या संचालित होते हैं। आश्रयदाताओं को नायक बनाकर चरित-काव्य लिखनेवाले कवियों के लिए तुलसी की फटकार दर्शनीय है-

**"कीन्हें प्राकृत जन गुण गाना।
सिर धुनि गिरा लागि पछताना।।"**

उन्होंने स्वयं 'रामचरितमानस' का प्रणयन स्वान्तः सुखाय किया है, वह बहुजनहिताय है, परान्तसुखाय नहीं-

**"नाना पुराण निगमागमसम्मतं यद्
रामायणे निगदितं ववचिदन्यो पि।
स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा-
भाषा निबन्धमतियांजुलमातनोति।।"**

(ग) व्यवहार-परिज्ञान—काव्य के द्वारा लोक व्यवहार की शिक्षा भी दी जाती है। विश्व में अनेक ऐसे काव्य उपलब्ध हैं, उनकी रचना उन साहित्यकारों ने पुत्र, शिष्यादि को शिक्षा देने के प्रयोजन से की है। हितोपदेश के कथामुख से स्पष्ट है कि उसकी रचना विष्णु शर्मा ने, राजा के अनुरोध पर, उसके मूर्ख पुत्रों को शिक्षा देने के निमित्त की है। उन मूर्खों के मनोरंजन के लिए कुत्ते, बिल्ली, खरगोश, ऊंट, गधे आदि के कथाव त लिए गए हैं। और उन्हे नीति निपुण बनाने के लिए बीच-बीच में नीति श्लोक रख दिए हैं। भक्त कवि सूरदास ने नन्ददास के लिए नायक-नायिका भेद पर आधारित 'साहित्यलहरी' की रचना की है।

काव्य के अध्ययन से सामान्य पाठक को भी लोक-व्यवहार का ज्ञान होता है। देश-विदेश के रहन-सहन, खान-पान, आचार-व्यवहार का पाठक को सरलता से ज्ञान हो जाता है। वह जीवन की विभिन्न परिस्थितियों को समझने में सक्षम हो जाता है।

(घ) अनिष्ट-निवारण—काव्य अनिष्ट निवारण का भी मुख्य साधन है। संस्क त साहित्य में मयूर कवि का उदाहरण प्रसिद्ध है। उन्होंने बहिन के शाप से कुष्ट रोग से ग्रस्त होने पर 'सूर्यशतक' की रचना पर, रोग से मुक्ति पाई। कथा संक्षेप में इस प्रकार है—मयूर कवि अपने भगिनिपति बाणभट्ट के अच्छे मित्र थे। दोनो अपनी नूतन रचनाएँ एक-दूसरे को सुनाया करते थे। एक दिन बाण की पत्नी बाणभट्ट से अत्यन्त अप्रसन्न हो गई। बाणभट्ट रात्रि भर मान-मोचन का प्रयास करते रहे, किन्तु सफल नहीं हो पाए। वे अपनी पत्नी से कह रहे थे—

"गतप्रायाः रात्रिः क शतनुशशी शीर्यतरव,
प्रदीपो यं निद्रावशमुपगतौ घूर्णित इव।।
प्रणामान्तो मानस्त्यजासि न तथापि कुद्धमहो,"

श्लोक का अंतिम चरण नहीं बन रहा था। अतः बाण तीन चरणों को बार-बार दोहरा रहे थे। इसी समय मयूर भट्ट उधर से आ निकले और तीन-चरण सुनकर चतुर्थ चरण भी पूर्ण कर दिया—

"कुचप्रत्यासया ह्रदयमपि ते चण्डि कठिनम्।।"

बाणभट्ट की पत्नी ने क्रोध के आवेश में कुष्ठ रोग से ग्रस्त हो जाने का शाप दे दिया। पण्डित राज जगन्नाथ ने यवनकन्या लवंगी से विवाह के प्रायश्चित्त स्वरूप 'गंगालहरी' की रचना की। बाहूशूलनिवारणार्थ गोस्वामी तुलसीदास ने 'हनुमान बाहुक' की रचना की।

आज लोकोत्तर शक्तियों से मानव का विश्वास हटता जा रहा है। अतः ऐसे काव्यों का प्रणयन होने लगा, जो मानवीय शक्तियों को सम्बोधितकर या मानवीय विवेक को जाग तकर, उसे लोकहित के मार्ग पर लाने के लिए क तसंकल्प है। आज अनिष्ट-निवारण में न केवल अपना, बल्कि सम्पूर्ण देश और सम्पूर्ण मानव जाति का हित चिन्तन किया जाता है। 'कुरुक्षेत्र' में दिनकर जी ने मानव को युद्ध की विभीषिका से बचकर शान्ति के मार्ग पर चलने का संदेश दिया है। भारती जी ने आणविक आयुधों का परिणाम दिखाते हुए मानव को शान्ति का संदेश दिया है—

यदि यह लक्ष्य सिद्ध हुआ ओ नरपशु।
तो आगे आनेवाली सदियो तक।
प थ्वी पर रसमय वनस्पति नहीं होगी।
शिशु पैदा होंगे विकलांग और कुण्ठाग्रस्त।
सारी मनुष्य-जाति बौनी हो जाएगी।
जो कुछ भी ज्ञान संचित किया है मनुष्य ने।
सतयुग में, त्रेता में, द्वापर में,
सदा-सदा के लिए होगा विलीन वह
गेहूँ की बालों में सर्प फुफकारेंगे,
नदियों में बह-बहकर आएगी पिछली आग।

(ड.) अलौकिक आनन्दानुभूति— काव्य का परम लक्ष्य लोकोत्तर आनन्द की प्राप्ति ही माना गया है। आचार्य मम्मट ने इसे सम्पूर्ण प्रयोजनों में प्रमुख तथा राजानक कुन्तक ने पुरुषार्थ-चतुष्टय से भी बढ़कर माना है। इसी लोकोत्तर आनन्द के कारण 'काव्य शास्त्रं विनोदेन कालो गच्छति धीमताम्' उक्ति सत्य सिद्ध होती है। यह आनन्द कवि और पाठक को समान रूप से प्राप्त होता है। क्योंकि काव्य-प्रणयन के उपरान्त कवि भी सहृदय की ही श्रेणी में आ जाता है। इसी कारण सरस्वती को ब्रह्मा की पुत्री तथा पत्नी दोनों माना जाता है। तात्पर्य यही है कि कवि भी रचना का आस्वादन करता है। काव्यास्वाद की महानता को प्रकट करने के लिए आचार्यों ने इसे 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' कहा है।

(च) कान्तासम्मित उपदेश— शास्त्रों में उपदेश-शैली तीन प्रकर की बताई गई है। प्रथम, प्रभुसम्मित— इसमें शब्द की प्रधानता होती है अर्थात् इनका शब्दशः पालन किया जाता है वेद, राजाज्ञाएँ तथा राजकीय विधान शब्द-प्रधान होने से प्रभुसम्मित उपदेश के अन्तर्गत आते हैं। द्वितीय, सुहृद्सम्मित-इसमें प्रधानता शब्द की न होकर अभिप्राय की होती है। एक मित्र आत्मीय व्यक्ति को नाना प्रकार से समझाते हुए इष्ट कार्य में लगाता है। वहाँ प्रधानता शब्दों की न होकर अभिप्राय की होती है तथा उसी का पालन धर्म होता है। त तीय, कान्तासम्मित-इसमें प्रधानता शब्दार्थ की

न होकर, रस की होती है। सत्पत्नी अपने पति को अनर्थ से बचाने के लिए अपने हृदय की समस्त मधुरिमा उड़ेलकर अपने व्याख्यान को रस शक्ति बनाती है, जिससे मानव हृदय उस ओर सहज ही प्रव त्त हो जाता है। शर्करावेष्टित कटुभेषज के समान काव्य भी 'राम' के समान व्यवहार करना चाहिए, रावण के समान नहीं'— इस उपदेश-वाक्य को अपनी रस प्रधानता के कारण अत्यन्त मधुरता से व्यक्त करता है। इस कान्तासम्मित उपदेश का प्रभाव केवल एक उदाहरण से देखा जा सकता है कि बिहारी के निम्न दोहे से मिर्जा राजा जयसिंह अपनी नवोढ़ा अंकशायिनी को छोड़कर महल से बाहर आ गए थे—

नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहि विकास इहिं काल।
अली, कली ही सों बिध्यौ, आगे कौन हवाल।।

मम्मट के परवर्ती काव्य शास्त्रीय चिन्तन में इन्हीं पूर्ववर्ती काव्य-प्रयोजनों का पिष्टपेषण मिलता है। वस्तुतः मम्मट का काव्य-प्रयोजन एक समन्वित प्रयास है जिसमें प्रायः सभी जीवन्त बातें आ गई हैं।

हिन्दी का चिन्तन—हिन्दी के काव्य-प्रयोजन पर बहुत अधिक लिखा गया है। भक्तिकाल तथा काव्य में ऐसी सूक्तियाँ उपलब्ध होती है, जिनसे कवि के प्रयोजन-विषयक द ष्टिकोण का अनुमान लगाया जा सकता है। लेकिन रीति काल से काव्य-शास्त्रीय चिन्तन के भाष्यबद्ध करने की परम्परा का प्रारम्भ होता है। रीतिकाल के प्रायः प्रत्येक आचार्य ने अपना लक्षण-ग्रन्थ के प्रारम्भ में काव्य-प्रयोजन पर भी प्रकाश डाला है। लेकिन यह सम्पूर्ण विवेचन संस्क त का पिष्टपेषण मात्र था। उदाहरणार्थ, रीतिकाल के अन्तिम प्रसिद्ध आचार्य भिखारीदास ने अनेक काव्य-प्रयोजन स्वीकार किए हैं। उनकी मान्यता इस प्रकार है—

एक लहै तपपुंजानि के फल ज्यों तुलसी अरु सूर गौंसाई।
एक लहै बहु सम्पत्ति केसव भूषण ज्यों बरवीर बड़ाई।।
एकनि की जस ही सों प्रयोजन है रसखानि रहीम की नांई।
दास कवितानि की चरथा बुद्धिवन्तनि को सुखदे सब ठाँई।।

उक्त छन्द से स्पष्ट हो जाता है कि यह संस्क त-ग्रन्थों का पिष्टपेषण मात्र ही है, मौलिकता का नितान्त अभाव है। हिन्दी काव्यशास्त्र विषयक मौलिक चर्चा आधुनिक काल से ही प्रारम्भ होती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस पर बड़े विस्तार से विचार किया है। वे काव्य को मनोरंजन का साधन मानने का प्रबल विरोध करते हुए, उसका लक्ष्य जगत् के मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण करके उसके साथ मानव-हृदय का सामंजस्य स्थापन मानते हैं। उनका अभिप्राय है—

"काव्य का लक्ष्य है जगत् और जीवन के मार्मिक पक्षों को गोचररूप में लाकर सामने रखना, जिससे मनुष्य अपने व्यक्तिगत संकुचित घेरे से अपने हृदय को निकालकर, उसे विश्वव्यापिनी और त्रिकालदर्शिनी अनुभूति में लीन करे। इसी लक्ष्य के भीतर जीवन के ऊँचे-से-ऊँचे लक्ष्य आ जाते हैं। इसी लक्ष्य के साधन से मनुष्य का हृदय जब विश्व-हृदय भगवान के लोकरक्षक तथा लोक रंजक रूप से जा मिलता है, तब वह भक्ति में लीन हो जाता है।"

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का नाम हिन्दी के मूर्धन्य विद्वानों में है। वे मानव को साहित्य का लक्ष्य तथा साहित्य को लोकमंगल का विधायक मानते हैं।

"मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है, शीर्षक लेख में उन्होंने स्पष्ट किया है—

"मैं साहित्य को मनुष्य की द ष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ। जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता, परमुखापेक्षिता से न बचा सके, जो उसकी आत्मा को तेजोदीप्त न बना सके, जो उसे पर दुःखकातर और संवेदनशील न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है।"

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी काव्य का प्रयोजन मनोरंजन या भीषण जगत् से पलायन नहीं मानते, बल्कि आत्मानुभूति मानते हैं। आत्मानुभूति के स्वतन्त्र एवं पूर्ण होने के कारण इसे किसी वाद से जोड़ने की आवश्यकता भी उन्हें नहीं प्रतीत होती। उनका वक्तव्य है—

"काव्यानुभूति स्वतः एक अखण्ड आत्मिक व्यापार है, जिसे किसी दार्शनिक, राजनीतिक, सामाजिक या साहित्यिक खण्ड व्यापार या वाद से जोड़ने की आवश्यकता नहीं।

काव्य का प्रयोजन मनोरंजन अथवा सामाजिक वैषम्य से दूर भागना अथवा पलायन भी नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसी अवस्था में आत्मानुभूति के प्रकाशन का पूरा अवसर रचयिता को नहीं मिल सकेगा। उसकी रचना अधूरी अथवा अपंग रहेगी।"

उपन्यासकार मुन्शी प्रेमचन्द ने काव्य-प्रयोजन के रूप में मनोरंजन का उपहास करते हुए, उसका लक्ष्य मानव-विवेक को जाग त करना तथा उसकी आत्मा को तेजोद्दीप्त बनाना स्वीकार किया है। 'कुछ विचार' में वे एक स्थल पर लिखते हैं—

"साहित्य का उद्देश्य हमारा मनोरंजन करना नहीं है। यह काम तो भाटो, मदारियों, विदूषकों और मसखरों का है। साहित्यकार का पद इनसे बहुत ऊँचा है। वह हमारे विवेक को जाग त करता है, हमारी आत्मा को तेजोद्दीप्त बनाता है।" डॉक्टर नगेन्द्र आत्माभिव्यक्ति को ही काव्य का प्रमुख प्रयोजन मानने के पक्षधर हैं। विचार और विवेचन में वे कहते हैं—

"आत्माभिव्यक्ति वह मूलतत्त्व है, जिसके कारण कोई व्यक्ति साहित्यकार और उजली क ति साहित्य बन जाती है।"

निष्कर्ष—भारतीय द ष्टि प्रारम्भ से ही जीवन में आध्यात्मिकता और भौतिकता का समन्वय देखती रही है। पुरातन ऋषियों ने मानव-मात्र के लिए जो चार पुरुषार्थ निश्चित किए हैं, उनमें भी धर्म और मोक्ष आध्यात्मिकता तथा अर्थ और काम भौतिकता की ओर संकेत करते हैं। ऐसे धर्म प्रधान वातावरण में लालित-पालित संस्क त के आचार्य, यदि काव्य को धर्मादि का साधन भी माने तो नितान्त स्वाभाविक ही है। किन्तु धीरे-धीरे न केवल काव्य, बल्कि समाज से भी आध्यात्मिकता या अतिशय धार्मिकता का यह प्रबल आच्छादन हटने लगा और नानाविध देवताओं तथा अवतारों में ईश्वरत्व के दर्शन करनेवाली भारतीय द ष्टि अध्यात्म से उतरकर लोकोन्मुखी हो गई। धर्म का स्थान नैतिकता ने ले लिया और दीन-दुखी व्यक्तियों की सेवा एवं सहायता में ही व्यक्ति हर्षोल्लास का अनुभव करने लगा। जीवन-द ष्टि के इस परिवर्तन के साथ काव्य के प्रयोजनों में भी परिवर्तन आना स्वाभाविक था, क्योंकि वह जीवन-द ष्टि ही है जो कहीं प्रकाश देती, कहीं भारी मशीन खींचती, कहीं पंखा चलाती, विद्युत धारा के समान, अन्तर्निहित होकर भी समाज के प्रत्येक कार्य में प्रकट होती है। जीवन दर्शन में परिवर्तन के साथ, मोक्षादि अध्यात्मप्रधान काव्य-प्रयोजन भी बहिष्क त कर दिए गए। सहृदय की द ष्टि से, उदात्त काव्य के दो ही प्रमुख प्रयोजन माने जा सकते हैं—लोकोत्तर आनन्द की प्राप्ति और चेतना का परिष्कारकर जीवन-मूल्यों की स्थापना। सम्पूर्ण संस्क त-काव्य शास्त्र में लोकोत्तर आनन्द को ही काव्य का प्रमुख प्रयोजन माना है। काव्य मानव को निज और पर की चेतना से मुक्त शुद्ध रागात्मक धरातल पर प्रतिष्ठित कर देता है। इसका परिणाम यह होता है कि मानव कुछ समय के लिए संघर्षमय जीवन से मुक्ति पाकर आनन्द-लोक की सैर कर आता है। आनन्द लोक की सैर ही शराबी मदिरापान से करना चाहता है और योगी समाधि द्वारा, किन्तु दुष्कर होने से प्रत्येक व्यक्ति योग द्वारा समाधि नहीं लगा सकता और न मदिरापान से अधः-पतन के बिना ही ले जाना चाहता है, अतः वह वरेण्य है। यह आनन्दोपलब्धि काव्य का प्रमुख प्रयोजन है। काव्य का द्वितीय प्रयोजन है-चेतना के परिष्कार द्वारा जीवन-मूल्यों की स्थापना। काव्य चेतना का परिष्कार लोकमंगल का विधायक होता है। वह जीवन

में नैतिकता का समावेश करता है किन्तु काव्य का यह उपदेश, उपदेशक या नीति वक्ता के उपदेश से भिन्न होता है। नीतिकार किसी मत को प्रत्यक्ष कहता है, जबकि कवि कल्पना के आधार पर निर्मित कथा से पाठक को रससिक्त करके उसके अन्तःकरण में अव्यक्तरूप से उपदेश का समावेश कर देता है। उक्त दोनों प्रयोजन सहृदय की द ष्टि से रखे गए हैं। काव्य-प्रणयन के उपरान्त कवि भी सहृदय कोटि में आ जाता है, अतः उसे भी आनन्दोपलब्धि हो सकती है। कवि की द ष्टि से उदात्त कवि का प्रयोजन कीर्ति ही माना जा सकता है।

कीर्ति एक ऐसा तत्त्व है, जिसकी अभिलाषा जीवन्मुक्त आत्माओं को छोड़कर प्रत्येक सामाजिक की होती है। कवि भी इसका अपवाद नहीं है। अतः अक्षय कीर्ति प्राप्त करने के उद्देश्य से कविगण रससिद्ध काव्यों की रचना में प्रव त्त होते है। भर्त हरि का निम्न श्लोक प्रसिद्ध है—

जयन्ति ते सुक तिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशः काये जरामरणं भयम्।।

यह कीर्ति आनन्दोपलब्धि पर निर्भर होने से परोक्ष ही कही जाएगी। यों व्यवहार-ज्ञान, पुरुषार्थ-चतुष्ट्य आदि भी प्रयोजन स्वीकार किए गए हैं, किन्तु एक तो वे गौण ही माने जा सकते हैं, प्रमुख नहीं, दूसरे, वे मध्यम श्रेणी के काव्य के ही प्रयोजन हो सकते हैं, उदात्त के नहीं। संक्षेप में, सहृदय की द ष्टि से लोकोत्तर आनन्द की प्राप्ति एवं चेतना का परिष्कार कर नैतिक मूल्यों की स्थापना तथा कवि की द ष्टि से अक्षय कीर्ति—ये तीनों ही उदात्त काव्य के प्रयोजन माने जा सकते हैं, अन्य नहीं।

काव्य के प्रकार

I. महाकाव्य

यह काव्य की सर्वश्रेष्ठ और महत्त्वपूर्ण विधा है। इसमें किसी प्रसिद्ध व त्त के आधार पर किसी जाति या समाज की सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक परम्पराओं का सफल नियोजन किया जाता है। इसी कारण भारतीय और पाश्चात्य आचार्यों एवं विचारकों ने आरम्भ से ही इसका विस्त त विवेचन किया है। वस्तुतः महाकाव्य अपने युग का ही प्रतिनिधित्व नहीं करता अपितु, वह अतीत का गायक, वर्तमान का चित्रकार और भविष्य का द्रष्टा होता है।

महाकाव्य को परिभाषा में बाँधना अत्यन्त कठिन है। क्योंकि विभिन्न युगों में उसके स्वरूप में परिवर्तन होता रहा है। इसी से विभिन्न युगों के आचार्यों ने इसके भिन्न-भिन्न मानदण्ड स्थिर करने के प्रयास किए हैं।

महाकाव्य सम्बन्धी भारतीय मान्यताएँ—संस्कृत साहित्य शास्त्र में महाकाव्य की विशद विवेचना और मीमांसा की गई है इन आचार्यों में भामह, दण्डी, रुद्रट, अग्नि पुराणकार और आचार्य विश्वनाथ प्रमुख हैं। आचार्य भामह ने सर्वप्रथम अपने काव्यालंकार में महाकाव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है—

आचार्य भामह के अनुसार—"महाकाव्य सर्गबद्ध होता है। महापुरुषों के चरित्र का वर्णन करने से वह स्वयं भी महान् होता है। इसका कथानक पाँच नाट्य संधियों में विभक्त रहता है इसमें चतुर्वर्ग का वर्णन होने पर भी अधिकतर अर्थ अर्थात् लौकिक अभ्युदय का उपदेश होना चाहिए। लोक-स्वभाव से युक्त और अपने समुचित रीति से अलग-अलग वर्णित समस्त रसों से युक्त होना चाहिए। अर्थात् यह लौकिक आचार-व्यवहार का निरूपक होना चाहिए। इसकी भाषा अलंकार युक्त और शिष्ट होती है तथा गौरवपूर्ण अर्थ से सम्पन्न होती है इसकी वर्णन-शैली सरल सुबोध होती है।"

आचार्य दण्डी के अनुसार—दण्डी ने भामह-प्रतिपादित लक्षणों का आधार ग्रहण करते हुए कुछ नूतन तत्त्वों का समावेश किया है जिसमें से अधिकतर भामह समस्त घटकों का विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। दण्डी-समस्त महाकाव्य के लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

- महाकाव्य सर्गों से बद्ध होता है जो बहुत बड़े नहीं होते हैं। इनका आरम्भ आशीर्वाद नमस्कार और कथावस्तु के निर्देश से होता है।
- इसका कथानक ऐतिहासिक अथवा इतिहासेत्तर सत्पुरुष के जीवन पर आधारित होता है। नायक उदात्त है अन्त में उसका उत्कर्ष दिखाया जाता है।
- इनमें नगर, पर्वत, समुद्र, सूर्योदय, उद्यान आदि का वर्णन होता है कि यह अनेक व त्तान्तों से अलंकृत होता है।
- इसकी भाषा सरल और अलंकृत होती है। इनमें छन्दों का प्रयोग होता है और सर्ग के अन्त में छन्द बदल जाता है।
- इसमें रस और भाव का प्रवाह निरन्तर बना रहता है। रुद्रट ने भामह और दण्डी के महाकाव्य विषयक लक्षणों के आधार पर बहुविध नूतन सामग्री से युक्त महाकाव्य के लक्षण दिए हैं। इन्होंने महाकाव्य के कथानक की संरचना को विशिष्ट प्रकार की विशेषताओं से युक्त माना है।

अग्नि पुराण के अनुसार—अग्नि पुराणकार द्वारा प्रस्तुत महाकाव्य के लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किए जा सकते हैं—

1. सर्गबद्ध को महाकाव्य कहते हैं।
2. इसका आरम्भ संस्कृत से होता है।
3. इसका व त्त इतिहास कथा से अथवा इतिहासेत्तर व्यक्ति से सम्बन्धित हो।
4. इसमें मंत्रणा, दूत-प्रेषण, युद्ध आदि का वर्णन हो, किन्तु अति विस्त त हो।
5. इसमें नगर वर्णन, समुद्र, पर्वत, ऋतु, चन्द्र, सूर्य, आश्रय, उद्यान, जल-क्रीड़ा, उत्सव आदि का लोकातिशायी वर्णन किया जाए।
6. इसका नायक चतुर्वर्ग की प्राप्ति करे।
7. इसमें शक्वरी, अति शक्वरी, जगती, आदि छन्दों का प्रयोग हो।
8. इसमें सभी व त्तियों, रीतियों और गुणों का प्रयोग हो और सभी रसों से पुष्ट हो।

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार—भामह, दण्डी, रुद्रट और अग्नि पुराणकार के अतिरिक्त कुछ अन्य स्रोतों से भी विशिष्ट सामग्री को ग्रहण करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ 'साहित्य दर्पण' में महाकाव्य के लक्षण अपेक्षाकृत स्वच्छ और विशद रूप में प्रस्तुत किए हैं—

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः।
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्त गुणान्वितः।
एक वंशभवा भूपाः कुलजा बहवो पि वा।।
श ंगारवीर शान्तानामेकों गी रस इष्यते।
अंगानि सर्वे पि रसाः सर्वे नाटक संघयः।।
इतिहासोद्भवं व त्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम्।

चत्वारः तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत्।।

कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा।

अर्थात् महाकाव्य सर्गबद्ध होता है। उसमें धीरोदात्त नायक होता है उसमें श्ृंगार, शास्त्र और वीर रसों में से एक अंगीरूप से रहता है नाटक की सब सन्धियाँ होती है। उसमें लोक-प्रसिद्ध कथा होती है। चतुर्वर्ण में से एक उसका फल होता है। एक सर्ग में एक छन्द होता है किन्तु अन्त में पद्य भिन्न छन्दवाला होता है। उसका नाम कवि, अथवा चरित नामक के नाम से होना चाहिए।

आचार्य विश्वनाथ का विवेचन अधिक स्पष्ट प्रौढ़ और सर्वांगीण दृष्टि से उपादेय है। उसमें महाकाव्य सम्बन्धी तत्त्वों का पूर्ण विकास हुआ है। इस दृष्टि से उसे निम्नलिखित सात भागों में व्यवस्थित कर सकते हैं—

1. **कथावस्तु**—महाकाव्य की कथा विस्तृत और पूर्ण जीवन गाथा होती है। वह आठ से अधिक सर्गों में संगठित होती है। कथा का प्रारम्भ आशीर्वचन और मंगलाचरण आदि से होता है। सर्ग के अन्त में आगामी सर्ग की कथा की सूचना होनी चाहिए। तथा किसी महापुरुष, सज्जन की वास्तविक जीवन गाथा पर आधारित होनी चाहिए।

2. **नायक**— महाकाव्य का नायक कोई देवता, उच्च कुलोत्पन्न क्षत्रिय अथवा एक वंश में उत्पन्न अनेक राजा भी हो सकते हैं—जैसे रघुवंश में, परन्तु उनमें धीरोदात्त गुणों का होना आवश्यक है।

3. **रस**—महाकाव्य में सभी रसों का होना आवश्यक है परन्तु प्रमुख रूप से श्ृंगार, वीर, शांत, इन तीन रसों में से एकाकी प्रमुखता अनिवार्य है इस प्रकार महाकाव्य में विविध सुख दुःखमयी परिस्थितियों का सम्पूर्ण चित्रण अनिवार्य है।

4. **छन्द**—एक सर्ग में एक ही छन्द अनिवार्य है। सर्ग के अन्त में छन्द बदलना चाहिए। छन्द चमत्कार या अद्‌भुत रस की निष्पत्ति के लिए एक सर्ग में अनेक छन्दों का प्रयोग भी किया जा सकता है।

5. **वर्णन**—महाकाव्य में विविधता और यथार्थता दोनों का होना आवश्यक है अतः जीवन के सभी दृश्यों, प्रकृति के विभिन्न रूपों और विविध भावों का वर्णन महाकाव्य में आवश्यक है। उसमें सज्जनों की प्रशंसा और दुर्जनों की निन्दा का भी विधान होना चाहिए ताकि समाज में एक आदर्श की स्थापना हो सके।

6. **नामकरण**—महाकाव्य का नाम कवि, नायक या कथावस्तु के आधार पर होता है। ख्यात वृत्त होने के कारण उसके सम्बन्ध में भाव हमारे अन्दर पहले से ही विद्यमान रहते हैं जो वर्णन के द्वारा जागृत हो जाते हैं।

7. **उद्देश्य**—महाकाव्य का उद्देश्य धर्मार्थ काममोक्ष की प्राप्ति मानी गई है। इसका विश्लेषण करें तो हम देखते है कि नायक या तो परोपकार के कार्य या सिद्धान्त की रक्षा के लिए अपने जीवन को व्यतीत करता है या विजय द्वारा किसी समृद्धि को प्राप्त करता है। इन उद्देश्यों की सिद्धि के लिए संघर्ष, साधना, चरित्र-विकास तथा अन्य उच्च गुण आवश्यक है इनका चित्रण विभिन्न परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में किया जाता है।

डॉ० गुलाबराय के अनुसार "महाकाव्य यह विषय प्रधान काव्य है जिसमें किसी अपेक्षाकृत बड़े आकार में जाति में प्रतिष्ठित और लोकप्रिय नायक के उदात्त कार्यों द्वारा जातीय भावनाओं, आदर्शों और आकांक्षाओं का उद्‌घाटन किया जाता है।"

इस प्रकार गुलाबराय जी ने महाकाव्य में जातिगत प्रतिनिधित्व पर अधिक बल दिया है।

आचार्य शुक्ल ने महाकाव्य के लिए चार तत्त्वों को आवश्यक माना है—इतिव त, वस्तु व्यापार वर्णन, भाव-व्यंजना और संवाद। उनके अनुसार इतिव त व्यापक तथा सुसंगठित, वस्तु-वर्णन, विस्त त और भावों को तरंगित करनेवाला, भाव-व्यंजना वैविध्यपूर्ण एवं तीव्र संवाद रोचक और नाटकीय होने चाहिए।

मूर्धन्य आलोचक डॉ० नगेन्द्र ने महाकाव्य में पाँच तत्त्वों की अवस्थिति पर बल दिया है—उदात्त कथानक, उदात्त कार्य अथवा उद्देश्य, उदात्त भाव और उदात्त शैली। उनके अनुसार औदात्य ही महाकाव्य का प्राण है। इस प्रकार शास्त्रीय लक्षणों की बाधा होने पर भी उपर्युक्त पाँच तत्त्वों के सद्भाव में किसी क ति को महाकाव्य कहलाने का गौरवपूर्ण अधिकार है।

इस प्रकार की विशेषताओं से लिखा गया महाकाव्य वास्तव में विश्व विख्यात रचना होने का गौरव रखता है।

महाकाव्य सम्बन्धी पाश्चात्य धारणाएँ—पाश्चात्य महाकाव्य का मूल अरस्तू के काव्यशास्त्र में मिलता है। जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि महाकाव्य, काव्य का वह भेद है जिसका रूप समाख्यानात्मक हो, उसमें एक छन्द का प्रयोग हो, उसमें उच्चतर चरित्रों का वर्णन हों, उसका आधार विस्त त हो उसके वस्तु संगठन में गरिमा और घनत्व हो।

अरस्तू के परवर्ती विचारकों ने भी महाकाव्य पर विचार किया है-

टारक्वैटो टैंसो के अनुसार, महाकाव्य में आश्चर्यकारी काल्पनिक व त्तान्तों का समावेश रमणीयता को बढ़ाता है महाकाव्य में सामयिक घटनाओं का वर्णन उचित नहीं होता और न ऐसी प्राचीन घटनाओं का वर्णन हो, जिसके अन्तर्गत अत्यन्त विचित्र और अविश्वसनीय घटनाएँ हो। उसमें ऐतिहासिकता का समावेश हो। उसमें वैचित्र्य और आश्चर्य का भाव समाहित हो। टैसो ट्रैजडी के समान महाकाव्य में करुणा और भय के भावों को आवश्यक नहीं माना है। एबक्राम्बे ने महाकाव्य के दो भेद किए हैं—

(1) साहित्यिक

(2) ऐतिहासिक

साहित्य महाकाव्य में दैवी घटनाओं की प्रधानता होती है। यह महाकाव्य कलात्मक अंग-संगठन के विचार से लिखा जाता है। उसका उद्देश्य मनोरंजन अधिक होता है और बहुकल्पना प्रध ाान है।

ऐतिहासिक महाकाव्य समय की आवश्यकतावश लिखा जाता है और उसका कथानक ऐतिहासिक होता है। प्रसिद्ध दार्शनिक हीगेल के अनुसार—महाकाव्य (एपिक) व्यक्ति विशेष का चरित्र होते हुए भी सार्वभौम व्यापकता रखता है। इसमें कवि का व्यक्तिगत द ष्टिकोण रहता है इसमें इतिहास प्रसिद्ध व त्त अनिवार्य है।

एपिक का नायक मानवता की भावना से पूर्ण और सार्वभौम गुणों से युक्त ऐतिहासिक स्तर पर प्रतिष्ठित व्यक्ति होना चाहिए।

महाकाव्य में दैवी घटनाएँ सहज रूप में आनी चाहिए।

इस प्रकार महाकाव्य सम्बन्धी पाश्चात्य धारणा का विश्लेषण करने पर निम्नलिखित तथ्य सामने आते हैं।—

(1) **कथानक**—महाकाव्य का कथानक ऐतिहासिक हो। उसमें काल्पनिक घटनाओं का भी समावेश हो। कथानक इतना व्यापक हो कि उसमें जीवन के विविध पक्षों का उद्घाटन किया जा सके।

(2) **चरित्र-चित्रण**—चरित्र-चित्रण में नायक पर विशेष ध्यान दिया गया हो नायक को ऐतिहासिक सुविख्यात व्यक्ति होना चाहिए। उसमें उच्च गुणों का समावेश होना चाहिए। वह प्रतिष्ठित परिवार का हो।

(3) **वर्णन**—पाश्चात्य धारणा के अनुसार महाकाव्य वर्णन प्रधान रचना है जिसमें व्याख्यान और महाकाव्य दोनों की धारणा सम्मिलित है उसमें समस्त घटनाओं का वर्णन अत्यन्त रोचक और सरल ढंग से होना चाहिए।

(4) **शैली**—महाकाव्य (एपिक) में वीर छन्द का प्रयोग होना चाहिए। किन्तु यह तभी सम्भव है जब उसका वर्णन वीर भाव तक सीमित हो। उसमें प्रेम, करुणा, भक्ति आदि का वर्णन हो। उन्हीं के अनुरूप छन्दों का वर्णन हो। इस द ष्टि से शैली विषय और वर्णन के अनुरूप होनी चाहिए।

(5) **उद्देश्य**—महाकाव्य महान् उद्देश्य को व्यापक प्रभाव के साथ प्रस्तुत करता है। अतः महाकाव्य में आनन्द और मनोरंजन स्वतः समाविष्ट हो जाता है। अरस्तू भी महाकाव्य का उद्देश्य सत्य का उद्घाटन मानते हैं। उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर महाकाव्य को चार भागों में बाँटा जा सकता है—

(1) कथा प्रधान—जैसे, महाभारत, प थ्वीराज रासो आदि।

(2) चरित्र प्रधान—जैसे रामायण, रघुवंश, नैषध, साकेत आदि।

(3) भाव प्रधान—जैसे कामायनी।

(4) अलंक ति प्रधान—जैसे शिशुपालवध, रामचन्द्रिका, किरातार्जुनीयम् आदि।

समन्वय—भारतीय और पश्चात्य आचार्यों द्वारा प्रस्तुत महाकाव्य के लक्षणों के तत्त्वों की समानता को निम्नलिखित बिन्दुओं द्वारा व्यक्त किया जा सकता है-

1. महाकाव्य के वस्तु संगठन में गरिमा और घनत्व हो।
2. महाकाव्य में व्यक्ति का चरित्र होते हुए भी उसमें सार्वभौम गुणों का समावेश हो।
3. कथानक की विशालता और ऐतिहासिकता अनिवार्य हो।
4. महाकाव्यों में उच्च भावों की विजय और निम्न भावों की पराजय का निदर्शन हो।
5. विशाल अर्थ में, महाकाव्य में धर्म की विजय हो।

II. खण्डकाव्य

खण्डकाव्य भी प्रबन्ध का एक प्रकार है, परन्तु उसके स्वरूप पर उतना विचार नहीं किया गया जितना महाकाव्य के स्वरूप पर किया गया है। जहाँ महाकाव्य पर सूक्ष्म और विस्तार से विचार हुआ है वहाँ खण्डकाव्य के सम्बन्ध में इस प्रकार के प्रयास न के बराबर रहे। इस द ष्टि से यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या खण्डकाव्य की महत्ता कम है? क्या महाकाव्य की तुलना में खण्डकाव्य महत्त्वपूर्ण नहीं है? वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। जिस प्रकार उपन्यास की अपेक्षा कहानी और नाटक की अपेक्षा एकांकी लिखना अधिक लाघव की माँग करता है उसी प्रकार महाकाव्य की

अपेक्षा खण्ड लिखना अधिक कठिन होता है। फिर भी खण्डकाव्य के रचना स्वरूप पर जिन विद्वानों ने विचार किया है उनका मत इस प्रकार है।

संस्क त आचार्यों के अनुसार—संस्क त आचार्यों में रुद्रट ने प्रबन्धों को महान् और लघु, दो रूपों में विभक्त किया है लघुकाव्य का स्वरूप निर्धारण करते हुए उन्होंने कहा है कि इसमें चतुर्वर्ग फल में से कोई एक हो तथा किसी एक रस का पूर्ण रूप से अथवा अनेक रसों का अपूर्व रूप से वर्णन होना चाहिए। दर्पणकार विश्वनाथ को 'खण्डकाव्य' नाम और उसकी निश्चित कल्पना का श्रेय दिया जा सकता है। उन्होंने भाषा या विभाषा में रचित, सर्गबद्ध, समस्त संधियों से रहित, एक कथा के निरूपक पद्यबद्ध रचना को 'काव्य' की संज्ञा दी है और उसके 'एक देश' के अनुसरण करनेवाली रचना को 'खण्डकाव्य' कहा है—

"खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैक देशानुसारि च।

इस प्रकार विश्वनाथ के अनुसार, काव्य या देश के एक खण्ड या अंश का अनुसरण करनेवाली रचना खण्डकाव्य है।

दर्पणकार के पश्चात् खण्डकाव्य संस्कृत साहित्य में उपेक्षित रहा। हिन्दी विद्वानों ने भी कोई मौलिक चिन्तन प्रस्तुत नहीं किया। फिर भी कुछ विद्वानों के विचार उल्लेखनीय है।

हिन्दी विचारकों का मत

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का कथन है- "महाकाव्य के ही ढंग पर जिस काव्य की रचना होती है, पर जिसमें पूर्ण जीवन न ग्रहण करके खण्ड जीवन ही ग्रहण किया जाता है, उसे खण्डकाव्य कहते हैं। यह खण्ड जीवन इस प्रकार व्यक्त किया जाता है कि वह प्रस्तुत रचना के रूप में स्वतः पूर्ण होता है।"

आचार्य मिश्र के अनुसार महाकाव्य और खण्डकाव्य में एक ही अन्तर है - जीवन के समग्र रूप का ग्रहण किया जाना और जीवन के सीमित अंश या उसके किसी खण्ड का ग्रहण किया जाना। डॉ० शम्भुनाथ सिंह के अनुसार, "सीमित द ष्टि पथ से जीवन का उतना द श्य दिखाई पड़ता है, उसी का चित्रण खण्डकाव्य में होता है।

निष्कर्षतः-

संस्कृत और हिन्दी विद्वानों के मतों के विश्लेषण के उपरान्त निम्नलिखित तथ्य सामने आते हैं -

1. खण्ड प्रबन्ध काव्य का एक भेद हैं। तात्त्विक द ष्टि से इसमें महाकाव्य के सभी तत्त्व आ जाते हैं, किन्तु आकार की भिन्नता के कारण इसमें महाकाव्य के तत्त्वो का संकोच हो जाता है।
2. खण्डकाव्य में कथा विस्तार नहीं होता और न इसमें प्रासंगिक कथाओं का बहुल्य होता है।
3. खण्डकाव्य में पात्रों की संख्या कम होती है। उनके चरित्र की सभी रेखाएँ संक्षेप में प्रकट होती है। नायक उच्च वंश का होता है।
4. खण्डकाव्य में किसी एक रस का परिपाक न दिखा, किसी उदात्तभाव का चरम उत्कर्ष दिखाकर पाठक को मुग्ध किया जाता है।
5. खण्डकाव्य में भावानुकूल 'छन्द' योजना को महत्त्व दिया जाता है।

6. खण्डकाव्य का उद्देश्य उपदेश होता है, जो काल-सापेक्ष होता है।

वस्तुतः खण्डकाव्य किसी रूप का खण्ड मात्र नहीं है। अपितु यह शब्द अनुभूति के उस प्रभाव की ओर संकेत करता है जिसमें जीवन अपने सम्पूर्ण रूप में कवि को प्रभावित न कर आंशिक अथवा खण्ड रूप में ही प्रभावित करता है।

III. गीति काव्य

गीत, मानव-मन के हर्ष-विषाद का सहज वाहक है। इसके माध्यम से कवि जो कुछ कहता है वह अपने निजी द ष्टिकोण से कहता है। इसमें निजीपन के साथ एक रागात्मकता रहती है। यह रागात्मकता आत्म-निवेदन के रूप में प्रकट होती है। वस्तुतः गीतिकाव्य का मूलाधार है भाव, जो किसी प्रेरणा भार से दबकर गीति के रूप में फूट निकलता हैं।

परिभाषा और स्वरूप

गीति की परिभाषा देते हुए कोशकार ने लिखा है-"गीतिकाव्य हृदय के उस गम्भीर भावावेश का परिणाम है, जो सहज-उद्रेक और प्राकृतिक वेग के साथ निःस त होता है।"

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के अनुसार- "राग-रागिनी के अनुकूल जिन पदों की रचना होती है वे विशेषतः गेय होने के कारण गीत कहलाते है।"

महादेवी वर्मा के अनुसार - 'साधारणतः' गीत व्यक्तिगत सीमा में सुख दुःखात्मक अनुभूति का वह शब्द रूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।"

डॉ० रामखेलावन पाण्डेय के अनुसार- "अबोध कल्पना, असीम भावुकता, विशुद्ध भावात्मकता, कर्म-कोलाहल की चिन्ता से युक्त विचारधारा अथवा निष्कर्षोपलब्धि के भार से मुक्तभाव धारा गीतिकाव्य के प्रकृत विषय है-कवि की वैयक्तिक भावधारा और अनुभूति को उनके अनुरूप लयात्मक अभिव्यक्ति देने के विधान को गीतिकाव्य कहते है।"

गीतिकाव्य में आकार की संक्षिप्तता के साथ भाव की एकता और अन्विति लगी है। इसी बात को लेकर बाबू गुलाबराय का कथन है कि "संगीतात्मकता और उसके अनुकूल सरस प्रवाहमयी कोमल कान्तपदावली, निजी रागात्मकता (जो प्रायः आत्मनिवेदन के रूप में प्रकट होती है) संक्षिप्तता और भाव की एकता गीति काव्य के प्रमुख लक्षण हैं। यह काव्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा अधिक अन्तःप्रेरक होता है और इसी कारण इसमें कला होते हुए भी कृत्रिमता का अभाव रहता है।"

डॉ० नगेन्द्र के विचार से अतिशय भावाद्रेक की प्रव त्ति सदा गीत में फूटने की रही है। गीत, वाणी का सबसे तरल रूप है जिसका माध्यम स्वर है।"

पाश्चात्य विद्वानों ने भी गीतिकाव्य के स्वरूप को विभिन्न प्रकार से स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

हीगेल के मतानुसार-"गीतिकाव्य में कवि की निजी आत्मा के ही किसी एक रूप विशेष के प्रतिबिम्ब का निदर्शन होता है। उसका एकमात्र उद्देश्य शुद्ध कलात्मक शैली में आन्तरिक जीवन का विभिन्न अवस्थाओं उसकी आशाओं, उसके आह्लाद की तरगों और उसकी वेदना की चीत्कारों का उद्घाटन करना ही है।"

हडसन का मत है- "वैयक्तिकता की छाप गीतिकाव्य की सबसे बड़ी कसौटी है किन्तु वह व्यक्ति-वैचित्र्य में सीमित न रहकर व्यापक मानवीय भावनाओं एवं अनुभूतियों से तादात्म्य स्थापित कर सके।"

समन्वय-डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त ने पौर्वात्य और पाश्चात्य विचारकों द्वारा प्रस्तुत गीतिकाव्य के लक्षणों का सुन्दर समन्वय करते हुए गीतिकाव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है- "गीतिकाव्य एक ऐसी लघु आकार एवं मुक्तक शैली में रचित रचना है जिसमें कवि निजी अनुभूतियों या किसी एक भाव-दशा का प्रकाशन संगीत या लयपूर्ण कोमल पदावली में करता है।"

इस प्रकार गीतिकाव्य अनुभूति प्रधान काव्य है इसमें सामान्य वर्णन किसी घटना तथ्य या भाव का न होकर कवि भी अनुभूति के माध्यम से प्रकट होता है। वस्तुतः गीतिकाव्य में कवि की भावनाएँ झाँकती हैं। इस प्रकार गीतिकाव्य में हृदय पक्ष की प्रधानता, विचार एवं चिन्तन की प्रौढ़ता होती है जो चित्रमय, नादमय, संगीतमय एवं लयपूर्ण भाषा-शैली में प्रवाहित होती है।

गीतिकाव्य के तत्त्व

गीतिकाव्य की परिभाषाओं के आधार पर उसके छः तत्त्व स्वीकार किए जा सकते हैं-

1. **वैयक्तिकता** - आत्मपरक होने के कारण गीतिकाव्य में व्यक्तित्व की छाप होना स्वाभाविक है। कवि अपने हर्ष-विषाद, आशा-निराशा, सुख-दुःख आदि हार्दिक अनुभूतियों को व्यक्त करता है और अपने तीव्र मनोभावों का अंकन करता है। इससे गीतिकाव्य में व्यक्ति तत्त्व प्रमुखता रहती है और कवि की निजी अनुभूतियों का प्रमुखतः प्रकाशन होता है।

2. **भावात्मकता** - गीतिकाव्य की आत्मा भाव है। वह हृदय के उस गम्भीर तीव्र भावावेश का परिणाम है जो सहज उद्रेक और प्राकृतिक वेग के साथ फूटता है। इसलिए वर्ड्सवर्थ ने कविता को मानव-मन की भावनाओं का सहज उच्छलन कहा है।

3. **रागात्मक अन्विति** - अनुभूति की अखण्डता से गीतिकाव्य में रागात्मक अन्विति का समावेश होता है। अन्तर्वाद्य तीव्र मनोवेग से झनझना उठनेवाले भावपूर्ण शब्दों के माध्यम से व्यक्त मूल भाव काव्य का प्राण है जैसे महादेवी वर्मा के गीत की पंक्तियाँ ली जा सकती है।

   "मधुर-मधुर मेरे दीपक जल।"

4. **संगीतात्मकता** - भाव के आन्तरिक, संगीत और भाषा के शब्द-संगीत में स्वर-व्यंजन मैत्री, भावानुकूल पदावली व सुचारू शब्द-विन्यास से भाषा में भावपेक्षी अनुरणन या वाद-सौन्दर्य उत्पन्न हो। संगीत का यह तत्त्व स्थूल में सूक्ष्म होता जाता है। अतः स्वाभाविकता अन्तःस्फूर्ति, आन्तरिक लय तथा आत्मद्रव की अन्तर्धारा से प्लावित गीतिकाव्य संगीतमय हो जाता है।

5. **संक्षिप्तता** - गीतिकाव्य की मूल प्रेरक भावना इतनी क्षणिक, आवेगमय और तात्कालिक होती है कि उसमें नियमित व्यवस्था और विस्तार का अवकाश कवि को नहीं मिलता। अतः संक्षिप्तता गीतिकाव्य का एक विशेष गुण है।

6. **कलात्मक शैली** - गीतिकाव्य में कोमल भावनाओं के अनुरूप 'मम ण', कोमल, सौन्दर्ययौन्मेषिनी, प्रवाहपूर्ण, प्रभावशालिनी एवं कलात्मक भाषा-शैली का होना आवश्यक है। भाषा की लाक्षणिक 'व्यंजन शक्ति', सुन्दर मूर्त-अमूर्त, विधान, स्वाभाविक अलंकरण आदि कलात्मक प्रसाधन गीतिकाव्य के रूप को सवार एवं निखार देते हैं।

गीतिकाव्य के भेद

विषय-भेद के अनुसार तो गीतों के अनेक रूप है। परन्तु रूप एवं शैली की द ष्टि से गीतों के दो प्रमुख प्रकार उपलब्ध होते हैं।

1. लोक गीत
2. साहित्यिक गीत

1. **लोक गीत** - लोक-जीवन को अभिव्यक्त करनेवाले गीत लोकगीत कहलाते हैं। लोक गीतों में प्रत्येक देश और जाति की गीति रचना का आदि रूप सुरक्षित रहता है। इन गीतों में भावमयता और गेयता का प्राधान्य रहता है। परन्तु शैली सायास, अलंकृत और साहित्यिक नहीं होती। ये शुद्ध गेयात्मक होते हैं। इनका अभिव्यजना सौन्दर्य प्रयत्न-साध्य नहीं होते। लोकगीतों में यद्यपि निजीपन होता है किन्तु उसमें साधारणीकरण सामान्यता अधिक रहती है जिससे वे वैयक्तिक रस की अपेक्षा जन-रस उत्पन्न कर सकते है। इन गीतों में गायक और श्रोता का तादात्म्य होता है। ये लोकगीत अक्सर विशेष पर्व जैसे-होली, विवाह, जन्मोत्सव आदि पर गाए जाते हैं।

2. **साहित्यिक गीत** - साहित्यिक गीतों में व्यक्तित्व की प्रधानता होती है। इनकी रचना किसी विशिष्ट मनोदशा एवं परिस्थिति में होती है। इन गीतों में भावमयता, अन्तःस्फूर्ति, सहज अभिव्यक्ति के काव्य गुण तो आ जाते हैं परन्तु काव्य शिल्प की उत्कृष्टता, सुकुमारता और सौन्दर्य भी अभीष्ट है। इन गीतों में विदग्धता, कलात्मकता, सायास अलंकरण, और वाक्-चातुर्य का आना स्वाभाविक है, इन गीतों में कुछ तो शुद्ध संवेदनात्मक होते हैं जैसे - कबीर और मीरा के गीत अथवा तुलसी की 'विनय पत्रिका' के पद तथा कुछ तथाश्रित होते है जैसे - सूर के लीला सम्बन्धी पद। गीतिकाव्य के अंग्रेजी रूप - गीतिकाव्य की अंग्रेजी साहित्य में जो विधाएँ स्वीकृत है उनकी नाम सम्बन्धी जानकारी इस प्रकार है-

    1. सानेट अर्थात् चतुर्दश पद्दी।
    2. ओड अर्थात् संबोधन गीत।
    3. ऐलिजी अर्थात् शोक गीत।
    4. सेटाइर अर्थात् गीत।
    5. रिफलेक्टिव अर्थात् विचारात्मक
    6. उपदेशात्मक

इन सभी में 'सानेट' में आकार की प्रधानता है, शेष में 'विषय' की।

2. रस-सिद्धान्त

रस का स्वरूप

भारतीय मनीषियों ने जीवन के परम उद्देश्य के रूप में अलौकिक आनन्द स्वरूप तत्त्व (ब्रह्म रस) का विवचेन किया है। प्राचीन काल से लेकर आज तक रस ही भारतीय आलोचना का मानदण्ड बना हुआ है। रस तत्त्व की सत्ता का उदय तो भारतीय काव्य के अभ्युदय के साथ ही हुआ था। इसके प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत श्रुति प्रस्तुत की जा सकती है। - ''रस ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति'' अर्थात् इसकी महिमा बड़ी व्यापक है। वस्तुतः जीवन की गति यह स्पष्ट कर देती है कि रस जीवन का सार है और समस्त मानव-मात्र का जीवन रस के लिए है। जितने भी क्रिया-कलाप हैं, उनकी प्रेरणा और लक्ष्य, उनका उदय और अस्त रस में ही है। साथ ही, साधनावस्था भी रस की अवस्था है, इसमें संदेह नहीं, यदि हम उसे रसरूप में परिणत कर सकें। यह निर्विवाद सत्य है कि रस जीवन के लिए आवश्यक तत्त्व है। इसीलिए आचार्य भरत ने कहा है-

''नहिं ..... रसादुते कश्चिदपि अर्थः प्रवर्तते।''

वास्तविक तथ्य यह है कि जीवन के सुव्यवस्थित निर्माण के लिए 'रस' अनिवार्य है। रस रहित जीवन व्यर्थ है। जीवन की गति रस के कारण ही है।

'रस' शब्द 'रस्' धातु और 'धञ्' प्रत्यय के योग से निष्पन्न हुआ है। इसे निम्न प्रकार व्याख्यायित किया जा सकता है-

'रस्यते आस्वाद्यते इतिरसः'

अर्थात् जो आस्वादित किया जाए अथवा जो 'बहता है वह रस है'। इस प्रकार इसमें आस्वाद्यत्व और द्रवत्व की विशेषताएँ निहित है।

शब्दकोष में 'रस' के अनेक अर्थ है, यथा-गन्ध, स्वाद, विष, राग, श्ंगार, द्रव, वीर्य, अम्बु एवं पारद के अर्थ का द्योतक भी 'रस' शब्द है।

सामान्य व्यवहार में 'रस' का चार अर्थो में प्रयोग होता है-

1. पदार्थो का रस - अम्ल, तिक्त, कषाय आदि।
2. आयुर्वेद का रस - पारद का रस।
3. साहित्य का रस - नीति, भाव, राग, आवेग, करुण, वीर, श्ंगार आदि।
4. मोक्ष या भक्ति का रस - ब्रह्मानन्द।

किसी वस्तु की स्वरूप प्रक्रिया का अभिप्राय है - उसके स्वनिष्ठ रूप को उसके लक्षण से लक्षित और परिभाषण से परिष्कृत करना। रस-प्रक्रिया के भीतर रस की ऐसी ही स्वरूप प्रक्रिया का विचार किया जाता है। रस के स्वनिष्ठ रूप अथवा स्वरूप का व्यापक अर्थ है काव्यानन्द।

सामान्यतः काव्यानन्द ही काव्य-रस का स्वरूप है। काव्य-रस का यह स्वरूप इतना सार्वभौम है कि इसके आयोग में विश्वभर के साहित्य आ जाते हैं।

भरत का मतः

भारतीय काव्यशास्त्र में आचार्य भरत का मत है कि नानाभावोपगात स्थायी भाव ही रस है। अर्थात् रस एक प्रकार की भावमूलक स्थिति है जो कवि-निबन्ध विभावादि के प्रसंग में नाट्य सामग्री द्वारा रंग मंच पर उपस्थित हो जाती है। यह भावमूलक स्थिति है भरत के अनुसार 'रस' है। भरत का यह मंतव्य उनके प्रख्यात लक्षण - 'विभावानुभाव व्यभिचारी संयोगाद्रसनिष्पतिः' में अभिव्यक्त हुआ है, और जो रस का विषयगत रूप तथा मौलिक एवं सौन्दर्यवादी आचार्यों की कल्पना के निकट है।

अभिनवगुप्त का मतः

भरत के परवर्ती आचार्यों के विवेचन के फलस्वरूप रस का स्वरूप क्रमशः विषयिगत होता गया और वह 'आस्वाद' बन गया। इस अर्थ परिवर्तन का सर्वाधिक दायित्व अभिनवगुप्त पर है। उनके मत का सारांश इस प्रकार है-

1. लोक में रस्यादि स्थायी भावों के जो 'कारण' 'द्योतक' और 'पोषक' होते हैं वे काव्य नाटकादि में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी नाम से अभिहित किए जाते हैं।
2. सहृदय द्वारा इन अलौकिक विभावादि के समवेत रूप का मनसा साक्षात्कार ही 'रस' है।
3. यह रस आस्वाद रूप ही होता है आस्वाद का विषय नहीं।
4. रस अनिवार्यतः आत्मविश्रान्तिमयी आनन्द चेतना है।

परवर्ती आचार्यो ने प्रायः रस की इन्हीं विशेषताओं का प्रकार भेद से व्याख्यान किया है।

विश्वनाथ का मतः

आचार्य विश्वनाथ ने सग्रंह और व्यवस्था दोनों ही द ष्टियों से रस के स्वरूप को सर्वमान्य निष्कर्ष तक पहुँचने में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। उनके मतानुसार रस का स्वरूप इस प्रकार है।

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्योब्रह्मास्वाद सहोदरः।।
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमात भिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः।

अर्थात् चित्त में सतोगुण के उद्रेक की स्थिति में विशिष्ट संस्कारवान सहृदयजन अखण्ड, स्वप्रकाश और आनन्दमय, चिन्तमय, अन्य सभी प्रकार के ज्ञान से विनिर्मुक्त ब्रह्मास्वाद-सहोदर, लोकोत्तर, चमत्कार प्राणरस का निज रूप से अभिन्नतः आस्वादन करते हैं।

इस परिभाषा के अनुसार-

1. रस आस्वादन का विषय है अर्थात् रस आस्वाद से अभिन्न है।
2. रस का आविर्भाव सतोगुण के उद्रेक की स्थिति में होता है। यह आस्वाद ऐन्द्रिय उत्तेजना आदि से भिन्न सात्त्विक या परिष्कृत कोटि का होता है। मूलतः यह स्थापना भट्टनायक की है। अभिनव और विश्वनाथ ने इसे प्रायः यथावत् स्वीकार कर लिया है।

3. रस अखण्ड है अर्थात् एक तरु तो रसानुभूति में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी आदि की प थक् अनुभूति नहीं होती अपितु सभी को समंजित अनुभूति होती है।
4. रसानुभव अन्य ज्ञान या अनुभव से रहित है क्योंकि रस पूर्ण तन्मय भाव की स्थिति है और इस स्थिति में स्वभाव से अन्य ज्ञान की सम्भावना नहीं है।
5. रस स्वप्रकाशानन्द और चिन्मय अर्थात् आत्म चैतन्य से प्रकाशित आनन्दमयी चेतना है। इसमें ऐन्द्रिक अनुभूति का प्रायः अभाव तथा चैतन्य आत्मास्वाद का सद्भाव रहता है।
6. रस लोकोत्तर चमत्कार प्राण है। वह न प्रत्यक्ष अनुभव है न परोक्ष अपितु अनिर्वचनीय और अलौकिक है। अलौकिक का अर्थ अति प्राक तिक न लेकर अतीन्द्रिय लेना चाहिए।
7. ब्रह्मास्वाद सहोदर है अर्थात् विषयानन्द से भिन्न है। वह इन्द्रियों का विषय न होकर चैतन्य आत्म का विषय है, किन्तु फिर भी वह शुद्ध ब्रह्मानन्द नहीं है।

डॉ० नगेन्द्र का मतः

डॉ० नगेन्द्र ने संस्क त काव्यशास्त्र के आचार्यों के मतों को साररूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया है।

''शब्दार्थ के माध्यम से, विशुद्ध भाव भूमिका में, आत्म चैतन्य के आस्वाद का नाम रस है।''

अर्थात् रस काव्य का आस्वाद है। यह आस्वाद आनन्दमय है, किन्तु शुद्ध आत्मानन्द नहीं है, क्योंकि इसमें लौकिक विषयों का एकान्त तिरोभाव नहीं हो पाता है।

डॉ० नगेन्द्र ने रस-विषय पूर्ववर्ती आचार्यों की मान्यताओं को विवादास्पद मानते हुए तीन मौलिक प्रश्न उठाए हैं और रस के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है-

1. भावानुभूति और रसानुभूति में क्या सम्बन्ध है?
2. क्या रसानुभूति अनिवार्यतः आनन्दमयी चेतना है?
3. यदि है, तो इस आनन्द का क्या स्वरूप है?

भावानुभूति और रसानुभूति का सम्बन्धः

भाव की भूमिका का स्पर्श के बिना रस की स्थिति सम्भव नहीं है। अतः रस निश्चय ही भाव पर आश्रित है। भाव के स्पर्श के बिना शब्दार्थ का चमत्कार रस नहीं है। स्वयं अलंकारवादी भी (जो रस को काव्य की आत्मा नहीं मानते) - रस को भाव पर आश्रित मानते हैं-'नाट्यशास्त्र' का यह वाक्य रस और भाव के अनिवार्य सम्बन्ध का प्रमाण रहा है-

''न भाव हीनो स्ति रसो न भावो रस वर्जितः''

भावों से हीन रस नहीं हो सकता और न ही भाव रस से वर्णित है- किन्तु रसानुभूति भावानुभूति से भिन्न है - किसी भी स्थिति में दोनों एक नहीं हो सकती। भाव आस्वाद की द ष्टि से दो प्रकार के माने जाते हैं- सुखद और दुःखद। यदि यह स्वीकार कर लिया जाए कि रस अनिवार्यतः आनन्द रूप है तो यह सहज ही सिद्ध हो जाता है कि रसानुभूति भावानुभूति से भिन्न है क्योंकि करुण रस की अनुभूति अन्ततः आनन्दमयी है और 'शोक' स्थायी भाव की दुःखमयी, वीभत्स रस सुखद चेतना है और जुगुप्सा दुःखद।

क्या रस अनिवार्यतः आनन्दमयी चेतना है?

यह एक महत्त्वपूर्ण और विवादास्पद प्रश्न है। श ंगार, वीर, हास्य, अद्भुत और शान्त का आस्वाद तो स्पष्टतः आनन्दमय होता है परन्तु करुण, भयानक और वीभत्स आदि का आस्वाद भी आनन्दमय

होता है-इस विषय पर काफी विवाद रहा है। यद्यपि बहुमत रस की अनिवार्य आनन्द रूपता के पक्ष में रहा है परन्तु विरोधी स्वर भी काफी मुखर रहा है।

संस्क त आचार्यों में भरत, अभिनव, दशरूपक के टीकाकार, धनिक, मम्मट, विश्वनाथ एवं पं० राज जगन्नाथ किसी-न-किसी रूप में सभी रसों के सुखरूपता के पक्ष में है। किन्तु विरोधी पक्ष में जैन आचार्य द्वय-रामचन्द्र गुणचन्द्र का स्वरूप सबसे ऊँचा है। उनके अनुसार-

''सुख दुःखात्मको रसः।''

अर्थात् रस सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों प्रकार के होते हैं।

रीतिकालीन कवि-आचार्य भी एक स्वर से रस को अलौकिक आनन्दरूप और ब्रह्मास्वाद सहोदर मानते हैं।

आधुनिक आलोचकों में - आचार्य केशव प्रसाद मिश्र, पं० रामदहिन मिश्र, डॉ० भगवानदास, डॉ० श्यामसुन्दर दास, बाबू गुलाबराय और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी सभी रस को आनन्दरूप मानते हैं। इन्होंने नवीन ज्ञान विज्ञान के आलोक में उसकी अलौकिकता और आनन्दरूपता का अपने ढंग से व्याख्यान किया है। इस प्रसंग मे आचार्य शुक्ल ही प्रथम अपवाद है। रसवाद के अत्यन्त समर्थ पोषक होते हुए भी इन्होंने रस की आनन्दरूपता का स्पष्ट विरोध किया है- ''यदि क्रोध, शोक, जुगप्सा, आदि के वर्णनः श्रोता के हृदय में आनन्द का संचार करे तो या तो श्रोता सहृदय नहीं या कवि के बिना इन भावों का स्वयं अनुभव किए उनका रूप प्रदर्शित किया है।''

वस्तुतः शुक्ल जी की द ष्टि एकांगी नहीं थी उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा की सिद्धि के लिए रस के स्वरूप की, अपनी मान्यतानुकूल नवीन व्याख्या प्रस्तुत की है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र में रस के विवेचन का प्रश्न नहीं उठता। किन्तु यदि रस का अर्थ काव्यास्वाद है तो वहाँ भी प्राचीन आचार्यों का बहुमत काव्यास्वाद की आनन्दरूपता के पक्ष में रहा है।

आनन्द का स्वरूप

रस के आनन्द का क्या स्वरूप है? इन प्रश्न का समाधान भी आवश्यक है। रस अथवा काव्यानुभूति जीवनगत अन्य अनुभूतियों से भिन्न है। इसलिए उसे भारतीय आचार्यों ने 'अनिर्वचनीय' कहा है और पाश्चात्य विचारको ने 'सौन्दर्य-भावना' के रूप में कल्पित किया है।

आत्मा की सत्ता में विश्वास कर लेने पर आनन्द के स्थूलतः चार भेद किए जा सकते हैं- I.

आनन्द -

1. आध्यात्मिक (आनन्द), भौतिक आनन्द
2. ऐन्द्रिय
3. रागात्मक
4. बौद्धिक

इनमें प्रियजन के स्पर्श का आनन्द ऐन्द्रिय है, प्रिय के स्नेह का आनन्द रागात्मक है शास्त्र के किसी प्रश्न का समाधान का आनन्द बौद्धिक है और आत्मत्त्व के साक्षात्कार का आनन्द आध्यात्मिक है। काव्यानन्द इनमें से किसके अन्तर्गत आता है या सर्वथा निरपेक्ष और विलक्षण है। भारतीय काव्यशास्त्र में दो मत प्राप्त होते हैं- एक भौतिकवादी और दूसरा आत्मवादी।

प्राचीनों में भरत और भट्टलोल्लट एवं परवर्ती आचार्यों में रामचन्द्र गुणचन्द्र भौतिकवादी हैं।

आत्मवादी मत निश्चय ही आनन्दवादी है। इनके अनुसार रस काव्यानन्द ऐन्द्रिय आनन्द नहीं है वह आत्मानन्द के अत्यधिक निकट है। यद्यपि शुद्ध आत्मानन्द भी नहीं है। रत्यादि भावों की भूमिकावश विषयानन्द से सर्वथा असंस्प ष्ट नहीं है, किन्तु चिन्मय अंश का प्राधान्य होने के कारण आत्मानन्द के निकट पहुँच जाता है। वास्तव में भारतीय आचार्यों ने आनन्द को प्रत्येक स्थिति में आत्मास्वाद रूप ही माना है। विषयानन्द में भी आनन्द तत्त्व आत्मास्वाद का ही वाचक है और काव्यानन्द में भी आनन्द का अर्थ स्पष्टतः विशुद्ध भाव भूमिका में आत्म भोग ही हैं। अतः काव्यानन्द आत्मानन्द से प्रकृति या प्रकार की द ष्टि से नहीं, गुण की द ष्टि से भिन्न है और विलक्षण केवल इसी अर्थ में है कि न तो वह विषयानन्द है और न शुद्ध आत्मानन्द ही।

पाश्चात्य विचारकों के अनुसार यद्यपि काव्यानन्द (रस) लौकिक ही ठहरता है किन्तु यह एक समान नहीं होता। जैसे-स्वादिष्ट होना, द्यूत-क्रीड़ा आदि सब भौतिक है। काव्यानन्द इन सभी आनन्दों में सर्वोपरि है।

अतः इसे आध्यात्मिक न कहकर ऐन्द्रिय आनन्दों में सर्वोपरि मानना चाहिए।

निष्कर्ष:- निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि शुद्ध-बुद्ध आत्मा आनन्दमय है। लेकिन भौतिक जीवन के कारण उस पर एक आवरण पड़ा रहता है जब सफल काव्य द्वारा वह आवरण हटा दिया जाता है तो प्रेक्षक की आत्मा उसमें विद्यमान अपनी उस आनन्दमयी चेतना को प्राप्त करती है और उस समय उसे जिस आनन्द की अनुभूति होती है वह ही काव्यानन्द है।

रस-निष्पत्ति

(भरत मुनि का रस-सूत्र और उसके व्याख्याकार)

किसी काव्य के अध्ययन से पाठक को रस या आनन्द की अनुभूति कैसे होती है। यह 'रस सिद्धान्त' के आचार्यों में पर्याप्त चर्चा का विषय बना रहा है। इस विषय का सर्वप्रथम उल्लेख भरत मुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में किया है। 'रस' के सम्पूर्ण विवेचन का आभार भरत का रस-निष्पत्ति विषयक यह इतिहासप्रसिद्ध सूत्र है-

''तत्र विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रस निष्पत्तिः''

अर्थात् विभावबद्ध अनुभाव और व्यभिचारी (भाव) के संयोग से रस की निष्पति होती है।

इस सूत्र में प्रयुक्त 'संयोग' और 'निष्पत्ति' शब्दों से भरत का क्या तात्पर्य है। रस का उद्गम स्थान कहाँ है? सहृदय उसका उपयोग करता है? आश्रय, अभिनेता, प्रेक्षक आदि का रसोत्कर्ष की प्रक्रिया में क्या स्थान है? इत्यादि महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का स्वयं उत्तर न देकर इस विषय में उन्होंने कुछ वाक्य दिए है जो उनके मत से उद्ध त किए जा सकते हैं-

''यथाहि नाना व्यं जनौषधिद्रव्य संयोगाद्रस निष्पत्तिर्भवति, यथा हि गुडादिभिर्द्रव्यैव्य जनैरोषधिभिश्च षाडपादयो रसा निर्वर्त्यन्ते, तथा नाना भावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वभा नुवन्ति''।।

अर्थात् जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यंजनो, औषधियों तथा द्रव्यों के संयोग से (भोज्य) रस की निष्पत्ति होती है, जिस प्रकार गुड़ादि द्रव्यों व्यंजनो और औषधियों से 'षाडवादि' रस बनते है, उसी प्रकार विविध भावों से संयुक्त होकर स्थायी भाव भी (नाट्य) 'रस' रूप को प्राप्त होते है।

भरत के उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि 'संयोग' का अर्थ संसर्ग और 'निष्पत्ति' का अर्थ नवरूप प्राप्ति (निर्मित) है।

निष्कर्षतः - भरत के मतानुसार-

1. रस आस्वाद नहीं आस्वाद्य है। अनुभूति नहीं अनुभूति का विषय है।
2. स्थायी भाव रस नहीं रस का आधार है।
3. स्थायी भाव सहृदय सामाजिक का नहीं, काव्य (नाट्य) के नायक का हो सकता है।
4. रस वस्तु रूप से 'रंगमंच' पर उपस्थित रहता है।

भरत सूत्र में, विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भाव पर किसी को आपत्ति नहीं है परन्तु 'संयोग' और 'निष्पत्ति' शब्दों की व्याख्याएँ ही इन आचार्यों के सिद्धान्तों के निरूपण का कारण है। इस विषय में चार व्याख्याकार प्रमुख हैं-

I. भट्टलोल्लट का मत (उत्पत्तिवाद)

भरत सूत्र के प्रथम व्याख्याकार है-आचार्य भट्टलोल्लट। इनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। 'अभिनव भारती' और 'काव्य प्रकाश' में उनके उद्धरण उपलब्ध होते हैं, उन्हीं के आधार पर इनके मत का निरूपण किया जाता है। 'काव्य प्रकाश' के उद्धरण के अनुसार-

विभाव अर्थात् ललना आदि आलम्बन और उद्यान आदि उद्दीपन कारणों द्वारा जो 'रति' आदि भाव उत्पन्न होता है; अनुभाव अर्थात् कटाक्ष, भुज फड़काना आदि कार्यों से प्रतीति के योग्य किया जाता हैः व्यभिचारी भाव अर्थात् निर्वेद आदि सहकारियों द्वारा पुष्ट (उपचित) किया जाता है और साक्षात् रूप से अनुकार्य राम आदि में रहता है, किन्तु नर्त्तक में भी रामादि रूपता का अनुभव होने के कारण वह स्थायी उसमें भी प्रतीत होता है, वही रस है।

संयोगः भट्टलोल्लट के अनुसार स्थायी भाव के साथ विभावादि का संयोग विविध है-

विभाव और स्थायीभाव में-उत्पाद्य और उत्पादक
अनुभाव और स्थायी भाव में - बोध्य - बोधक
व्यभिचारी भाव और स्थायीभाव - पोष्य-पोषक

निष्पत्तिः भट्लोल्लट ने रस निष्पत्ति के व्यापार को तीन भागों में विभाजित कर दिया है। प्रथम है 'उत्पत्ति' क्योंकि विभाव भाव को उत्पन्न करते हैं। दूसरा है 'प्रतीति' क्योंकि अनुभावों के द्वारा सामाजिक को भाव की 'प्रतीति' होती है तीसरा है 'पुष्टि' क्योंकि संचारी भाव स्थायी भाव के पोषक है। इन तीनों के प्रभाव से रस निष्पत्ति होती है। अतः निष्पत्ति का अर्थ हुआ उपचिति।

आरोपवादः 'लोल्लट के अनुसार रस मूलतः अनुकार्य में निबद्ध रहता है। अभिनय कुशलता के कारण सामाजिक नट पर मूल पक्ष का आरोप कर लेता है। नट-नटी पर मूल पक्षों के इस आरोप के कारण ही लोल्लट का मत आरोपवाद कहलाता है।

रस की स्थितिः लोल्लट के अनुसार रस की स्थिति मूलपात्र में होती है। नट में रस आरोपित है। अतः वस्तुरूप से रस की स्थिति काव्य निबद्ध नाम अर्थात् अनुकार्य में है।

शक्तिः

1. भट्टलोल्लट पहले व्यक्ति थे जिन्होनें रस-निष्पत्ति विषयक विवाद का श्रीगणेश किया।
2. उन्होंने ऐतिहासिक व्यक्तियों में रस की स्थिति मानकर सौन्दर्य या रस को विषयगत माना और काव्य की महत्ता का प्रतिपादन किया।
3. नट में भी रसानुभूति की स्थिति को स्वीकार किया। वस्तुतः नट के लिए भी रसानुभूति अनिवार्य है। उसके बिना सफल अभिनव सम्भव नहीं है।

सीमाः

1. लोल्लट ऐतिहासिक व्यक्तियों और कवि निबद्ध व्यक्तियों में अन्तर स्पष्ट नहीं कर पाए।
2. यह भी स्पष्ट नहीं है कि जिस प्रकार दर्शक नाटक देखने के समय रसानुभव करता है और नट अभिनय के समय; उसी प्रकार कवि स्वयं भी नाटक या काव्य की सर्जना के समय रसानुभव करता है।
3. सामाजिक के रसास्वादन को गौण स्थान दिया।
4. यदि भावों की उपचित अवस्था ही रस है तो भावों को क्रमिक उत्कर्ष और अपकर्ष में आनेवाली विभिन्न अवस्थाओं के विषय में कुछ नहीं कहा गया है।

II. शंकुक का मत (अनुमितिवाद)

भरत सूत्र के दूसरे व्याख्याता आचार्य शंकुक हैं। इनकी व्याख्या का आधार न्यायशास्त्र का अनुमान प्रमाण है। इन्होंने भट्टलोल्लट के मत को भ्रामक कहा हैं उनका मत इस प्रकार है कि रस की उत्पत्ति का कारण नट से मूल पात्र और उसके भावों का आरोप नहीं-अपितु अनुमान है। ज्ञात से अज्ञात का ज्ञान ही अनुमान प्रमाण है। धुएँ के प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष अग्नि की सम्भावना अनुमान प्रमाण है। उसी प्रकार रंगमंच पर उपस्थित नट में रामादि प्रमाण है।

शंकुक के इस अलौकिक अनुमान का आधार है-''चित्र तुरंग न्याय'' जो प्रचलित लोक प्रसिद्ध चार प्रकार से भिन्न है। प्रचलित ज्ञान की चार पद्धतियाँ हैं-

1. सम्यक् ज्ञान - राम को राम समझना।
2. मिथ्या ज्ञान - राम को राम न समझकर, कुछ अन्य समझना।
3. संशय ज्ञान - राम है अथवा नहीं, ऐसा संदेहपूर्ण ज्ञान।
4. साद श्य ज्ञान - राम को देखकर यह कहना कि राम जैसा है।

वस्तुतः चित्र तुरंग ज्ञान इन चारों प्रकार के ज्ञान से भिन्न है जैसे चित्र लिखित अश्व को देखकर उसके वास्तविक अश्व के गुणों का अनुमान करके आनन्द उठाया जाता है उसी प्रकार नट-नटी, दुष्यन्त-शकुन्तला या राम-सीता ही मान लिए जाते हैं और रस का आस्वादन करते हैं।

संयोगः अनुमाप्य-अनुमापक सम्बन्ध

निष्पत्तिः अनुमान या अनुमिति

रस की स्थितिः लोल्लट की भाँति शंकुक ने भी रस की स्थिति अनुकार्यगत मानी है।

शक्तिः

1. शंकुक का योगदान इतना है कि नट-नटी के अभिनय-कौशल का आनन्द भी रसानुभव में महत्त्वपूर्ण योग देता है।

2. रस-सिद्धान्त को पूर्णतः वस्तुपरक स्थिति से हटाकर व्यक्तिपरक स्थिति की ओर एक पग आगे बढ़ाया। किन्तु उत्पत्तिवाद की शंकाएँ 'ज्यों-की-त्यों' रह जाती है।

सीमाः मनोविज्ञान की द ष्टि से अनुमान द्वारा रसानुभूति की बात मिथ्या है और लोकानुभव के विरुद्ध है। अनुमान से ज्ञान होता है, अनुभूति नहीं।

जिसके द्वारा शोक, भय आदि कष्टप्रद भावनाएँ रस रूप होकर आनन्द प्रदायिनी हो जाती है। शंकुक ने सहानुभूति तत्त्व का निषेध करके अनुमान के सिद्धान्त द्वारा भ्रम पैदा किया है।

III. भट्टनायक का मत (भुक्तिवाद)

भरत सूत्र के तीसरे व्याख्याता है-भट्टनायक। यहीं से रस-सिद्धान्त में उच्च स्तर की सूक्ष्म-चिन्तन आरम्भ होता है और इसकी वस्तुपरक स्थिति से हटकर अनुभूतिपरक व्याख्या होती है।

भट्टनायक के अनुसार, न रस की उत्पत्ति होती है, न अनुमिति, अपितु भुक्ति होती है। सामाजिक रस रूप में परिणत अपने स्थायी भाव का उपभोग करता है।

सामाजिक के सहृदय में रस की भुक्ति के लिए काव्य की क्रियाएँ ही रस के उद्बोधक कारण हैं। काव्य शब्दात्मक है। अतः भट्टनायक शब्द रूप काव्य के तीन व्यापार मानते हैं:-

अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व।

1. अभिधा व्यापार - इसके द्वारा सहृदय काव्य के शब्दार्थ को ग्रहण करता है।
2. भावकत्व व्यापार - भावकत्व का अर्थ है साधारणीकरण। इसके द्वारा विभावादि सामान्य प्रतीत होते हैं। भाव न होने पर भाव की वैयक्तिकता का नाश होकर साधारणीकरण हो जाता है। इससे सीता, सीता न रहकर कामिनी मात्र प्रतीत होता हैं। उसी प्रकार रति आदि स्थायी भाव व्यक्तिगत सम्बन्धों से मुक्त होकर शुद्ध सामान्य प्रतीत होता है। नायक-नायिका, प्रेक्षक सभी का वैयक्तिक तत्त्व समाप्त होकर साधारणीकरण अनुभव रह जाता है। रजोगुण और तमोगुण का लोप होकर साधारणीक त अनुभव रह जाता है। रजोगुण और तमोगुण का लोप होकर सतोगुण का उद्रेत हो जाता है।
3. भोजकत्व - जिस व्यापार द्वारा साधारणीकरण स्थायी भाव का रस रूप में भोग होता है, उसे भोजकत्व कहते हैं। यह भोग लौकिक अनुभव से भिन्न होता हैं। यह आनन्द 'ब्रह्मानन्द-सहोदर कहलाता है।
संयोग का अर्थ - भोज्य-भोजक
निष्पत्ति का अर्थ - भोग या भुक्ति

रस की स्थितिः भट्टनायक के अनुसार रस की स्थिति सहृदय सामाजिक में है क्योंकि स्थायी भाव की स्थिति सहृदय के चित्त में होती है। रस की स्थिति भी सहृदय के चित्त में माननी पड़ेगी।

शक्तिः

1. भट्टनायक का सबसे बड़ा योगदान उनका साधारणीकरण सिद्धान्त है।
2. उन्होनें रस को विषयीगत माना। इनकी रस सम्बन्धी व्याख्या से रस की आत्मगत स्थिति को प्रधानता प्राप्त हुई।
3. रस की आनन्दरूपता का सर्वप्रथम विभ्रान्त विवेचन किया।

सीमाः

1. भट्टनायक ने 'भावकत्व' और 'भोजकत्व' नामक जिस काव्य-व्यापारों की कल्पना की है वह शास्त्र सम्मत नहीं है। इन दोनों का कार्य प्रमाण-सिद्ध व्यंजना से ही चल जाता है।
2. रसास्वाद या काव्यानन्द चित्त की आत्मा में विश्रान्ति का नाम हैं यह विश्रान्ति सत्य गुण के उद्रेक की अवस्था में होती है। जब रज और तम का शमन हो जाता है किन्तु सर्वथा अभाव नहीं होता, अतः यह आत्म विश्रान्ति से हीनतर है अर्थात् ब्रह्मास्वाद विधि है, ब्रह्मास्वाद नहीं।

IV. अभिनवगुप्त का मत (अभिव्यक्तिवाद)

इस सूत्र के चौथे व्याख्याता है - आचार्य अभिनवगुप्त। ये शैव मतावलम्बी आचार्य हैं। इन्होंने शुद्ध साहित्यिक द ष्टि से रस सिद्धान्त का निरूपण किया है। अभिनवगुप्त के मत का सारांश यह है-

सहृदय जन लोक में रति आदि भाव संस्कार रूप में विद्यमान होते हैं। वे सहृदय जन-लोक में ललना आदि (कारणों) के द्वारा रति आदि का अनुमान करने में निपुण होते हैं। काव्य नाट्य में कारण आदि को त्यागकर वे ललनादि अलौकिक विभाव आदि का रूप धारण कर लेते हैं तथा काव्य की शक्ति से सामान्य विभाव आदि के रूप में प्रतीत होने लगते हैं। सहृदयों में स्थित रति आदि भाव इन्हीं के द्वारा व्यंजना से अभिव्यक्त होकर आस्वादित किया जाता है। इस प्रकार का विलक्षण आस्वाद ही रस कहलाता है। यह स्थायी भाव से विलक्षण है।

अभिनवगुप्त का मत भट्टनायक से सर्वथा भिन्न नहीं है। वह भट्टनायक के साधारणीकरण तथा रसोद्रेक के समय सतोगुण के प्राधान्य की बात को बिना संशोधन स्वीकार कर लेते हैं। अभिनवगुप्त भावकत्व और भोजकत्व के स्थान पर व्यंजना को आरूढ़ करना चाहते हैं।

संयोग का अर्थ - व्यंग्य-व्यंजक

निष्पत्ति का अर्थ - अभिव्यक्ति।

रस का स्थान - अभिनवगुप्त के मतानुसार सहृदय के अन्तःकरण में इत्यादि स्थायी भाव विभावादि द्वारा व्यंजक भाव से अभिव्यक्त हो जाते हैं। ठीक उसी प्रकार मिट्टी में गंध पहले से ही विद्यमान रहती है और जिस प्रकार जल के छींटे पड़ने पर वह गंध व्यक्त हो जाती है उसी प्रकार विभावादि के संयोग के रसरूपी नया तत्त्व व्यक्त होता है। रस स्थायी भाव में नहीं है और न विभावादि में अलग उसकी सत्ता मानी जा सकती है अपितु दोनों के संयोग मे निहित है रस की निष्पत्ति सामाजिक में होती है।

शक्तिः

1. अभिनव ने सर्वप्रथम रस के एकान्त सहृदयनिष्ठ रूप की प्रतिष्ठा की। रस की आस्वादरूपता का विभ्रात शब्दों में प्रतिपादन किया।
2. अभिनव ने रस-विवेचन की प्रमुख सिद्धि समष्टिगत रस की कल्पना है। उन्होंने सामूहिक रस-चेतना में ही रस-चक्र की पूर्णता स्वीकार की है।
3. रस के अलौकिक स्वरूप पर विशेष बल दिया।

सीमाः रस का स्वरूप एकान्त आत्मपरक भाव लेने पर काव्य की सत्ता गौण हो जाती है।

परवर्ती आचार्यों में प्रायः अभिनव के मत को ही स्वीकार किया हैं इनमें धन जय, विश्वनाथ और राज जगन्नाथ का नाम प्रमुख है। इन्होंने व्यंजना व्यापार की महत्ता प्रतिपादित की है।

हिन्दी की काव्यशास्त्रीय परम्परा में आचार्य शुक्ल ने रस की व्याख्या आधुनिक मनोविज्ञान के आलोक में की है-

1. सहृदय पुरुषों के हृदय में वासनारूप में स्थित स्थायी भाव, विभावदि के द्वारा अभिव्यक्त होकर रस के स्वरूप को प्राप्त करती है स्थायी भाव की अनुभूति ही उसकी मानसिक अभिव्यक्ति है।
2. व्यंजना यदि कुछ व्यंजित करती है तो वह है कि (काव्य में) प्रस्तुत भाव श्रोता या दर्शक द्वारा रसरूप में अनुभव किया गया है। पक्ष के मन में कोई रस नहीं होता। जिसकी व्यंजना की जा सके।

निष्कर्षतः- निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि भरत-सूत्र के व्याख्याताओं में अभिनवगुप्त की व्याख्या सर्वाधिक प्रमाणिक है। वे रस-निष्पत्ति का आशय 'रसाभिव्यक्ति' लेते हैं। परवर्ती आचार्यों को भी यही मान्य है। यही उचित प्रतीत होता है।

साधारणीकरण

'साधारणीकरण' रस सिद्धान्त का मूल आधार है। काव्य में वर्णित विशिष्ट रामादि पात्रों के 'भाव' सर्वसाधारण या कम-से-कम सहृदय साधारण के आस्वाद के विषय किस प्रकार हो जाते हैं? यह काव्यशास्त्र का अत्यन्त मौलिक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। काव्य जानव-जीवन का अत्यन्त प्राचीन और मूल्यवान उपकरण है। वह हजारों वर्षो से प्रबुद्ध मानव की आत्माभिव्यक्ति एवं आत्मास्वाद का सुन्दर माध्यम रहा है। किन्तु चिन्तनशील मनुष्य ने जब काव्यास्वाद के विषय में विचार किया तो पहला प्रश्न हुआ कि राम और दुष्यन्त आदि से हमारा क्या सम्बन्ध है? देश-काल का विराट व्यवधान होते हुए भी उनके भाव हमारे आस्वाद के हेतु कैसे बनते हैं? इन प्रश्नों का प्रामाणिक समाधान है।

'साधारणीकरण सिद्धान्त'।

साधारणीकरण का स्वरूपः

साधारणीकरण का अर्थ है - सामान्यीकरण अर्थात् जो साधारण नहीं है उसे साधारण कर देना। ''असाधारणस्य साधारणीकरण इति साधारणीकम्''। जिस वस्तु का साधारणीकरण होता है। वह वस्तु अपनी विशेषताओं को त्यागकर सामान्यरूप में प्रतिष्ठित हो जाती है-भावक की द ष्टि में उसके समस्त वैयक्तिक धर्म ओझल हो जाते हैं।

साधारणीकरण सिद्धान्त के उद्भावक या जन्मदाता है-आचार्य भट्टनायक। वैसे साधारणीकरण के बीज तो भरत के ''नाट्यशास्त्र'' आदि मे भी मिल जाते हैं।

भट्टनायक का मतः

भट्टनायक विभावादि के पूर्ण साधारणीकरण के साथ स्थायी भावों मे विभिन्न सम्बन्धों से मुक्त होने को साधारणीकरण मानते हैं। गोविन्द ठाकुर ने 'काव्यप्रकाश' की टीका 'काव्यप्रदीप' में भट्टनायक के मत को इस प्रकार व्यक्त किया है:-

''भावकत्वं साधारणीकरणम्। तेन हि व्यापारेण विभावादयः स्थायी च साधारणी क्रियन्ते। साधारणीकरणं चैतेदव यत्सीतादि विशेषणा कामिनीत्वादि सामान्येनोपस्थितः। स्था ''अनुभावादिनां च सम्बन्धिविशेषानंवाछित्वेन।''

अर्थात् भावकत्व का अर्थ है साधारणीकरण। इस व्यापार के द्वारा विभावादि का और स्थायी भावों का साधारणीकरण होता है। साधारणीकरण से अभिप्राय है सीतादि विशेष पात्रों का कामिनी आदि सामान्यों रूपों में उपस्थित होना। स्थायी भाव और अनुभाव के साधारणीकरण का आशय है विशिष्ट सम्बन्धों से मुक्ति।

इस व्याख्या के अनुसार विभाव अर्थात् आश्रय, आलम्बन और उद्दीपन, अनुभाव, स्थायी तथा संचारी सभी का साधारणीकरण होता है।

वस्तुतः पहले पाठक या दर्शक राम और सीतादि को विशेषरूप में ही ग्रहण करता है किन्तु बाद में जो कुछ पढ़ता, सुनता या नाटक में देखता है उसे उससे प्रभावित होकर बार-बार उसी का

ध्यान करता है। उस समय देशकाल का बन्धन भी छिन्न-भिन्न हो जाता है। यह आत्मविभोर करनेवाली दशा भावकत्व व्यापार से उत्पन्न होती हैं

भट्टनायक के 'साधारणीकरण सिद्धान्त' का विश्लेषण इस प्रकार है।

1. अभिधा द्वारा काव्यार्थ का बोध।
2. अर्थबोध के उपरान्त भावकत्व व्यापार की सक्रियता।
3. भावकत्व व्यापार के द्वारा विभावादि के विशेष सम्बन्धों का परिहार। यही 'साधारणीकरण है।'
4. भाव्यमान स्थायी भाव भोजकत्व व्यापार द्वारा रसरूप में परिणत हो जाता है।
5. रसानुभूति प्रदान करनेवाली दशा ही 'साधारणीकरण' है।

अभिनवगुप्त का मतः

अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के भावकत्व व्यापार को निराधार और अशास्त्रीय माना है। तथा भावकत्व व्यापार की कल्पना को निराधार बताया है। उनके अनुसार व्यंजनाशक्ति से ही भावकत्व और भोजकत्व का काम चल सकता है और व्यंजना द्वारा ही साधारणीकरण की शक्ति का आविर्भाव होता है। अभिनवगुप्त के अनुसार केवल विभाव और काव्यगत स्थायी भाव का ही साधारणीकरण नहीं होता। अपितु, सामाजिक के स्थायी भाव का भी साधारणीकरण होता है।

अभिनवगुप्त का कथन है कि ''अब आश्रय और आलम्बन दोनों ही देश-काल तथा ममत्व-रत्व के बन्धन से मुक्त हो जाएँगे तब उसका वैशिष्ट्य भी निश्चय ही देश-काल और व्यक्ति संसर्ग ने मुक्त होकर-सामान्य बन जाएगा।''

वस्तुतः भट्टनायक और अभिनवगुप्त के द ष्टिकोणों में बहुत ही सूक्ष्म अन्तर है भट्टनायक का कहना है कि दर्शन कथा के पात्रों को सामान्य बनाकर रसानुभूति करता है किन्तु अभिनवगुप्त का कहना है कि दर्शक निर्लिप्त भाव से यह मानता है कि वस्तु विशेष देखकर मेरे मन में जिस प्रकार आनन्द की अनुभूति होती है, उसी प्रकार प्रत्येक सहृदय के हृदय में होती है।

आचार्य विश्वनाथ का मतः

दर्पणकार विश्वनाथ ने वैसे ही स्थायी भाव और विभावादि सभी का साधारणीकरण माना है किन्तु उन्होनें आश्रय के साथ प्रमाता के अभेद या तादात्म्य को औरों की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया है।

व्यापारो स्ति, विभावादेनम्नि साधारणी क तिः।
तत्प्रभावेण, यस्यासन्पाथोधिप्लव नादयः।।

अर्थात् साधारणीकरण विभावादि का विभावन नामक व्यापार है। इसी के प्रभाव से उस समय प्रमाता अपने को समुद्रलंघन करनेवाले हनुमान आदि से अभिन्न समझने लगता है।

इस प्रकार साधारणीकरण क्रिया के फलस्वरूप प्रमाता साधारण आश्रय से ही नहीं, अपितु अलौकिक आश्रय से भी अभेद सम्बन्ध स्थापित कर लेता है।

निष्कर्षतः- काव्य नाटक गत-विभाव आदि तीनों का व्यापार अर्थात् सम्मिश्रित क्रिया-कलाप साधारणरूप ग्रहण कर लेता है। यह पूर्व विवेचित मतों के अनुसार विशिष्ट का सामान्यीकरण है इसके परिणामस्वरूप हनुमान आदि पात्रों और सहृदय दोनों में अभेद स्थापित हो जाता है। इससे सहृदय दर्शक पात्रों को ही रीति आदि भावों को ग्रहण कर लेने के फलस्वरूप मानसिकरूप से उन्हीं के अनुरूप आचरण करने लगता है यही सामान्य का विशिष्टीकरण है, यही स्थिति रसास्वाद

की भूमिका है। इस प्रकार विश्वनाथ के अनुसार प्रमाता का आश्रय के साथ अभेद या तादात्मय की अवस्था की साधारणीकरण है।

पंडितराज जगन्नाथ का मतः

पं० राज प्रत्यक्षः साधारणीकरण को नहीं मानते। इसके स्थान पर वे 'दोष कल्पना' की बात करते हैं। उनका कहना है कि कुछ आचार्य विभावादि के साधारणीकरण की जो व्याख्या करते हैं, वह दोष की कल्पना के बिना सम्भव नहीं है क्योंकि काव्य में शकुन्तला आदि शब्दों द्वारा शकुन्तला का ही बोध होता है। उससे कान्तात्व या सामान्य नारी का बोध कैसे हो सकता है। वस्तुतः पंडितराज भी एक प्रकार से साधारणीकरण को स्वीकार करते हैं।

हिन्दी आचार्यों के मतः

पंडितराज के बाद गम्भीर शास्त्रीय विवेचन का क्रम प्रायः समाप्त हो गया। हिन्दी के रीति काव्यों का अनुराग काव्यशास्त्र के रोचक एवं सरल प्रसंगों तथा कवि शिक्षा तक ही सीमित रहा। काव्यशास्त्र के इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं मौलिक विषय का विवेचन गतिरुद्ध पड़ा रहा। परवर्ती काल में आचार्य शुक्ल ने अपने ''साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद'' निबन्ध में इस विषय पर गम्भीरता से विचार किया।

आचार्य शुक्ल का मतः

आचार्य शुक्ल का कथन है, ''जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप मे नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उस भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमें रसोद्‌बोधन की पूरी शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।

इससे स्पष्ट है कि शुक्ल जी की द ष्टि अतीत पर न होकर वर्तमान पर ही स्थिर है और इन्होंने इस प्राचीन सिद्धान्त की व्याख्या 'लोक धर्म सिद्धान्त' के आधार पर की है। शुक्ल जी के मतानुसार साधारणीकरण सबका नहीं हो सकता, केवल आलम्बन का ही हो सकता है क्योंकि काव्य रचनाओं और रसास्वाद, दोनों की प्रक्रिया में वही मुख्य है। आलम्बन का अर्थ है- भाव का विषय। उसका साधारणीकरण इस प्रकार होता है कि पहले वह कवि के भाव का विषय बनता है और फिर समस्त सहृदय समाज के भाव का विषय बन जाता है।

इससे स्पष्ट है कि वे आलम्बन धर्म को प्रधानता देते हैं और स्पष्ट कहते हैं कि साधारणीय आलम्बनत्व धर्म का होता हैं। अर्थात् उन सामान्य गुणों का होता है।

व्यक्ति वैचित्र्यवादः

आचार्य शुक्ल ने 'साधारणीकरण सिद्धान्त' का पोषण करते हुए कुछ नए तथ्यों की ओर ध्यान आक ष्ट किया है। उनका मत है कि कल्पना में जो कुछ उपस्थित होगा वह व्यक्ति या वस्तु विशेष ही होगा। सामान्य या जाति विशेष की तो मूर्त भावना हो नहीं सकती।

शुक्ल जी ने एक अन्य तथ्य की ओर संकेत किया है, ''आलम्बनत्व धर्म के साधारणीकरण की प्रक्रिया में आलम्बन पहले कवि के भावों का विषय बनता है, फिर उन भावों को कवि, काव्य में आश्रय के माध्यम से व्यक्त करता है। और तत्पश्चात् सहृदय उनको अनुभूत करता है।'' स्पष्टतः शुक्ल जी कहना चाहते हैं कि साधारणीकरण तीनों का होता है-आलम्बन, कवि और सहृदय का, परन्तु साधारणीकरण का मूल तत्त्व आलम्बन धर्म ही है।

शुक्ल जी के मत भी भट्टनायक की भाँति आलम्बनत्व के साधारणीकरण की बात को स्वीकार करते हैं।

शुक्ल जी ने रसावस्था की एक निम्न अवस्था को भी स्वीकार किया है जो स्पष्टतः आचार्य विश्वनाथ के मत का प्रभाव है जिसमें वे साधारणीकरण की दो स्थितियाँ मानकर चलते हैं।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयीः

वाजपेयी का मत है कि सहृदय का कवि की भावना तक पहुँच जाना ही साधारणीकरण है। भावना द्वारा साधारणीकरण की विवेचना करते हुए लिखते हैं, ''साधारणीकरण का अर्थ रचयिता और उपभोक्ता के बीच भावना का तादात्म्य हैं साधारणीकरण वास्तव में कवि-कल्पित' व्यापार का होता है, केवल किसी पात्र विशेष का नहीं।''

डॉ० नगेन्द्र का मतः

डॉ० नगेन्द्र भरत के इस कथन, 'एभ्यश्च सामान्य गुण योगेनरसा निष्पद्यन्ते' के आधार पर रस की स्थिति कवि और सहृदय दोनों को मानते हुए कवि की अनुभूति का साधारणीकरण मानते हैं। उनके मतानुसार काव्य प्रसंग का साधारणीकरण हो जाता है। उनके अनुसार, ''काव्य प्रसंग तो अपने आप में जड़ है- उसका प्रभावशाली अंश तो उससे ध्वनित होनेवाला अर्थ है और यह अर्थ वास्तव में कवि का सम्बन्ध अथवा उसकी 'सर्जनात्मक अनुभूति' है। अतः सर्वांग के साधारणीकरण के पूर्व कवि की अनुभूति का साधारणीकरण अनिवार्य है। अतः निष्कर्ष यही निकाला कि साधारणीकरण कवि की अपनी अनुभूति का होता है, अर्थात् जब कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति को इस प्रकार अभिव्यक्त कर सकता है कि वह सभी के हृदय के समान अनुभूति लगा सके तो पारिभाषिक शब्दावली में हम कहते हैं कि उसमें साधारणीकरण की शक्ति वर्तमान है।''

डॉ० नगेन्द्र का आशय यह है कि जब तुलसी का रावण राम की भर्त्सना करता है जब हमारे हृदय में रावण के प्रति तुच्छ या भाव या घ णा उत्पन्न होती है क्योंकि कवि का यही अभिप्रेत है और जब माइकेल्ड मधुसूदनदत्त के 'मेघनाथ वध' के भावन पर हम मेघनाथ के प्रति सहानुभूति प्रकट करते हैं तो इसका कारण भी यही है कि वह स्वयं उनके प्रति साहनुभूति पूर्ण है। अतः आलम्बन का अभिप्राय है- कवि की अनुभूति का संवेद्य रूप, और इसी का साधारणीकरण होता है। इस प्रकार डॉ० नगेन्द्र ने यह सिद्ध किया कि भट्टनायक अभिनवगुप्त तथा शुक्ल जी इसी बात को कहना चाहते थे, किन्तु अपने वस्तुवादी द ष्टिकोण तथा भारतीय काव्यशास्त्र की निर्वेयक्तिक चेतना के कारण इस सत्य को स्पष्ट नहीं कर सके।

पाश्चात्य समीक्षक और साधारणीकरणः

मनोविज्ञान की द ष्टि से विचार करनेवाले पाश्चात्य समीक्षकों ने विभावादि के साधारणीकरण की चर्चा न करके भाव तादात्म्य पर ध्यान दिया है और उस स्थिति को व्यक्त करने के लिए इम्पैथी शब्द का प्रयोग किया है। तदनुभूति (Empathy) की दशा में सहृदय और भोक्ता कवि और पाठक दोनों का व्यक्तित्व एक हो जाता है। मनोविज्ञान के विद्वान ए०ई०मैण्डर (A.E. Mander) ने लिखा है -

"Empathy Cannotes the state of the reader or spectator who has last for a while his personal sey consciousness and is identifying himself with some charactor in the story or screen"?

(Psychology for every man or woman (P. 59)

अर्थात् भाव तादात्म्य या तदनुभूति पाठक या दर्शक की वह मानसिक दशा है, जिसमें वह थोड़ी देर के लिए अपनी वैयक्तिक आत्म-चेतना को भूलकर नाटक या सिनेमा के किसी पात्र के साथ अपना तादात्मय स्थापित कर लेता है।

इसी प्रकार के विचार रिचर्ड्स और क्रोचे ने भी व्यक्त किए हैं। इनके अनुसार किसी कवि की रचना का रसास्वादन करने के लिए हमको इसके धरातल तक पहुँचना चाहिए।

उपसंहारः

निष्कर्षतः साधारणीकरण के इस सिद्धान्त का उद्‌भावन और व्यवस्थित विवेचन भट्‌टनायक ने किया है तथा उसे शास्त्रीयरूप देने का श्रेय आचार्य अभिनवगुप्त की है। आचार्य शुक्ल और डॉ० नगेन्द्र की मान्यता का विश्लेषण भी यही है कि साधारणीकरण का व्यापार आलम्बन से प्रारम्भ तथा प्रेरित होता है और अन्त उसी के द्वारा संचारित होता है किन्तु रचना में आश्रय, कवि तथा सामाजिक तीनों का सहयोग आवश्यक है। रसानुभूति के लिए एक प्रकार की भावमूलक तन्मयता अपेक्षित होती है। इसी तन्मयता को काव्यशास्त्रीय भाषा में साधारणीकरण भी कहा गया है। वास्तव में जिस साहित्य का साधारणीकरण का आधार टूटा हुआ है वह कभी भी सामाजिकों में स्थान नहीं बना सकता। कवि की उसी अनुभूति का साधारणीकरण संभव है जो विभावादि के माध्यम से कलात्मक औचित्य प्रापत करके सहृदय संवेद्य रूप में व्यक्त हो। अतः विभावादि, स्थायी भाव, कवि की अनुभूति आदि का साधारणीकरण तिरोभाव के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

सहृदय की अवधारणाः

सहृदय शब्द का अर्थ है- समान हृदय वाला। कवि, कलाकार मूर्तिकार या शिल्पी के हृदय में जो विशिष्ट भाव रहते हैं उसको वही अनुभव कर सकता है जो उसी प्रकार की अनुभूति सम्पन्न हृदय रखता हो। रचनाकार के हृदय में जो व्याकुलता होती है उसे रूप देने का प्रयत्न ही कला है। उसके लिए कवि या कलाकार को साधना की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार की व्याकुलता कवि या कलाकार के चित्त में होगी उसी प्रकार की व्याकुलता उसकी क ति या रचना सहृदय के हृदय में उत्पन्न कर सकती है उससे ज्यादा नहीं, इसलिए यदि कवि या कलाकार समाधिनिष्ठ हो सकता है तो बदले में सहृदय को भी समाधिनिष्ठ कर सकता है यदि वह शिथिल समाधि है तो सहृदय की भी समाधि शिथिल होगी।

समाधि का अर्थ है-इन्द्रियों का बाहरी विषयों से निव त होकर अन्तर्मुखी होना। भारतीय आचार्यो के अनुसार जब तक कवि के चित्त में स्वयं रसानुभूति नहीं होती तब तक वह सहृदय को भी रस बोध नहीं करवा सकता। कवि या रचनाकार अन्तरतम की रसानुभूति को रूप देता है। और सहृदय उस रूप का ब्राह्य प्रत्यक्ष करके अन्तर्मुखी होता है।

काव्य के प्रसंग में रस लोकोत्तर अनुभूति है, ऐसा सभी आचार्यों का कहना है। इसका अर्थ यह है कि लोक में जो लौकिक अनुभूति होती है उससे भिन्न कोटि की यह अनुभूति है। प्रत्यक्ष जीवन में राम और सीता का प्रेम है वह लौकिक है, परन्तु नाटक या काव्यस्वादन से जो सीता और राम हमारे चित्त में बनते हैं वे उससे भिन्न हैं।

वस्तुतः सामाजिक या सहृदय के हृदय में संस्काररूप में सूक्ष्मतया स्थिति रति आदि स्थायी भाव होते हैं। जिनके हृदय में ये संस्काररूप में सूक्ष्मतया स्थिति रति आदि स्थायी भाव होते है और जिनके हृदय में ये संस्कार जितने जागरूक होते हैं, वे उतना ही अधिक रसास्वादन कर सकते हैं। वासना रूप से स्थित स्थायीभाव भी उन्हीं सामाजिकों में सम्यक् अभिव्यक्त होता है, जिन्होनें लौकिक जीवन में ललना, उद्यान तथा कटाक्ष आदि के द्वारा रति आदि की बार-बार अनुभूति की है और उसमें निपुणता प्राप्त करती है अर्थात् जो रसिक हैं, विरक्त नहीं हो गए हैं इस प्रकार सहृदय सामाजिकों में ही इत्यादि भाव की अभिव्यक्ति हुआ करती है और सहृदयता के लिए सहज संस्कार आवश्यक है। इसीलिए आचार्यों ने सहृदय को 'सवासन' कहा है।

अर्थात् 'सकल सहृदय संवाद भाजा' समस्त सहृदयों की समान अनुभूति का विषय।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार सहृदय पहले बाह्यरूप को प्रत्यक्ष करता है और फिर धीरे-धीरे सूक्ष्म से सूक्ष्मतर तत्त्व की ओर जाता है।

उदाहरणार्थ लोक में 'घट' शब्द का अर्थ है, मिटट्ी का बना हुआ पात्र विशेष। किन्तु यह घड़ा स्थूल होता है। यदि हम शब्द का उच्चारण मन-ही-मन करें तो 'घड़ा' पद और 'घड़ा' पदार्थ सूक्ष्म रूप में चित्त में आ जाते हैं। इस प्रकार जो मानस मूर्ति तैयार होती है वह सूक्ष्म कही जाती है। इस प्रकार स्थूल जगत् के सिवा एक सूक्ष्म जगत् की मानसमूर्ति रचने की सामर्थ्य मनुष्य मात्र में है। इसे ही भाव जगत् कहते हैं। लोक में जो घड़ा है वह स्थूल जगत् का अर्थ है। मानस अर्थ भाव जगत् का अर्थ है। 'घर' नामक पद का यह अर्थ सूक्ष्म है और लोक में प्रचलित स्थूल अर्थ से यह भिन्न है।

3. अलंकार-सिद्धान्त

अलंकार की अवधारणा

'अलंकार' शब्द अलम् पूर्वक कृ धातु से निष्पन्न हुआ है। इसकी व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जाती हैः प्रथम, 'अलंकारोतीति अलंकार' अर्थात् जो आभूषित करता है, वह अलंकार है। द्वितीय, 'अलंक्रियते नेनेत्यलंकार' अर्थात् जिसके द्वारा कोई पदार्थ आभूषित हो, उसे अलंकार कहते हैं। अर्थ की द ष्टि से दोनों व्युत्पत्तियों में कोई अन्तर नहीं है। अलंकार का अर्थ है - आभूषण, जो किसी को आभूषित करें। जिस प्रकार हार, कुण्डल आदि आभूषण किसी रमणी की शोभा की अभिव द्धि करते हैं, उसी प्रकार कविता-कामिनी की सौन्दर्य-व द्धि करनेवाले को उपमा-अनुप्रास आदि अलंकार कहते हैं। ये अलंकार काव्य-सौन्दर्य को पूर्णता या पर्याप्तता प्रदान करते हैं। इस प्रकार ये वाणी के अलंकार हैं। आचार्य दण्डी ने काव्य के सभी शोभादायक धर्मों को अलंकार मानते हुए कहा है-

'काव्यशोभाकरान्धर्मानलंकारन् प्रचक्षते।'

अर्थात् काव्य-सौन्दर्य के कारणभूत धर्मों को अलंकार कहते हैं। भाव यह है कि वे धर्म या तत्त्व जो काव्य में सौन्दर्य-व द्धि करते हैं उसे यह पूर्णता प्रदान करते हैं, अलंकार कहे जाते हैं। इनसे भावों में रमणीयता एवं प्रेषणीयता तथा अभिव्यक्ति में स्पष्टता तथा सौन्दर्य सम्पन्नता उत्पन्न होती है। अतः काव्य में इनकी उपयोगिता सर्वस्वीकार्य है।

अलंकारों की उपयोगिता को एक उदाहरण से भली-भाँति समझा जा सकता है। कविवर जयशंकर प्रसाद ने श्रद्धा के मुखण्डल के चारों ओर घिरे केशपाश का चित्र इस प्रकार अंकित किया है-

घिर रहे थे घुँघराले बाल
अंस अवलम्बित मुख के पास।
नील घन शावक से सुकुमार
सुधा भरने को विधु के पास।।

प्रसाद जी के उक्त छन्द के प्रथम दो चरणों में ही अपने प्रतिपाद्य को व्यक्त कर दिया है कि श्रद्धा के मुख के चारों ओर उसके कुंचित केशपाश कन्धे का सहारा लेकर घिरे हुए थे। यदि मात्र इतने को ही काव्य मान लिया जाए तो समझिए कि भोजन से तात्पर्य मात्र रोटियों से ही रहा। केवल रोटियाँ तो ग्राह्य नहीं होती, सब्जी, दही, अचार, चटनी आदि ग्राह्य एवं रोचक बनाते हैं। इसी प्रकार केवल वर्ण्य, कामिनी के कमनीय, किन्तु नग्न कलेवर के समान, ग्राह्य नहीं होता। अलंकार-विधान उसे ग्राह्य बनाता है, अभिव्यक्ति को पूर्णता प्रदान करता है। पूर्णता प्रदान के लिए ही, प्रसाद जी अन्तिम दो चरणों में कहते हैं कि ऐसा प्रतीत होता है, मानों बादलों के सुकुमार बच्चे चन्द्रमा के पास अम त भरने के लिए आए हों। चन्द्रमा को सुधावर कहते हैं, उसमें सुधा का वास माना जाता है। वह मुख का उपमान है। मुख की अम तयता की कितनी सहज तथा सरल व्यंजना है। किशोरी नायिका का मुख, उसमें अम त का वास क्यों न हो? दार्शनिकों की बात छोड़िए और सहृदय

सामाजिक की द ष्टि से विचार कीजिए। मुख की पूर्ण व्यंजनाएँ उपमान में सन्निहित है। अब लीजिए केशपाश को, उन्हें सुकुमार नीलघन शावक कहना कितना उपयुक्त, मार्मिक तथा हृदयाह्लादक है। केशपाश को शावक कहकर उसकी सजीवता, मनोरमता, सुकुमारता, स्निग्धता आदि की अभिव्यक्ति सहज ही कर दी है। यह सम्पूर्ण व्यंजनाएँ प्रसाद जी ने अलंकार-विधान के माध्यम से की है। अतः स्पष्ट है कि अलंकार भावों को रमणीयता एवं प्रेषणीयता तथा अभिव्यक्ति की स्पष्टता एवं सौन्दर्य सम्पन्नता प्रदान करते हैं। काव्य उन्हीं से पूर्णता को प्राप्त होता है।

अलंकार सिद्धान्त की प्रमुख स्थापनाएँ

यों तो वैदिक संहिताओं में भी अनेक स्थलों पर उपमा, रूपक, विरोधाभास विभावना आदि अलंकारों के रम्य प्रयोग मिलते हैं। लेकिन सिद्धान्त निरूपण की द ष्टि से प्रथम ग्रन्थ यास्क का 'निरुक्त' ही कहा जा सकता है। वेदों में अलंकारों का पुष्कल प्रयोग देखकर ही यास्क ने उनके सम्यक् विश्लेषण का प्रयास किया है। उन्होंने उपमा की परिभाषा दी है - 'यद् अतत् तत्सद शम् इति गार्म्यः अर्थात् गार्म्य का कथन है कि जब एक वस्तु दूसरी वस्तु से भिन्न रहे, किन्तु दोनों में थोड़ा-सा साम्य रहे तो उपमा होती है। यास्क के उपरान्त पाणिनि ने अपने व्याकरण में उपमा के साथ ही चारों अंगों - उपमेय, उपमान, साधारण धर्म तथा वाचक का भी निरूपण किया है। भरत मुनि ने 'नाट्यशास्त्र' के सोलहवें अध्याय के 43 से 87 तक 45 श्लोकों में उपमा, रूपक, दीपक और यमक का विवेचन किया है। उपमा के पाँच तथा यमक के दस भेदों का विस्त त विवेचन किया गया है तथा अन्य दो अलंकारों का संक्षिप्त। इस प्रकार भामह से पूर्ण अलंकारों का सैद्धान्तिक विवेचन प्रारम्भ हो गया था।

भामह - भामह अलंकार सम्प्रदाय के प्रथम आचार्य हैं। यद्यपि उन्होंने कई पूर्ववर्ती आचार्यो का उल्लेख किया है, किन्तु उनकी कृतियाँ आज तक उपलब्ध नहीं हो सकीं। भरत के पश्चात् भामह का 'काव्यालंकार' ही प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ है। भामह ने 'काव्यालंकार' में अलंकार, वर्णविन्यास, अतिशयोक्ति, वक्रोक्ति, गुण आदि तत्त्वों का विवेचन किया है। इन सभी तत्त्वों में अलंकार सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। उनका मत है - 'न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्' अर्थात् जिस प्रकार नारी का मुख सुन्दर होने पर आभूषणों के अभाव में शोभित नहीं होता, उसी प्रकार कविता अलंकारों के अभाव में सुशोभित नहीं होती। इस प्रकार वे काव्य में नित्य धर्म हैं, उनके अभाव में काव्य शोभित नहीं होता।

भामह ने अलंकारों के मूल में वक्रोक्ति को स्वीकार किया है। उनके विवेचन में, वक्रोक्ति अलंकार विशेष नहीं, बल्कि सम्पूर्ण अलंकारों की प्राणभूत अतिशय उक्तिरूप है। भामह के अनुसार वक्रोक्ति ऐसी शब्दोक्ति है, जो वक्र अर्थ की विधायक हो। अर्थ को सम्पन्न बनानेवाली सभी विधा ही वक्रोक्ति है। अतः उसके अभाव में कोई अलंकार हो ही नहीं सकता। परम्परानुमोदित अलंकारों में हेतु, सूक्ष्म, वेश और स्वाभावोक्ति का उन्होंने इसीलिए खण्डन किया है, क्योंकि उनके मूल में वक्रोक्ति का अभाव होता है।

भामह ने अड़तीस अलंकारों का विवेचन किया है। इनमें कितने परम्परा प्राप्त हैं और कितने उनके द्वारा अन्वेषित - यह कहना कठिन है। केवल इतना कहा जा सकता है कि सभी भामह द्वारा अन्वेषित नहीं है। उनके समय तक अलंकारों का वर्गीकरण नहीं किया गया था। स्वयं उन्होंने अलंकारों का क्रम किसी तर्कसंगत आधार पर तय नहीं किया है। लाटानुप्रास, ग्राम्यानुप्रास, दीपक आदि कई अलंकारों के लक्षण न देकर, केवल उदाहरण दे दिए हैं।

भामह के समय में गुण और अलंकारों का विवाद तो नहीं था, किन्तु यह विवाद अवश्य था कि शब्दालंकार अधिक रमणीय है या अर्थालंकार। उन्होंने इस प्रचलित धारणा का खण्डन किया कि

अर्थालंकारों की अपेक्षा शब्दालंकार अधिक रमणीय होते हैं। उनका मत है कि हमें तो शब्दालंकार एवं अर्थालंकार दोनों से सम्पन्न काव्य ही अधिक आकर्षक लगता है।

दण्डी - भामह के उपरान्त दूसरे अलंकारवादी आचार्य दण्डी हैं। इन्होंने अपने ग्रन्थ 'काव्यादर्श' के अधिकांश में अलंकारों का ही विवेचन किया है। अलंकार की परिभाषा देते हुए काव्य के सभी शोभादायक धर्मों को अलंकार नाम दिया है - 'काव्यशोभाकरान्धर्मानलंकारन् प्रचक्षते'। इस परिभाषा के अनुरूप ही उन्होंने सभी शोभादायक तत्त्वों को अलंकार की परिधि में खींचना चाहा है। उन्होंने आठ रसों को रसवत्, स्नेह, प्रीति आदि प्रीतिकार भावों को प्रेयः तथा गर्वोक्ति आदि ऊर्जास्व अलंकार माना है। इतना ही नहीं, काव्यशोभा के धर्मगुण, रीति, सन्धि, सन्ध्यंग, व त्ति व त्यंग, लक्षण आदि तत्त्वों को भी अलंकारों में समेटने का प्रयास किया है। इस प्रकार दण्डी के विवेचन से स्पष्ट है कि काव्यशोभा के सम्पूर्ण तत्त्व अलंकार है भले ही वे किसी भी स्तर के क्यों न हो। इसीलिए आचार्य दण्डी ने समस्त सौन्दर्यदायक तत्त्वों को, भले ही वे नाट्य से सम्बद्ध हो, अलंकार नाम दिया है। जिस प्रकार आचार्य भामह ने सम्पूर्ण अलंकारों का आश्रय वक्रोक्ति को स्वीकारा है, उसी प्रकार दण्डी सम्पूर्ण अलंकारों का आश्रय अतिशयोक्ति को स्वीकारते हैं। उनका मत है कि शब्दार्थ-वैचित्र्य ही अलंकार है। यह वैचित्र्य अतिशयोक्ति के अधीन रहने के कारण, वह सभी अलंकारों में सामान्यतः रहती है, परन्तु उस वैचित्र्य का कथन-भंगिमा के अनुसार भिन्न-भिन्न नाम से व्यवहार होता है।

आचार्य दण्डी का ध्यान भी काव्य-शरीर तथा उसके अलंकारों तक ही परिमित रहा है। भामह से कुछ हटकर उन्होंने इष्टार्थ से युक्त पदावली को काव्य माना है - 'शरीरं तावदिष्टार्यव्यवच्छिन्ना पदावली' अर्थात् इष्टार्थ से समन्वित पदावली ही काव्य का शरीर है। सम्पूर्ण सौन्दर्य-तत्त्व उस काव्य-शरीर के अलंकार है। काव्य-शरीर और उसके अलंकार से आगे आत्मतत्त्व की ओर दण्डी का ध्यान नहीं गया, न ही उन्होंने कहीं अलंकारों को काव्य की आत्मा कहा है। वे उन्हें सौन्दर्यकारक धर्म कहते हैं।

उद्भट - अलंकारवादी आचार्यों में भट्ट उद्भट का नाम भी महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने 'काव्यालंकार सारसंग्रह' के अतिरिक्त 'भामहविवरण' नाम से भामह के 'काव्यालंकार' पर टीका भी लिखी है। उद्भट का अलंकार विवेचन अत्यन्त मौलिक तथा महत्त्वपूर्ण है। भामह का उन पर पर्याप्त प्रभाव है। भामह की जिन परिभाषाओं से वे सहमत हैं, उन्हें शब्दान्तर से कहना उन्हें उपयुक्त नहीं लगा। उन्होंने अतिशयोक्ति, विभावना, यथासंख्य, सहोक्ति, सन्देह और अनन्वय अलंकारों की परिभाषाएँ भामह से यथावत् ग्रहण की है, किन्तु इससे उनकी प्रतिभा पर प्रश्नचिन्ह नहीं लगता। पुनरुक्तवदाभास, लाटानुप्रास, निदर्शना, काव्यलिंग और द ष्टान्त - ये पाँच ऐसे अलंकार है, जिनका विवेचन किसी भी पूर्ववर्ती आचार्य ने नहीं किया। रसवत्, प्रेयः अर्जस्वः समाहित तथा श्लिष्ट - इन पाँचों अलंकारों की भामह तथा दण्डी की परिभाषाएँ अत्यन्त अस्पष्ट हैं। उद्भट ने इनके स्पष्ट लक्षण प्रस्तुत किए है। भामह द्वारा अस्वीकृत, किन्तु दण्डी द्वारा मान्य लेश, सूक्ष्म तथा हेतु को इन्होंने भी अस्वीकृत कर दिया। भामह तथा दण्डी दोनों ने उत्प्रेक्षावयव, उपमा, रूपक तथा यमक इन तीनों अलंकारों को उत्प्रेक्षा के अन्तर्गत माना था, किन्तु उद्भट ने इनको नहीं माना। इस प्रकार यद्यपि उन पर भामह का पर्याप्त प्रभाव है, तथापि उनकी नवनवोन्मेषालिनी प्रतिभा सर्वत्र स्फुरित होती रही है। उन्होंने भामह की अनेक परिभाषाएँ यथावत् ग्रहण करके भी उनका अन्धानुकरण नहीं किया है।

वामन - वामन रीति-सम्प्रदाय के प्रर्वतक होते हुए भी अलंकारवादी वर्ग में आते हैं। उनका 'काव्यालंकार सूत्रव त्रि काव्यशास्त्रीय परम्परा का सूत्र-शैली में निबद्ध एकमात्र ग्रन्थ है।

वामन गुण तथा अलंकार दोनों से सम्पन्न शब्दार्थ को ही काव्य मानने के पक्षधर हैं। उनके शब्दों

में 'काव्यशब्दों यंगुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थतयोः वर्तते' अर्थात् गुण और अलंकार से संस्कृत शब्दार्थ ही काव्य है। उनकी द ष्टि में अलंकारों की अपेक्षा गुण अधिक महत्त्वपूर्ण है। गुण काव्य में नित्य धर्म है। वे काव्य-शोभा को उत्पन्न करनेवाले धर्म हैं - 'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः।' अलंकार उस शोभा को बढ़ानेवाले हेतु हैं 'तदतिशयहेतवस्तवलंकाराः'। इस प्रकार गुण काव्य के नित्य धर्म है और अलंकार उसके सहायक मात्र। अलंकार काव्य को रोचक एवं ग्राह्य बनाते हैं, उनके अभाव में काव्य ग्राह्य नहीं होता। समस्त सौन्दर्यदायक तत्त्व ही अलंकार कहलाते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि वामन के द ष्टिकोण में गुण काव्य के नित्य धर्म हैं और अलंकार अनित्य, किन्तु अलंकारों का महत्त्व उनसे कम कदापि नहीं है, क्योंकि वे ही काव्य को रोचक एवं ग्राह्य बनाते हैं।

रुद्रट - अलंकार-सम्प्रदाय में रुद्रट का नाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने 'काव्यालंकार' के सोलह में से ग्यारह अध्यायों में अलंकारों का विवेचन किया है। इनके महत्त्व के निम्न कारण है। प्रथम, इन्होंने पूर्वाचार्यों द्वारा निरूपित छत्तीस अलंकारों के साथ पच्चीस नूतन अलंकारों का आविष्कार किया और लगभग सभी अलंकार परवर्ती आचार्यों को मान्य हुए हैं। इतने अलंकारों के अविष्कार का श्रेय केवल रुद्रट को ही है, अन्य को नहीं। द्वितीय, इन्होंने वैज्ञानिक आधार पर अलंकारों के वर्गीकरण का प्रयास किया, जो उस युग में एक नितान्त मौलिक बात थी। इन्होंने वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष इन चारों को अलंकारों का विभाजक तत्त्व माना है और इसी आधार पर चार विभाग किए हैं। त तीय, इन्होंने रस और अलंकार दोनों को स्वतन्त्र घोषित किया और रसवत् अलंकार न मानकर रस निरूपण स्वतंत्र रूप से किया है।

आचार्य रुद्रट के पश्चात् संस्कृत-काव्यशास्त्र में ध्वनि का उदय होता है, जिसमें रस-ध्वनि को प्रतिष्ठापित किया गया। परवर्ती आचार्य या तो ध्वनिवादी हैं या ध्वनि-विरोधी। अभिनवगुप्त, मम्मट आदि प्रथम वर्ग में आते हैं तो कुन्तक, महिमभट्ट, मुकुलभट्ट द्वितीय वर्ग में। तात्पर्य यह है कि अलंकारों को काव्य का सर्वस्व माननेवाली परम्परा प्रायः यहीं विलीन हो जाती है। इसका तात्पर्य यह है कि आगे अलंकार-विवेचन ही नहीं हुआ। अलंकार पर महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे गए, उनका महत्त्व प्रतिपादित किया गया और यहाँ तक कहा गया कि जो व्यक्ति काव्य को अलंकाररहित मानता है, वह अग्नि को उष्णतारहित क्यों नहीं स्वीकारता-

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्ण मनलं कृती।।

लेकिन रस और ध्वनि के व्यापक महत्त्व के समक्ष उनकी बात मान्य नहीं हो सकी। परवर्ती आचार्यों में महत्त्वपूर्ण नाम है - राजानक, रुय्यक, जयदेव तथा अप्पय दीक्षित। रुय्यक और अप्पय दीक्षित दोनों आचार्यों ने केवल अलंकारों का विवेचन किया है। इनके ग्रन्थ हैं - रुय्यक का 'अलंकार-सर्वस्व' तथा दीक्षित का 'कुवलयानन्द'। ये दोनों ही अलंकार निरूपण के प्रौढ़ ग्रन्थ है। अलंकारों के सूक्ष्म एवं स्पष्ट ज्ञान के लिए इनका महत्त्व आज भी मान्य है। जयदेव का 'चन्द्रालोक' दस मयूखों में लिखा गया है। जिसमें सम्पूर्ण काव्यशास्त्र का विवेचन हुआ है, लेकिन उसका महत्त्व अलंकार-निरूपण के कारण ही है। 'चन्द्रालोक' में एक ही श्लोक में लक्षण-उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। अपनी इस शैली के कारण यह ग्रन्थ बहुत लोकप्रिय हुआ है। शिशुओं को अलंकार रटाने के लिए आज भी इस ग्रन्थ को महत्त्व दिया जाता है।

अलंकारों का वर्गीकरण

सामान्यतः कथन-भंगिमाओं को ही अलंकार नाम से अभिहित किया जाता है। कथन-भंगिमाएँ अनन्त हैं, अतः अलंकारों की संख्या भी अन्तिमरूप से निश्चित नहीं की जा सकती। भेदों की इस

अनन्तता में भी कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी अन्य अलंकार से साम्य बना रहता है। उक्ति वैचित्र्य की विभिन्नता होने पर भी कुछ अलंकारों की मूल प्रव त्तियाँ ऐसी होती हैं, जिनके आधार पर उनके कुछ वर्ग बनाए जा सकते हैंः यथा उपमा, रूपक तथा उत्प्रेक्षा तीनों में उक्तिवैचित्र्य की द ष्टि से अनन्तर है किन्तु तीनों ही अलंकार साद श्यमूलक तत्त्वों पर आधारित है। अतः इन्हें एक वर्ग में रखा जा सकता है। अलंकारों का सर्वाधिक प्रसिद्ध वर्गीकरण शब्द परिव त्ति सहत्व के आधार पर हुआ है। इस आधार पर अलंकारों के शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार अलंकार के तीन भेद हैं-

शब्दालंकार - जब अलंकार किसी शब्द विशेष पर अवलम्बित होता है अर्थात् उस शब्द विशेष के स्थान पर अन्य समानार्थक रख देने पर अलंकार का अस्तित्त्व ही समाप्त हो जाए तो उसे शब्दालंकार कहते हैं। यह एक छन्द से स्पष्ट किया जा सकता है-

द्विज द्रोही न बचहिं मुनिराई।
जिमि पंकजवन हिम ऋतु आई।।

उपयुक्त चौपाई में श्लेष अलंकार है। 'द्विज' शब्द अनेकार्थक है। उसके प्रचलित अर्थ हैं - ब्राह्मण और चन्द्रमा। द्विज के ये दोनों अर्थ लेने पर चौपाई के दो अर्थ निकलते हैं। प्रथम, हे मुनिराज! ब्राह्मणों से द्वेष करनेवाला व्यक्ति कभी भी विनाश से नहीं बच सकता। जिस प्रकार कमल-वन वर्षा ऋतु आने पर नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार ब्राह्मणद्रोही शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि सूर्य से प्रेम तथा चन्द्रमा से द्वेष करनेवाला कमल-वन वापस ऋतु में स्वयं ही नष्ट हो जाता है। ये दोनों अर्थ निर्भर करते हैं अनेकार्थक शब्द 'द्विज' पर। यदि इस शब्द के स्थान पर अन्य ब्राह्मणवाची शब्द विप्र, पण्डित आदि रख दिया जाए तो चन्द्र विषयक अर्थ समाप्त हो जाएगा और इसके साथ ही श्लेष अलंकार का अस्तित्व भी। ये अलंकार शब्द-परिव त्ति को वहन करने में असमर्थ होते हैं, इसलिए इन्हें शब्दालंकार कहते हैं। अनुप्रास, यमक, श्लेष तथा वक्रोक्ति सर्वमान्य शब्दालंकार है।

अर्थालंकार - जब अलंकार शब्द-विशेष पर अवलम्बित न होकर अर्थ पर आश्रित होता है, अर्थात् किसी भी शब्द के स्थान पर उसका पर्याय रख देने पर अलंकार का अस्तित्व समाप्त नहीं होता है तो उसे अर्थालंकार कहते हैं। यह अर्थ विशेष पर निर्भर करता है तथा अर्थ-चमत्कार उत्पन्न होता है। अर्थ विशेष पर आश्रित रहने के कारण ही इसमें शब्द-परिव त्ति को सहन करने की क्षमता होती है। एक उदाहरण प्रस्तुत है-

"मुख मयंक सम मंजु मनोहर।"

उद्ध त अर्धाली में उपमा अलंकार है। यहां यदि 'मयंक' के स्थान पर कोई अन्य समानार्थक शब्द रख दिया जाए तो उपमा अलंकार का स्वरूप न विकृत होता है और न अस्तित्व समाप्त।

उभयालंकार - उभयालंकार का शब्दिक अर्थ है - दो अलंकार। इसमें शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों की अवस्थिति अनिवार्य नहीं है। उभयालंकार में कम-से-कम दो अलंकार रहते हैं, ये शब्दालंकार भी हो सकते हैं। अर्थालंकार भी तथा दोनों मिलकर भी। उभय शब्द संख्यावाचक है। इसमें कम-से-कम दो अलंकार होते हैं। उभयालंकार का एक उदाहरण प्रस्तुत है-

साधुचरित शुभ सरिस कपासू।
निरस बिसद गुनमय फल जासू।।
जो सहि दुःख परिछिद्र दुरावा।
बन्दनीय जेहि जउ जसु पावा।।

यहाँ श्लेष तथा उपमा का अंगागिभाव संकर है। जहाँ एक अलंकार दूसरे का अंग बनकर, उसका उपकारक हो, वहां अगांगिभाव संकर होता है। यहाँ निरस, बिसद, गुनमय, फल, छिद्र सभी शब्द श्लिष्ट है जिनका अर्थ साधु के प्रसंग में क्रमशः विरक्त, उज्ज्वल, गुणयुक्त, परिणाम, दोष तथा कपास के प्रसंग में क्रमशः विरक्तहृदय श्वेत, रेशे से युक्त, फल और छिद्र है। यहाँ श्लेष अलंकार उपमा का उपकार कर रहा है। इस प्रकार श्लेष उपमा का अंगागिभाव संकर है।

भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा में अलंकारों का सर्वप्रथम वर्गीकरण करने का श्रेय आचार्य उद्भट को प्राप्त है। उन्होंने 'काव्यालंकार-सार-संग्रह' में अलंकारों को छः वर्गों में विभाजित किया है। उद्भट के इस वर्गीकरण में वैज्ञानिकता का अभाव है। इन वर्गों में कोई भी भावगत एकता द ष्टिगत नहीं होती। डॉ० विजयेन्द्र स्नातक ने उद्भट के वर्गीकरण का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहा है - "भामह के समय में अलंकार विषयक चार विभिन्न विचारधाराओं का प्रचलन था। भामह और उद्भट के बीच में दो अन्य वर्ग-मान्यताओं का उद्भव हुआ। इस प्रकार उद्भट का वर्गीकरण वैज्ञानिक द ष्टि से भले ही उपयोगी न हो, इसको तत्कालीन अलंकार-सम्प्रदायों का व्यापक चित्र अवश्य माना जा सकता है।"

आचार्य रुद्रट ने अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। उन्होंने अलंकारों के मूल तत्त्वों पर विचार करते हुए उन्हें चार वर्गों में विभाजित किया। ये वर्ग है - वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष। वस्तु के स्वरूप का वचन वास्तव है। इस वर्ग में उन्होंने सहोक्ति, समुच्चय जाति यथासंख्य आदि 23 अलंकारों को स्थान दिया है। जहाँ किसी वस्तु के स्वरूप को अधिक स्पष्टता से व्यक्त करने के लिए अप्रस्तुत - योजना की जाती है, अर्थात् उसके समान किसी अन्य वस्तु का वर्णन किया जाता है, वहाँ दूसरा वर्ग औपम्य होता है। इस वर्ग में उन्होंने उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि 21 अलंकारों को स्थान दिया है। जहाँ अर्थ और धर्म के नियमों का विपर्यय हो, वहाँ त तीय वर्ग अतिशय होता है। इस वर्ग में उन्होंने असंगति, विभावना, विरोध आदि 12 अलंकारों का परिगणन किया है। जहाँ अनेकार्थक पदों के आधार पर एक ही वाक्य अनेक अर्थों का बोध करता है, वहाँ श्लेष वर्ग होता है। इस वर्ग में इन्होंने अविशेष, श्लेष, वक्र आदि 10 अलंकारों को स्थान दिया है। इस प्रकार रुद्रट का वर्गीकरण वैज्ञानिकता की दिशा में एक नया कदम है। यद्यपि उनका वर्गीकरण निर्दोष नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उन्होंने एक-एक अलंकार को दो-दो वर्गों में रख दिया है, जैसे उत्प्रेक्षा को औपम्य और अतिशय दोनों में, तथापि रुद्रट अलंकारों की सामान्य भावभूमि का अन्वेषण कर रहे थे। उनके औपम्य और अतिशय, वक्रता और चमत्कार इन तीनों तत्त्वों को ही सम्पूर्ण अलंकारों का मूल मानते हैं।

रुद्रट के उपरान्त आचार्य रुय्यक ने जो वर्गीकरण किया है, वह मूल तत्त्वों पर आधारित होने के कारण अधिक स्पष्ट एवं वैज्ञानिक है। इससे अलंकारों के मूल तत्त्वों का भी ज्ञान हो जाता है। रुय्यक ने अपने द्वारा प्रतिपादित अलंकारों को पाँच भागों में विभाजित किया है। इन भागों के अवान्तर भेद भी हैं। यह वर्गीकरण इस प्रकार है-

1. **साद श्यगर्भ** - इस वर्ग का मूलाधार साद श्य या साधर्म्य है। यह साधर्म्य तीन प्रकार से सम्भव हैः (क) भेदाभेदतुल्य प्रधान, (ख) अभेद प्रधान, (ग) भेद प्रधान। इनके अतिरिक्त यह कहीं वाच्यरूप में रहता है और कहीं व्यंग्यरूप में । साधर्म्य की स्थिति के अनुसार ही रूय्यक ने इसके अवान्तर भेद भी प्रस्तुत किए हैं।

   ये इस प्रकार हैं-

   (क) भेदाभेदतुल्य प्रधान - इस वर्ग के अलंकारों का मूलाधार भेदाभेदतुल्य प्रधान साद श्य है। इसमें उपमेय तथा उपमा के साधर्म्य में भेद नहीं रहता, तुल्य साधर्म्य

की स्थिति रहती है। रुय्यक ने उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय तथा स्मरण चार अलंकारों को इस वर्ग में रखा है।

(ख) अभेद प्रधान - इस वर्ग के अलंकारों का मूलाधार अभेद प्रधान साद श्य है। इस वर्ग में उपमान उपमेय के साद श्य में अभेद का कथन किया जाता है। इस अवान्तर भेद के दो उपभेद हैः आरोपमूलक अभेद प्रधान और अध्यवसायमूलक अभेद प्रधान। आरोपमूलक में रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्ति, उल्लेख तथा अपहुति छः आरोपमूलक आरोप किया जाता है, अतः आरोप की प्रधानता रहती है। अध्यवसाय मूलक वर्ग में उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति दो अलंकारों को रख गया है।

4. रीति-सिद्धान्त

'रीति' तत्त्व काव्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। जिस प्रकार ईश्वर की निर्माण-शक्ति से निर्मित लावण्यवती नारी अनिर्वचनीय सौन्दर्य को प्राप्तकर सहृदय मानव के विलास एवं आकर्षण की वस्तु होती है, उसी प्रकार लोकोत्तर काव्य-निर्माण-कुशल-कवि द्वारा निर्मित कविता सहृदय के हृदय में रस-निष्पत्ति कर उसे आनन्द के सागर में निमग्न कर देती है। यह आनन्द कवि की रीति या शैली पर विशेष निर्भर रहता है क्योंकि कविता कामिनी का यह भव्य-भवन रीति पर खड़ा होता है।

आचार्य वामन ने रीति सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा की है। उनके अनुसार पदों की विशिष्ट रचना ही रीति है- 'विशिष्ट पद रचना रीतिः' वामन रीति को काव्य की आत्मा मानते हैं- ''रीतिरात्मा काव्य रूप'' साथ ही, काव्य का समस्त सौन्दर्य रीति पर ही आश्रित मानते हैं।

रीति का स्वरूप

'रीति' शब्द रीङ्. (गतौ) धातु से निष्पन्न हुआ है। भोज ने अपने ग्रंथ 'सरस्वती कण्ठाभरण' में इसे इस प्रकार स्पष्ट किया है-

रीङ्.गताविति धातोःव्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते।

इस प्रकार इसका व्युत्पत्तिपरक अर्थ है- गति, गमन मार्ग या वीथि, किन्तु काव्य में यह पद्धति, विधि, परम्परा आदि अर्थों में रूढ़ है। काव्यशास्त्र में 'रीति' शब्द का प्रयोग कवि को विशिष्ट रचना-प्रकार के लिए किया जाता है। वामन ने 'रीति' शब्द से विवेचन किया तो पूर्ववर्ती आचार्यों ने मार्ग का प्रयोग किया है, कोई इसे संघटनास्वरूप मानता है तो कोई व त्तियों से अभिन्न। इस प्रकार इस काव्य-सिद्धान्त के लिए काव्यशास्त्रीय परम्परा में अनेक शब्द प्रयुक्त हुए हैं, लेकिन रीति शब्द ही अधिक प्रचलित रहा है।

यद्यपि रीतियों का संक्षिप्त विवेचन मार्ग नाम से भामह और दण्डी ने भी किया है और दण्डी का विवेचन अत्यन्त व्यापक एवं व्यवस्थित भी है, किन्तु न उन्होंने उसकी परिभाषा दी है और न ही महत्त्व का उद्घाटन किया है। वामन ने 'रीति' शब्द का प्रयोग करते हुए उसकी परिभाषा दी है और उसे काव्य की आत्मा कहा है, इसलिए वामन को ही रीति-सिद्धान्त का प्रवर्तक माना जाता है।

वामन ने रीति की परिभाषा इस प्रकार दी है- 'विशिष्टपदरचनारीति'; अर्थात् विशिष्ट पदरचना को रीति कहते हैं। विशिष्ट की व्याख्या उन्होंने स्वयं इन शब्दों में की है- 'विशेषो गुणात्मा' अर्थात् जो गुणों से सम्पन्न हो। जिस समय आचार्य वामन ने 'रीतिरात्मा काव्यस्य' का उद्घोष किया, उस समय तक काव्य में अलंकार ही सौन्दर्य-तत्त्व माने जाते थे। रस तत्त्व की सत्ता केवल नाटक तक मानी जाती थी और ध्वनि का आविर्भाव नहीं हुआ था। उस समय रीति एक स्वतंत्र सिद्धान्त था और स्वयं ही अपना साध्य था, लेकिन ध्वनि की स्थापना के बाद रीति की सत्ता डगमगायी और ध्वनिवादी आनन्दवर्द्धन ने अलंकारों के समान रीति को भी साधन घोषित कर दिया। उनकी द ष्टि

में रस ही साध्य बना और अलंकार, रीति, गुण, छन्द आदि सभी तत्त्व रस की अभिव्यक्ति के साधन घोषित कर दिए गए। प्रायः सभी परवर्ती आचार्यों अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि ने इसे एक स्वर से स्वीकार किया है। इस प्रकार वामन द्वारा प्रतिपादित रीति-सिद्धान्त स्वतंत्र सिद्धान्त न रहकर रस की अभिव्यक्ति का साधन मात्र बन गया।

आनन्दवर्द्धन ने रीति को संघटना-स्वरूप माना है। संघटना अर्थात् सम्यक् पद-रचना। यह संघटना तीन प्रकार की हो सकती है- समासों से रहित, मध्यम समासों से युक्त और दीर्घ समासों से युक्त। रीति के स्वरूप के विषय में उन्होंने यह भी कहा है कि यह संघटना गुणों का आलम्बन करके रहती है और रसों को अभिव्यक्त करती है। इस प्रकार आनन्दवर्द्धन की द ष्टि में रीति का आधार समास है और केवल समासों की मात्रा के आधार पर उसका वर्गीकरण किया जा सकता है।

आचार्य राजशेखर ने रीति को वचनविन्यासक्रम माना है - 'वचनविन्यासक्रमोरीतिः' अर्थात् वचनविन्यास का क्रम ही रीति है। यह परिभाषा वामन से बहुत भिन्न नहीं, केवल शाब्दिक अन्तर है। राजशेखर ने यह विवेचन काव्यपुरुष रूपक के अन्तर्गत किया है, इसलिए पद के स्थान पर वचन शब्द रखा है। आचार्य मम्मट ने रीति और व त्ति को एक मानते हुए उपनागरिका, परुषा और कोमला व त्तियों को ही वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली रीति माना है। मम्मट के अनुसार नियत वर्णों का रसानुकूल व्यापार ही व त्ति (रीति) है।

''व त्तिर्नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारः''।

इस प्रकार मम्मट रीति को रस की अभिव्यक्ति का साधन तो मानते हैं किन्तु उसका आधार समास न मानकर वर्ण गुम्फ मानते हैं। उनके अनुसार रीति वर्ण-संगुम्फन का ही नाम है।

आचार्य विश्वनाथ ने रीति-विवेचन में आनन्दवर्द्धन को ही प्रमाण माना है। वे उसका स्वरूप इस प्रकार बताते हैं-

पदसंघटना रीति रङ्गसंस्थाविशेषवत्।
उपकर्त्री रसादीनाम्   x   x ।।

पदों की उचित योजना ही रीति है। पदसंघटना से वर्ण-गुम्फ तथा समास दोनों ही ग्राह्य है। जिस प्रकार नारी के शरीर के अंगों का परस्पर अनुकूल संघटन शोभादायक होता है, बाह्य होते हुए भी उसके व्यक्तित्व-आत्मा का उत्कर्ष करता है, उसी प्रकार रीति रसों की अभिव्यक्ति में सहायक होती है। काव्यशास्त्र के प्रथम आचार्य भामह ने अनामतः और दण्डी ने मार्ग नाम से रीति-विवेचन किया है। इन दोनों ही आचार्यों ने रीति के दो भेद किए हैं। 'वैदर्भ' और 'गौड़ीय'। पदों की कोमलता, एकरूपता एवं संश्लिष्टता, अर्थ की सुबोधता एवं परिपूर्णता, भावों की उदात्तता एवं मधुरता, संगीतात्मकता तथा साद श्य मूलक अलंकारों की योजना वैदर्भ मार्ग की तथा उद्धत एवं समास-बहुल पदयोजना, अनुप्रास-प्रयोग एवं आडम्बरपूर्ण शब्दों की अधिकता तथा अतिशयोक्तिपूर्ण शैली गौड़ीय मार्ग की विशेषताएँ उन्होंने मानी हैं।

उसके उपरान्त रीति-विकास में वामन का नाम उल्लेख्य है। 'रीति' शब्द के प्रयोग का श्रेय वामन को ही है। उन्होंने दो के स्थान पर तीन रीतियाँ स्वीकार की हैं- वैदर्भी, गौड़ीय और पांचाली। दोषों की मात्रा से रहित तथा समस्त गुणों से युक्त, वीणा के स्वर के समान मधुर लगनेवाली वैदर्भी, अत्यधिक समासयुक्त, उत्कट पदों से युक्त, ओज और कान्ति गुणों से समन्वित गौड़ीय तथा गाढ़बन्ध से रहित एवं शिथिल पदवाली, माधुर्य एवं सौकुमार्य से युक्त रचना को पांचाली कहते हैं। वामन का मत है कि इन तीनों रीतियों के अन्दर सम्पूर्ण काव्य उसी प्रकार समाविष्ट हो जाता है, जैसे रेखाओं में चित्र।

रीति-विकास में रुद्रट का नाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने वामन की तीन रीतियों में 'लाटीया' नाम चतुर्थ भेद जोड़ा और उन्हें समास के आधार पर दो भागों में विभाजित किया है- समासवती और असमासवती। असमासवती से तात्पर्य वैदर्भी से है और समासवती के तीन भेद किए गए हैं- पांचाली, लाटीया, और गौड़ीया। इस प्रकार उनके द्वारा विवेचित रीतियों का स्वरूप इस प्रकार है- (क) वैदर्भी- पूर्णतः समास-रहित, (ख) पांचाली- अल्पसमासयुक्त, (ग) गौड़ीया- दीर्घसमासयुक्त। राजशेखर ने 'काव्य-मीमांसा' में वामन की तीन रीतियों को ही मान्यता प्रदान की है, किन्तु इसे प्रकारान्तर से व्यक्त किया है। 'काव्य-मीमांसा' के त तीय अध्याय में काव्यपुरुष की उत्पत्ति और साहित्य-विधावधु के साथ बत्सगुल्म नगर में उसका विवाह दिखाया गया है।

कुन्तक ने प्रादेशिकता के आधार पर रीतियों के नामकरण का खण्डन करते हुए उनका सम्बन्ध कवि-स्वभाव से माना है। कवियों का सम्बन्ध अनेक प्रकार का हो सकता है और उनके सूक्ष्म-भेदों का विवेचन एक दुष्कर कार्य है, तथापि स्वभाव को तीन रूपों में विभाजित किया गया है, जिनके आधार पर तीन मार्ग माने गए हैं। ये मार्ग हैं- सुकुमार, विचित्र और मध्यम। सुकुमार में कोमल असमस्त पदों का प्रयोग होता है तथा माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य- इन चार में असाधारण गुणों का समावेश रहता है। विचित्र मार्ग में अलंकार-वैचित्र्य का समावेश होने से अप्रस्तुत पक्ष की प्रबलता रहती है। मध्यम मार्ग में दोनों मार्गों की विशेषताएँ एवं विचित्रताएँ होने से क त्रिम और सहज दोनों प्रकार की शोभाएँ प्राप्त होती हैं। इस संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट है कि कुन्तक ने काव्य के सहज और आहार्य सौन्दर्य को विभाजन का आधार बनाया है, जो पूर्ववर्ती तथा परवर्ती आचार्यों के आधार पर किंचित् भिन्न है। भोज ने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में रीति का विस्तार से विवेचन किया है। उन्होंने गुण और समास दोनों की रीति का आधार स्वीकारते हुए छः रीतियाँ मानी हैं- वैदर्भी, पांचाली, गौड़ीया, लाटीया, आवन्तिका और मागधी। इसमें प्रथम तीन का विवेचन वामन ही कर चुके थे और चतुर्थ का रुद्रट। भोज के अनुसार लाटीया समस्त रीतियों के सम्मिश्रण से बनती है तथा पूर्व रीतियों में किसी एक का निर्वाह न होने पर मागधी नामक खण्ड रीति होती है। पांचाली और वैदर्भी की अन्तशलवर्तिनी आवन्तिका रीति होती है। भोज के उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि उनके विवेचन में विस्तारप्रियता है, वैज्ञानिकता नहीं।

भोज के उपरान्त भारतीय काव्यशास्त्र में रसध्वनिवादियों की परम्परा आती है। इन सभी आचार्यों ने ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन को ही प्रमाण माना है। आनन्दवर्द्धन ने समाज को रीति का आधार मानते हुए संघटना (रीति) के असमासा, मध्यमसमासा तथा दीर्घसमासा तीन भेद किए हैं। परवर्ती आचार्यों ने समास के स्थान पर वर्णगुम्फ को महत्त्व दिया।

तीन रीतियों का औचित्यः

आचार्य वामन द्वारा विवेचित तथा ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन द्वारा स्वीक त वैदर्भी, गौड़ीया (गौड़ी) तथा पांचाली तीन रीतियाँ मानना ही युक्तिसंगत है। रीति का आधार चाहे समास मानें या वर्णगुम्फ, इसके तीन ही भेद माने जा सकते हैं। यों तो भोज ने छः रीतियों का विवेचन किया है और शारदातनय ने एक सौ पाँच रीतियों का उल्लेख कर डाला, किन्तु अधिक भेदोपभेद करने से अनावश्यक विस्तार बढ़ता है और साथ ही विवाद भी। समास के आधार पर तीन ही रूप निश्चित होते हैं- समासों का अधिक प्रयोग। इन्हें ही आनन्दवर्द्धन ने क्रमशः असमासा, मध्यमसमासा तथा दीर्घसमासा नाम दिया है। वर्णों के भी दो स्पष्ट रूप हैं, कोमल-वर्ण तथा परुष-वर्ण। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी वर्ण हैं जो न कोमल हैं और न परुष। अतः वर्णों के आधार पर भी रीति के तीन ही भेद ठहरते हैं। अतः स्पष्ट है कि रीति के तीन भेद मानना ही अधिक युक्तिसंगत है। इसी व्यावहारिक द ष्टि से आचार्य मम्मट ने वामन के दस गुणों के स्थान पर केवल माधुर्य, प्रसाद

तथा ओज तीन गुणों को ही मान्यता दी है और उनके आधार पर क्रमशः उपनागरिका, कोमला और परुषा व त्ति नाम दिया है, तीन रीतियाँ मानी हैं।

तीन रीतियों के निश्चित हो जाने पर इनके स्वरूप पर भी संक्षिप्त द ष्टिपात कर लेना चाहिए-

वैदर्भी रीतिः श्रुतिपेशलता तथा संगीतात्मकता के कारण यह रीति सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। इसमें माधुर्यव्यंजक वर्णों की योजना की जाती है जिसके लिए ट वर्ग को छोड़कर शेष वर्गों को उनके अन्त्यवर्ण के साथ संयुक्त किया जाता है तथा रेफ का अनेकशः प्रयोग किया जाता है। इसमें ललित पदावली ही रखी जाती है, जिसके कारण श्रुतिपेशलता विद्यमान रहती है। माधुर्यव्यंजक वर्ण तथा ललित पदयोजना के कारण यह श ंगार, करुण, हास्य आदि रसों की अभिव्यक्ति में सहायक होती है। इसमें समासों को पूर्ण अभाव होता है अथवा अत्यल्प मात्रा हो सकती है। आचार्य दण्डी और वामन इसे श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, उदारता, ओज, कान्ति और समाधि इन दस गुणों से सम्पन्न मानते हैं तो मम्मट इसके मूल में माधुर्य गुण को ही प्रमुख मानते हैं। वामन ने इसे वीणा के स्वर के समान मधुर लगनेवाली बताया है। वैदर्भी रीति का एक उदाहरण प्रस्तुत है-

रससिंगार मज्जनु किए, कंजनु भंजनु दैन।
अंजनु रंजनु हूँ बिना खंजनु गंजनु नैन।

यहाँ माधुर्य गुण की व्यंजना के लिए अन्त्य वर्णों से युक्त संयुक्ताक्षरों का प्रयोग दर्शनीय है, ट वर्ग का पूर्ण अभाव है।

गौड़ी रीतिः ओजपूर्ण वर्णों में गौड़ी रीति होती है। इसमें वर्गों के प्रथम एवं द्वितीय, त तीय एवं चतुर्थ वर्णों के संयुक्त रूप, द्वित्व प्रयोग, ट वर्ग, श-ष आदि के प्रयोगों का बाहुल्य रहता है। इसमें पदयोजना दीर्घ समासों से युक्त रहती है। वीर और रौद्र रस की तो यह जीवनी शक्ति है। लम्बे-लम्बे समास वातावरण को प्रकम्पित करते प्रतीत होते हैं। इसमें माधुर्य एवं सौकुमार्य गुणों का नितान्त अभाव रहता है, इसलिए इसे परुषा व त्ति भी कहा जाता है।

गौड़ी रीति का एक उदाहरण प्रस्तुत है-

बोल्लहिं जो जय-जय मुण्ड रुण्ड प्रचण्ड सिर बिनु धावहीं।
खम्परिन्ह खग्ग अलुज्मि जुज्मुहिं सुभट भटन्ह ढहावहीं।
बानर निशाचर निकर मर्दहिं राम बल दर्पित भए।
सग्राम अंगन सुभट सोवहिं राम सर निकरन्हि हए।

उक्त छन्द में ओजगुण की व्यंजना के लिए ट वर्ग, द्वित्व तथा महाप्राण वर्गों के साथ अल्प-प्राण वर्णों के संयुक्त प्रयोग दर्शनीय है। इन सभी ने मिलकर ओज की व्यंजना में बहुत सहायता की है जिससे वीर रस की अभिव्यक्ति सहज ही हो सकी है।

पांचाली रीतिः इस रीति का उल्लेख सर्वप्रथम वामन ने किया है। उन्होंने इसको माधुर्य और सौकुमार्य से युक्त माना है तथा गाढ़बंध से रहित और शिथिल पदवाली बताया है। रुद्रट आदि परवर्ती आचार्यों ने इसमें लघु समासों का अस्तित्व स्वीकार किया है। वस्तुतः यह वैदर्भी और गौड़ी के मध्य की रीति है, जिसमें वर्णगुम्फ न माधुर्य-व्यंजन होता है और न ओजः प्रकाशकः इसमें न समासों का नितान्त अभाव होता है और न दीर्घ समासों की योजना। पदयोजना यथासम्भव कोमलता लिए रहती है, इसीलिए मम्मट आदि आचार्यों ने इसे कोमलाव त्ति भी कहा है। इसका प्रमुख गुण प्रसाद माना गया है।

पांचाली रीति का एक उदाहरण दर्शनीय है-

फागु के भीरे, अभीरन तें गहि गोविन्द लै गई भीतर गौरी।
नाई करी मन की 'पद्माकर' ऊपर नाई अबीर की झोरी।
छीनी पितंबर कम्मर तें सु विदा दई मीड़ि कपोलन रोरी।
नैन नचाई कह्यौ मुसकाई लला फिर आइयौ खेलन होरी।

पद्माकर के उक्त दोनों छन्दों में सुकुमारता तथा प्रसाद गुण दर्शनीय है। छन्द को पढ़ते जाइए और अर्थ स्पष्ट होता जाएगा।

वैदर्भी की सर्वोत्क ष्टताः वैदर्भी रीति के महत्त्व के विषय में आचार्यों की दो प्रकार की धारणाएँ हैं। प्रथम वर्ग में दण्डी, वामन और राजशेखर का नाम आता है, जिन्होंने वैदर्भी को सर्वोत्क ष्ट ही नहीं सिद्ध किया, प्रत्युत गौड़ी आदि को तुच्छ भी माना है। द्वितीय वर्ग में भामह तथा कुन्तक मतों में सभी का समान महत्त्व है।

आचार्य दण्डी ने श्लेष, समता आदि दस गुणों को वैदर्भ मार्ग का प्राण माना है। इन गुणों से सम्पन्न होने के कारण ही वैदर्भ काव्य सत्काव्य से अभिन्न है। गौड़ीय मार्ग में प्रायः इनका विपर्यय होता है। यही कारण है कि वह हीन काव्य माना गया है।

दण्डी ने वैदर्भी मार्ग को श्रेष्ठ मानते हुए भी गौड़ीय तो तिरस्क त नहीं माना था, किन्तु वामन ने स्पष्ट शब्दों में वैदर्भी को ग्राह्या माना है। उनका तर्क है कि वैदर्भी रीति में श्लेष, समता आदि दसों गुण विद्यमान रहते हैं, अतः वह काव्य के लिए ग्राह्य है।

आचार्य भामह ने अपने समय की इस प्रचलित धारणा का खण्डन किया है कि वैदर्भ मार्ग श्रेष्ठ मार्ग है। उनका मत है कि गतानुगतिका के कारण बुद्धिहीन ही ऐसा मानते हैं। उनकी द ष्टि में दोनों का पार्थक्य सम्भव नहीं है।

कुन्तक भी वैदर्भी की श्रेष्ठता का खण्डन करते हैं। उनका मत है कि वैदर्भी को श्रेष्ठ मानने से इन रीतियों के उत्तम, मध्यम और अधम तीन भेद हो जाएँगे- यह त्रैविध्य स्थापित करना अनुचित है। यदि वैदर्भी को उत्तम मान लिया जाए तो उसमें जितनी हृदयाह्लादकारिता स्वीकार की जाएगी, उतनी गौड़ी तथा पांचाली में नहीं। ऐसी स्थिति में उन दोनों रीतियों का विवेचन ही व्यर्थ हो जाएगा।

उक्त विवेचन पर द ष्टिपात करने के उपरान्त यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्यों ने वैदर्भी की श्रेष्ठता के कारण उसकी ललित एवं श्रुति-मधुर पदयोजना को माना है। ये दोनों तत्त्व उसे संगीतात्मकता प्रदान करते हैं। इसके साथ ही वैदर्भी रीति कोमल रसों-श ंगार, हास्य आदि की अभिव्यक्ति का साधन मानी जाती है।

रीति और शैली

रीति का जो विवेचन भारतीय काव्यशास्त्र में प्रस्तुत किया गया है, उसका अन्तिम रूप यही है कि रचना, वर्ण-योजना, संघटना आदि का ही दूसरा नाम रीति है। उधर पाश्चात्य काव्यशास्त्र में शैली का जो विवेचन हुआ है, वह रीति के ठीक अनुकूल तो नहीं परन्तु है उसके आस-पास ही।

रीति और शैली में बहुत अन्तर नहीं है। शैली को भी अनेक प्रकार से परिभाषित किया गया है, जैसे- शैली विचारों का परिधान है, अभिव्यक्ति की रीति का नाम शैली है, शैली ही व्यक्ति है, इत्यादि।

डॉ० नगेन्द्र के अनुसार शैली में दो मूल तत्त्व कार्य करते हैं- एक व्यक्ति तत्त्व और दूसरा वस्तु तत्त्व।

पाश्चात्य काव्य शास्त्रियों ने शैली के वस्तु तत्त्व का सम्यक् विवेचन किया है। व्यक्ति तत्त्व शैली का मुख्य तत्त्व है जिसका भारतीय आचार्यों ने पर्याप्त विवेचन और स्पष्टीकरण किया है। दण्डी और कुन्तक ने कवि-सवभाव को रीति का मूल आधार माना है।

वस्तुतः रीति और शैली का वस्तुरूप एक ही है, किन्तु दोनों में भेद है-

1. रीति के कुछ निश्चित भेद किए जा सकते हैं, शैली के नहीं।
2. भारतीय रीति में व्यक्तित्व की सर्वथा अस्वीक ति नहीं है।
3. रीति के लिए प्रयत्न अपेक्षित है, जबकि शैली सहज स्वाभाविक रूप को ही प्रकट करती है।
4. रीति परम्परा की सूचक है जबकि शैली स्वच्छन्दता की।

काव्य गुण

आचार्य भरत ने गुणों को दोषों का विपर्यय माना है -

''गुणा विपर्याद एषाम माधुर्यो दार्यलक्षणाः।''

उत्तर ध्वनिकाल के आचार्यों ने भी दोष के अभाव को गुण माना है। 'महान् निर्दोषता गुणः'। डॉ० नगेन्द्र ने भरत के मत को अपने शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया है- ''दोषों के विपर्ययरूप गुण काव्य-शैली को सम द्ध करनेवाले तत्त्व हैं जो परम्परा-सम्बन्ध से रस के आश्रित रहते हैं।''

आचार्य दण्डी ने दस गुणों का विवेचन तो किया है, परन्तु गुण का सामान्य लक्षण नहीं दिया है।

आचार्य वामन ने सर्वप्रथम गुण का लक्षण किया है ''शब्द अर्थ के वे धर्म जो काव्य को शोभा-सम्पन्न करते हैं, गुण कहलाता है। x x x गुण नित्य हैं उनके बिना काव्य में शोभा नहीं आ सकती।''

आधुनिक युग के आचार्य डॉ० नगेन्द्र ने गुण के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है- ''गुण काव्य के उन उत्कर्ष-साधक तत्त्वों को कहते हैं जो मुख्यरूप से रस के और गौणरूप से शब्दार्थ के नित्य धर्म हैं।''

वामन सम्मत गुण - आचार्य वामन ने दण्डी द्वारा मान्य गुणों को ही प्रायः व्यवस्थित रूप दिया है। दण्डी ने गौड़ी मार्ग के लिए गुण-विपर्यय की बात कही थी, जिसे वामन ने व्यर्थ का पक्ष धरता मानकर निषेध किया है। ''वामन ने दण्डी द्वारा प्रस्तुत गुणों के सामान्य लक्ष्य का भी परिष्कार किया है।'' वामन ने रीतियों के विभाजन तत्त्व के रूप में ही गुणों को विशिष्ट नहीं माना, अपितु इस रूप को भी विशिष्ट माना है कि वे काव्य के नित्य शोभादायक धर्म हैं। वे उपमादि अलंकारों की भाँति काव्य के अनित्य धर्म नहीं हैं।

वामन ने श्लेषादि दस गुणों को शब्दगत और अर्थगत भेद से दो रूपों में स्वीकार किया है। जैसे भरत ने एकाध गुण के शब्दगत और अर्थगत लक्षण कर दिए थे वैसे ही उनसे प्रेरणा लेकर वामन ने गुणों की संख्या बीस कर दी जो पहले शब्दगत और फिर अर्थगत रूप में क्रमशः माने गए-

1. ओज 2. प्रसाद

3. श्लेष 4. समता

5.	समाधि	6.	माधुर्य
7.	सौकुमार्य	8.	उदारता
9.	कान्ति	10.	अर्थव्यक्ति

इन गुणों के अर्थगत भेद भी इसी प्रकार स्वीकार किए गए। इस प्रकार 'वामन' शब्द की श्रुति-मात्र सुखदाता से लेकर अर्थ के वाच्य तथा व्यंग्यरूपों में भी गुणों का अधिकार क्षेत्र मानते हैं।

फिर भी वामन सम्मत दस गुणों का शब्दगत और अर्थगत विभाजन न तो वैज्ञानिक है और न व्यवस्थित। इसकी उन्होंने कोई आधारभूत कसौटी नहीं रखी। ध्वनि परवर्ती आचार्यों ने दस गुणों को प्रसाद, माधुर्य एवं ओज तीन गुणों में समाहित कर लिया है जो अभी तक मान्य है।

रीति सिद्धान्त की प्रमुख स्थापनाएँ

भारतीय काव्यशास्त्र में अलंकार के पश्चात् रीति-सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा हुई। इस सम्प्रदाय की संस्थापना का श्रेय आचार्य वामन को है। उन्होंने रीति को काव्य की आत्मा घोषित किया। विशाल एवं सम द्ध काव्यशास्त्रीय परम्परा में अम तानन्द योगी ही ऐसे आचार्य हुए हैं, जिन्होंने रीति के आत्मत्व का समर्थन किया है। अन्य सभी परवर्ती आचार्यों ने इसे रस का उपकारक ही माना है।

यद्यपि रीति-सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य वामन माने जाते हैं, किन्तु रीति-विवेचन की परम्परा इनसे पूर्ववर्ती है इसमें संदेह नहीं। रीति विवेचन के संदर्भ में भारत की प्रव त्तियाँ महत्त्वपूर्ण मानी जाती हैं। भरत ने चार प्रचलित प्रव त्तियों का उल्लेख किया है- आवन्ती, दक्षिणात्या, औड़मागधी और पांचाली। डॉ० नगेन्द्र का मत है कि रीतियों के उद्भव और विकास में प्रव त्ति से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रेरणा ग्रहण की गई है। मेरा विचार है कि रीति का प्रव त्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है। नाट्य में लोकव त्त का अनुकरण होता है, अतः उसमें पात्र की स्थानीय विशेषताओं वेशभूषा, आचार-विचार, खान-पान, रहन-सहन आदि का ध्यान रखना आवश्यक है। अन्यथा कथानक की विश्वसनीयता कम हो जाती है, जिससे उसका प्रभाव ही धूमिल हो जाएगा। इसे ध्यान में रखकर ही भरत ने प्रव त्तियों का निरूपण किया है। यदि नाट्य की बात छोड़कर लोक की बात ले लें तो अधिक स्पष्ट हो जाएगा। लोक में नाइयों की चालाकी, जाटों की अक्खड़ता, ब्राह्मणों की भोजन भट्टता और वेश्याओं की क पणता प्रसिद्ध है।

भारतवर्ष के विभिन्न भागों की साहित्यिक विशेषताओं का सर्वप्रथम उल्लेख बाणभट्ट के 'हर्षचरित' में मिलता है। उनका कथन है कि उत्तर भारत के लोग श्लेष का प्रयोग करते हैं, पश्चिम भारत के अर्थगौरव को महत्त्व देते हैं। दक्षिण भारत के उत्प्रेक्षा का सम्मान करते हैं तथा गौड़ देश (पूर्व भारत) के आडम्बर पर ही मुग्ध होते हैं-

श्लेषप्रायमुदीच्येषु प्रतीच्ये वर्थमात्रकम्।
उत्प्रेक्षा दाक्षिणत्येषु गौड़ेष्वक्षर म्बरम्।

उक्त छन्द से स्पष्ट होता है कि बाण के समय में भारतवर्ष में चार काव्य-पद्धतियाँ वर्तमान थीं, परन्तु बाण का अपना मत यही है कि इनका एक प्रयोग ही काव्य के उपादेय है-

नवो र्थो जातिरग्राम्या श्लेष क्लिष्टः स्फुटोरसः।
विकटाक्षरबन्धश्च क तस्नमेकत्र दुर्लभम्।।

नवीन भाव भंगिमा, अग्राम्य स्वभावकथन, सरलश्लेष, स्फुटरस तथा विकटाक्षरबन्ध, इन सम्पूर्ण गुणों का एकत्र प्रयोग दुर्लभ है। यदि इनका एकत्र प्रयोग होता है तो वही श्रेष्ठ काव्य है।

काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में रीति-विवेचन सर्वप्रथम भामह क त 'काव्यालंकार' में मिलता है। भामह ने न

रीति शब्द का प्रयोग किया है और न मार्ग या पन्थ का। उन्होंने न लक्षण प्रस्तुत किया है और न ही उसके भेदों को निरूपण। वस्तुतः उन्होंने इसको सैद्धांतिक मान्यता नहीं दी, बल्कि वैदर्भ काव्य को उत्क ष्ट और गौड़ीय को निक ष्ट माननेवाले को बुद्धिहीन माना है। उनका मत है कि अर्थगाम्भीर्य तथा वक्रोक्ति से रहित, स्पष्ट, सरल तथा कोमल वैदर्भ काव्य सत्काव्य से भिन्न, संगीत के समान केवल श्रुतपेशल होता है।

वामन के पूर्ववर्ती आचार्यों में रीति-विवेचन की द ष्टि से आचार्य दण्डी का नाम विशेष महत्त्वपूर्ण है। भामह का विवेचन अत्यन्त संक्षिप्त तथा चलते ढंग का है। संस्क त काव्यशास्त्र में सर्वप्रथम दण्डी ने ही रीति का व्यवस्थित विवेचन किया है, इसलिए कुछ विचारक उन्हें रीतिवादी ही मानते हैं। इनका मत है कि वाणी के अनेक मार्ग हैं जिनमें परस्पर सूक्ष्म अन्तर है। इनमें से वैदर्भ तथा गौड़ीय में स्पष्ट अन्तर होने से इनका वर्णन किया गया है। उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि इन दोनों मार्गों के मध्य कवि-भेद से अनन्त अवान्त-प्रभेद हो सकते हैं, किंतु उनका वर्णन करना उसी प्रकार असम्भव है। जिस प्रकार ईख, दूध और गुण में विद्यमान माधुर्य में महान् अन्तर है, किंतु उनका वर्णन सरस्वती भी नहीं कर सकती। दण्डी का मत है कि वैदर्भ मार्ग में श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति और समाधि ये दस गुण पाए जाते हैं। ये ही वैदर्भी के प्राण हैं, जबकि गौड़ीय में इनमें से कुछ गुणों का विपर्यय या अभाव रहता है। उन्होंने दस गुणों का मार्ग-सापेक्ष विवेचन किया है, उससे दोनों मार्गों का स्वरूप बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है।

वामन के पूर्ववर्ती रीति-विवेचन पर द क्पात करने के पश्चात् उनके निष्कर्षों को सूत्रबद्ध कर देना आवश्यक है, जिससे वामन के उस धरातल को खोजा जा सके, जिस पर उन्होंने रीति-सिद्धान्त का भवन स्थापित किया है। ये तथ्य निम्नलिखित हैं-

(क) रीति के लिए 'मार्ग' शब्द का प्रयोग होता था और उनकी संख्या दो मानी जाती थी- वैदर्भ और गौड़ीय।

(ख) उस समय वैदर्भ मार्ग को गौड़ीय की अपेक्षा श्रेष्ठ माना जाता था। यद्यपि कुछ विचारक इस तथ्य का प्रबल खण्डन भी करते हैं, तथापि लोकधारणा वैदर्भ मार्ग की श्रेष्ठता के ही पक्ष में थी।

(ग) रीति का आधार गुण माना जाता था। वैदर्भ मार्ग में समस्त दस गुणों की सत्ता स्वीकार की जाती थी, जबकि गौड़ीय मार्ग में कुछ अभाव भी माना जाता था।

(घ) दोनों मार्गों का स्वरूप बहुत कुछ स्पष्ट हो गया था। वैदर्भ मार्ग के तत्त्व थे - पद-योजना की कोमलता एवं मधुरता, भावों की स्वाभाविकता एवं रमणीयता, अर्थ की स्पष्टता एवं परिपूर्णता, जबकि गौड़ीय मार्ग के तत्त्व थे - कठोर और समास बहुत पद-योजना, अनुप्रास एवं आडम्बरपूर्ण रचना तथा अतिशयोक्तिपूर्ण शैली।

5. ध्वनि-सिद्धान्त

भारतीय काव्यशास्त्र के विभिन्न सिद्धान्तों में सबसे प्रबल एवं महत्त्वपूर्ण ध्वनि सिद्धान्त है। यद्यपि इसका विरोध भी सबसे अधिक हुआ किन्तु इसके अनुयायियों की समर्थ व्याख्या तथा विरोधियों के तर्कों के खण्डन से यह अग्नि में पड़े हुए स्वर्ण के समान विशुद्ध एवं दीप्तिमान होता गया। ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना का श्रेय आचार्य आनन्दवर्धन को है। अभिनवगुप्त ने 'ध्वन्यालोक' पर लोचन टीका लिखकर इस सिद्धान्त की सशक्त व्याख्या की। आचार्य मम्मट ने भी ध्वनि-विरोधी मुकुल भट्ट, महिमभट्ट, कुन्तक आदि की युक्तियों का सतर्क खण्डनकर ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना की। उन्होनें व्यंजना को काव्य के लिए अपरिहार्य माना, इसीलिए उन्हें 'ध्वनि-प्रतिष्ठापक परमाचार्य कहा जाता है। ध्वनि सम्प्रदाय के इतिहास में उक्त तीनों आचार्यों का क्रमशः स्थापना, व्याख्या तथा ध्वनि विरोधियों के खण्डन की द ष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान है।

ध्वनि सिद्धान्त का भव्य भवन व्यंजना की रमणीयता पर आश्रित है। ध्वनि-सौन्दर्य वस्तुतः व्यंग्यार्थ का सौन्दर्य ही है।

ध्वनि का स्वरूप

'ध्वनि' शब्द का प्रयोग व्यंजक शब्द, वाच्यार्थ, व्यंग्यार्थ, व्यंजना-व्यापार एवं व्यंजना-प्रधान काव्य, इन पाँचों अर्थों में किया गया है। अभिनवगुप्त का मत भी इसी प्रकार का है। इन पाँचों को ध्वनि मानने के लिए 'ध्वनि' शब्द की व्युत्पत्ति भिन्न-भिन्न प्रकार से करनी होगी। यथा-

1. **व्यंजक शब्द**-उस व्यंजक शब्द को ध्वनि कहते हैं, जो अन्य अर्थ को ध्वनित करे या कराए-'ध्वनति ध्वनयति वा यः स व्यंजकः ध्वनिः। इस व्युत्पत्ति के आधार पर वाचक, लाक्षणिक एवं व्यंजक तीन प्रकार के शब्द ध्वनि कहे जाते हैं।

2. **व्यंजक अर्थ**-वह व्यंजक अर्थ ध्वनि है, जो अन्य अर्थ का ध्वनित करे या कराए-'ध्वनति ध्वनयति वा यः सः व्यंजको र्थः ध्वनिः।' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिस अर्थ को आधार बनाकर व्यंग्यार्थ अभिव्यक्ति पाता है, उस अर्थ को ध्वनि कहा गया है।

3. **व्यंग्यार्थ**-जो ध्वनित हो उसे ध्वनि कहते हैं- 'ध्वन्यते इतिध्वनिः' इन व्युत्पत्ति के अनुसार वस्तु, अलंकार एवं रस तीनों ही ध्वनि के अन्तर्गत आ जाते हैं, क्योंकि तीनों ही ध्वनित होते हैं।

4. **व्यंजना-व्यापार**-जिसके द्वारा ध्वनित किया जाए, वह ध्वनि है- 'ध्वन्यते अनेनइतिध्वनिः।' इस व्युत्पत्ति के अनुसार शब्दार्थ के व्यापार अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना तीनो ही ध्वनि है, क्योंकि जिस ''शब्द-शक्ति के द्वारा ध्वनि की उत्पत्ति होगी, वह ध्वनि है।''

5. **व्यंजना-प्रधान काव्य**-जिस काव्य में रस, अलंकार एवं वस्तु ध्वनित होते हैं, वह काव्य ध्वनि-काव्य है - 'ध्वन्यते स्मिश्रिति ध्वनिः।

इस प्रकार ध्वनि शब्द का प्रयोग पाँच अर्थों में किया गया है।

व्यंजक शब्द, व्यंजक अर्थ, व्यंग्यार्थ, व्यंजना-व्यापार तथा व्यंजना प्रधान काव्य। इन पाँचों को ध्वनि संज्ञा से व्यवहृत करते हुए भी ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने ध्वनि-काव्य को ही प्रमुख माना है। ध्वनि

की परिभाषा देते हुए उन्होनें व्यंजना-प्रधान काव्य को ही ध्वनि नाम से अभिहित किया है। उनकी ध्वनि की परिभाषा इस प्रकार है-

यथार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीक त स्वार्थो।
व्यङ्कतः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सुरिभिः कथितः।

अर्थात् जिस काव्य में वाच्यार्थ या वाचक शब्द क्रमशः अपने स्वरूप या अपने अर्थ को गुणीभूत करके, उस प्रतीयमानार्थ को अभिव्यक्त करते हैं, उस काव्य-विशेष को विद्वान लोग ध्वनि-काव्य कहते हैं।

आनन्दवर्द्धन के अनुसार अर्थ दो प्रकार के होते हैं - वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ या प्रतीयमानार्थ वाच्यार्थ शब्दार्थ को कहते हैं। यह स्थूल, किन्तु व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति का साधन होता है। जैसे घण्टे पर चोट करने से पहले अत्यन्त कर्कश स्थूल ध्वनि निकलती है और उसके बाद अत्यन्त श्रवण-सुखद मधुर अनुरण होता है, वैसे ही काव्य से पहले वाच्यार्थ सामने आता है और उसके बाद हृदयावर्जक व्यंग्यार्थ। ये दोनो अर्थ परस्पर प थक् अस्तित्व रखते हैं। जिस काव्य मे वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारयुक्त होता है, उसे ध्वनि काव्य कहते हैं। इसे सरल शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि जहाँ वाच्यार्थ का प्रतीति का आधार है - अभिधा-शक्ति। वाच्यार्थ की प्रतीति के उपरान्त व्यंजना-शक्ति द्वारा व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। यह व्यंग्यार्थ ही ध्वनि का मेरुदण्ड है। वाच्यार्थ सर्वजन-संवेद्य होता है, जबकि व्यंग्यार्थ मात्र सहृदयसंवेद्य। व्यंग्यार्थ के विषय में आनन्दवर्धन का मत है कि जिस प्रकार रमणियों के प्रसिद्ध अवयवों (मुख, कान, नाम आदि) से भिन्न लावण्य एक प थक् ही पदार्थ है, जो उसके समस्त अंगो को शोभित करता है, उसी प्रकार महाकवियों के काव्य में वाच्यार्थ से भिन्न प्रतीयमानार्थ कुछ और ही तत्त्व है। जहाँ इस प्रतीयमानार्थ का प्राधान्य होता है, वही ध्वनि-काव्य है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि आनन्दवर्द्धन ने व्यंग्यार्थ को ही काव्य का निकष माना है। उनकी यह धारणा काव्य-विभाजन से और भी स्पष्ट हो जाती है। उन्होनें काव्य के तीन भेद किए हैं-ध्वनि काव्य, गुणीभूतव्यंग्य-काव्य और चित्त काव्य। जिस काव्य में व्यंग्यार्थ का प्राधान्य होता है, अर्थात् वह वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक रमणीय होता है, उसे ध्वनि-काव्य कहा गया है। यह उत्तम काव्य है। जिस काव्य में व्यंग्यार्थ का अस्तित्व तो हो, लेकिन उसका प्राधान्य न हो, अर्थात् वह वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक रमणीय एवं आह्लादक न हो, उसे गुणीभूत व्यंग्य कहा गया है, यह मध्यम स्तर का होता है, जिस काव्य में व्यंग्यार्थ का अस्तित्व ही विद्यमान न हो, कवि मात्र शब्द-चमत्कार या अर्थ-चमत्कार के लिए प्रयत्नशील रहा हो, उसे चित्र-काव्य कहा गया है, यह अधम कोटि का काव्य है। इस काव्य विभाजन से स्पष्ट है कि आचार्य आनन्द व्यंग्यार्थ को ही काव्यत्व का निकष मानते है। उसके प्राधान्य में उत्तमता, मात्र अस्तित्व होने पर मध्यम स्थिति मानी गई है और उसके सर्वथा अभाव में काव्य को निक ष्ट कोटि का माना गया है।

ध्वनि-सिद्धान्त की प्रमुख स्थापनाएँ

'ध्वन्यालोक' ध्वनि का आधारभूत ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की प्रथम कारिका में ही आनन्दवर्धन ने ध्वनि-विरोधियों का उल्लेख करते हुए कहा है कि काव्य के आधारभूत जिस तत्त्व को विद्वान लोग ध्वनि नाम से कहते आए हैं, कुछ लोग उनका अभाव मानते हैं, कुछ उसे लक्षणा-गम्य कहते हैं। तथा कुछ उसे सर्वथा अनिर्वचनीय स्वीकारते हैं। इस प्रथम कारिका से स्पष्ट होता है कि आनन्दवर्धन से पूर्व भी ध्वनि का विवेचन हुआ है। विद्वानों का यह भी मत है कि वैयाकरणों के स्फोट सिद्धान्तों में ध्वनि का रूप सुरक्षित देखकर ही आनन्दवर्धन ने इसे प्राचीन एवं परम्परा-प्रसिद्ध माना है। जो भी हो, आनन्दवर्द्धन ने अपने ग्रन्थ की प्रथम कारिका मे ही ध्वनि-विरोधी मतों का सतर्क खण्डन किया है।

ये ध्वनि-विरोधी तीन प्रकार के माने गए हैं - अभाववादी, भक्तिवादी तथा अलक्षणीयतावादी। इन ध्वनि-विरोधियों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है-

1. **अभाववादी**-अभाववादी वर्ग के तीन निम्न विकल्प हैं, जो इस प्रकार से हैंः-

   (क) शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं। इनमें अनुप्रासादि शब्दालंकार शब्दगत चारुत्व के हेतु प्रसिद्ध है और उपमादि अर्थालंकार चारुत्व के। माधुर्यादि जो वर्ण-संघटनाधर्म है, उनकी भी प्रतीति होती है।

   (ख) शब्दार्थ काव्य का शरीर है। जो शब्द एवं अर्थ सहृदयों के हृदय को आह्लादित करते हैं- उन्हीं में परम्परा से काव्यत्व हो ही नहीं सकता।

   (ग) ध्वनि नामक कोई अपूर्व तत्त्व सम्भव ही नहीं हैं क्योंकि रमणीयता का अतिक्रमण न करने के कारण अन्य रमणीयता हेतुओं मे उसका अन्तर्भाव कर देना चाहिए, अन्यथा उन्हीं में से किसी एक का नाम ध्वनि रख दिया जाए तो उस पर बहुत कम कहना शेष रह जाएगा।

2. **भक्तिवादी**-ध्वनि विरोधी दूसरा भक्तिवादी है। ये ध्वनि का अन्तर्भाव लक्षणा में मानते हैं। इन लोगो का मत है कि-व्यंजनावादियों के प्रयोजन (व्यंग्यार्थ) की प्रतीति लक्षणा द्वारा ही हो जाती है। यद्यपि लक्षणावादी विचारकों ने ध्वनि शब्द का प्रयोग करके उसे पर्याय रूप में लक्षणा या गुणव त्ति का प्रयोग कहीं नहीं किया, तथापि लक्षणावादियों द्वारा व्यंजना की सत्ता न मानने के कारण ध्वनिकार के लिए यह आवश्यक हो उठा है कि वह लक्षणा एवं ध्वनि के अन्तर को स्पष्ट करके अपने सिद्धान्त की निर्भ्रान्त स्थापना करे। अतएव आनन्दवर्धन ने ध्वनि विरोधी मतों में लक्षणावादी या भक्तिवादी मत का भी परिगणन किया है।

3. **अलक्षणीयतावादी**-अलक्षणीयतावादी मत ध्वनि को अलक्षणीय कहकर सहृदय-हृदय-संवेद्य मानता है। उनके अनुसार-पूर्ण परम्परा में प्रसिद्ध सौन्दर्य-तत्त्वों के अतिरिक्त कोई अपूर्ण तत्त्व विद्यमान तो है, लेकिन वह सहृदय-हृदय-संवेद्य है, उसकी किसी भी प्रकार परिभाषा नहीं की जा सकती। वह अनिर्वचनीय है, वाणी का विषय नहीं।

ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने तीन ध्वनि-विरोधी मतों का सतर्क खण्डन कर अपने ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना की है। यहाँ संक्षेप मे ध्वनिकार द्वारा पूर्ववर्ती मतों का खण्डन दर्शनीय है-

ध्वनि का अन्तर्भाव अलंकारादि में सम्भव नहीं है, क्योंकि अलंकार-गुणादि वाच्य-वाचक भाव पर आश्रित रहते हैं, जबकि ध्वनि व्यंग्य व्यंजक भाव पर। अतः ध्वनि का अन्तर्भाव अलंकार-गुणादि में नहीं किया जा सकता। इसके विपरीत, गुण-अलंकार ही ध्वनि की अंगरूपता को प्राप्त कर जाते हैं।

पर्यायोक्ति, आक्षेप, समायोक्ति आदि अलंकारों मे व्यंग्यार्थ का अस्तित्व आवश्यक रहता है, लेकिन वह वहाँ प्रधानरूप मे न रहकर, गौणरूप में ही रहता है, जबकि ध्वनि में व्यंग्यार्थ का प्राधान्य रहता है। ध्वनि की स्थापना से पूर्व विद्वान काव्य का आस्वादन लेते थे, अतः ध्वनि की स्थापना एवं व्याख्या निरर्थक सिद्ध हो जाती है-ऐसा कहना उपयुक्त नहीं है। क्योंकि ध्वनि की स्थापना से पूर्व लक्ष्य-ग्रन्थों मे व्यंग्यार्थ का प्रयोग मिलता ही था। अतः आस्वादन करना स्वाभाविक है। इस ध्वनि का केवल शास्त्रीय विवेचन नहीं हुआ था। व्यंग्यार्थ का महत्त्व व्यंजना से की है-यही ध्वनि का मूलाधार है। आनन्दवर्धन ने इसकी सम्यक् परिभाषा दी है और उदाहरण देकर उसे परिपुष्ट किया है। अतः उसे मात्र सहृदय-हृदय-संवेध कहना या अलक्षणीय मानना उचित नहीं है। यदि ऐसी स्थिति में भी ध्वनि अलक्षणीय रहेगी तो सभी वस्तुएँ अलक्षणीय हो जाएँगी।

आनन्दवर्धन द्वारा इतने सबल एवं सशक्त तर्कों के आधार पर प्रतिष्ठित होने पर भी ध्वनि-सिद्धान्त को परवर्ती काल मे विरोधियों का सामना करना पड़ा। इन ध्वनि-विरोधियों में प्रमुख है- मुकुलभट्ट, भट्टनायक, धनंजय, कुन्तक तथा महिमभट्ट। आचार्य मुकुलभट्ट ने अपने ग्रन्थ 'अभिधा-व त्तिमात का) में एकमात्र अभिधा को ही शक्ति स्वीकार किया है। उन्होनें अभिधा को चार भेदों-जाति, गुण, क्रिया एवं यद च्छा-में ही लक्षणा के छः भेदों को मिलाकर अभिधा के दस भेद किए हैं। इस प्रकार मुकुल भट्ट अभिधा के अतिरिक्त अन्य किसी शक्ति की आवश्यकता ही नहीं स्वीकारते। हृदयदर्पणकार भट्टनायक रस के समर्थक एवं ध्वनि के प्रबल विरोधी हैं। मीमांसक भट्टनायक का भरत के रससूत्र के व्याख्याताओं में प्रमुख स्थान है। मीमांसा में भावना की प्रधानता होती है, इसलिए ये रससूत्र के व्याख्या भावना (भावकत्व एवं भोजकत्व) के आधार पर करते हैं, व्यंजना के आधार पर नहीं। रस-निष्पत्ति की व्याख्या में इन्होनें तीन शक्तियाँ मानी हैं-अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व।

भट्टनायक ने इस साधारणीकरण द्वारा इस समस्या का समुचित समाधान प्रस्तुत किया कि प्रमाता धार्मिक अवतार शिव-पार्वती की रति का आनन्द कैसे ले सकता है। तदुपरान्त भोजकत्व शक्ति से प्रमाता रस का आस्वादन करता है। इस प्रकार वे रस-निष्पत्ति की व्याख्या भावकत्व एवं भोजकत्व शक्ति के आधार पर करते हैं। व्यंजना के आधार पर नहीं और व्यंजना के अभाव में ध्वनि का अस्तित्व ही विलीन हो जाता है।

इन सम्पूर्ण ध्वनि विरोधियों का सतर्क खण्डन आचार्य मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' के पंचम उल्लास में विस्तारपूर्वक किया है और व्यंजना की अपरिहार्यता सिद्ध की है। उनका मत है कि काव्य का प्रमुख प्रयोजन है रस। कभी अभिधा से वाच्य नहीं हो सकता। यदि ऐसा होता तो रस या श ंगारादि से उसकी प्रतीति हो जाती, जबकि नाममात्र से रस-प्रतीति नहीं होती। जहाँ विभावादि का चित्रण नहीं है, वहाँ भले ही रस या श ंगारादि पदों का प्रयोग करें, पाठक को रसानुभूति नहीं होती। इसके विपरीत जहाँ विभावादि का चित्रण होता है, वहाँ उक्त पदों के अभाव में भी रसानुभूति होती है। इसका तात्पर्य यह है कि रसानुभूति विभावादि पर आश्रित है, रस या श ंगारादि पदों पर नहीं। अतः रस-प्रतीति के लिए व्यंजना का अस्तित्व मानना आवश्यक है। ध्वनि तत्त्व का विश्लेषण ही लक्ष्य माना है। ध्वनिवादी आचार्यों में आनन्दवर्धन संस्थापक तथा अभिनवगुप्त व्याख्याता हैं, लेकिन ध्वनि-विरोधियों का सतर्क खण्डन आचार्य मम्मट ने ही किया है, अतः उन्हें 'ध्वनि-प्रस्थानपरमाचार्य' कहा जाता है।

ध्वनि काव्य के प्रमुख भेद

अभिव्यंग्य के आधार ध्वनि को तीन भागों में विभाजित किया गया है। कहीं व्यंग्यार्थ वस्तुमात्र होता है, कहीं अलंकाररूप और कहीं रस-रूप। इसी आधार पर इन तीनों को वस्तु-ध्वनि, अलंकार-ध्वनि तथा रस-ध्वनि कहा जाता है। इन पर संक्षेप में विचार इस प्रकार है-

(क) **वस्तु ध्वनिः** जहाँ व्यंग्यार्थ में किसी अलंकार की व्यंजना न हो, मात्र वस्तु या विचार ही व्यंजित हो रहा है, वहाँ वस्तु ध्वनि होती है। यथा-

रो-रोकर सिसक-सिसककर,
कहता मैं करुण कहानी
तुम सुमन नोचते सुनते,
करते जानी अजजानी।

यहाँ व्यंग्यरूप में कोई अलंकार या रस व्यंजित नहीं हो रहा है, मात्र वस्तु ही व्यंजित हो रही है, अतः वस्तु-ध्वनि है।

(ख) **अलंकार-ध्वनिः** जहाँ व्यंग्यार्थ में मात्र वस्तु ही नहीं, बल्कि अलंकार की भी व्यंजना हो रही है, वहाँ अलंकार-ध्वनि होती है। यह ध्वनि वस्तु-ध्वनि की अपेक्षा श्रेष्ठ मानी जाती है।

निस में ही ससि करतु हैं केवल भुवन प्रकाश।
तेरा जस निस-दिन करत त्रिभुवन धवल उजास।

इस छंद का विश्लेषण भी पीछे किया जा चुका है। यहाँ व्यंग्यरूप में व्यतिरेक अलंकार व्यंजित हो रहा है, अतः अलंकार-ध्वनि है।

(ग) **रस-ध्वनिः** जहाँ व्यंग्यार्थ वस्तु या अलंकाररूप न होकर रसरूप हो, वहाँ रस-ध्वनि होती है। यह ध्वनि तीनों में श्रेष्ठ होती है। रसभावादि में इसकी स्थिति रहती है-

लखि निर्जन भौंन उठी परजंक सौं बाल चली सनकै ललचायकै।
छल-सौं द ग मीलित पी मुखकौं, बड़ी देर लौं देखि हिये हुलसायकै।
मुख चुम्बन लेत, कपोल लखै, पुलकै भई नम्रमुखी सकुचायकै।
हंसिकै पिय ने तब भामिनी कौ अधराम त पान कियौ मनभाइकै।

यहाँ नव-वधु के संयोग-श ंगार का चित्र है। नायिका आश्रय है, नायक आलम्बन। रति स्थायी भाव है, एकान्तस्थल, तरुण एवं सुन्दर नायक की मनोरम मुखाक ति उद्दीपन है। नायक के मुख कपोलादि देखना, नम्रमुखी होना, आनन्दित होना अनुभाव है। शंका, औत्सुक्य, बीड़ा आदि संचारी भाव हैं। उक्त विभाव, अनुभाव एवं संचारी भाव ही वाच्यार्थ रूप में स्थित हैं, जिनसे रसरूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो रही है, अतः यहाँ रस-ध्वनि है।

1. गुणीभूत - व्यंग्य काव्य

रमणियों के कमनीय कलेवर में प्रस्फुटित विलक्षण लावण्य के समान सहृदय-हृदयों के लिए आवर्जक जिस व्यंग्यार्थ का काव्य में प्रतिपादन किया जाता है। उसका प्राधान्य होने पर ध्वनि-काव्य कहा जाता है, परन्तु व्यंग्यार्थ के गौण हो जाने से वाच्यार्थ में रमणीयता का आधिक्य हो जाने पर काव्य गुणीभूत-व्यंग्य कहलाता है। जिन काव्योक्तियों में व्यंग्य का संस्पर्श मात्र भी रहे तथा जिनमें रूपकादि अलंकार भी हो, वे सभी गुणीभूत-व्यंग्य के अन्तर्गत आ जाते हैं।

गुणीभूत-व्यंग्य के आठ भेद कहे गए हैं। ये हैं - अगूढ़, अपरांग, वाच्यसिद्धयंग, अस्फुट, सन्दिग्धप्राधान्य, तुल्याप्राधान्य, काक्वाक्षिप्त तथा असुन्दर। यहाँ इनके स्वरूप को समझ लेना आवश्यक हो जाता है।

1. **अगूढ़ः** हिन्दी-साहित्य में सौन्दर्य विषयक यह दोहा बहुप्रचलित है।

सर्व ढंके सोहै नहीं, उधरे होत कुबेस।
अर्ध ढंके, छवि देत है कवि-आखर कुच केस।।

तात्पर्य यह है कि कवि-अक्षर (कवि का प्रतिपाद्य) न तो इतना निगूहित हो कि सहृदय भी कठिनता से समझ सकें और न इतना सरल हो कि सर्वजन सुलभ हो, बल्कि मात्र सहृदय-संवेद्य हो।

2. **अपरांगः** अपरांग का अर्थ है दूसरे का अंग हो जाना अथवा अन्य किसी की पुष्टि करना। जहाँ रसादि असंलक्ष्यक्रम ध्वनियाँ किसी अन्य रसादि ध्वनि का अंग हो जाती है अथवा कोई व्यंग्यार्थ किसी अन्य का अंग हो जाता है तो उसे ध्वनि कहा जा सकता, क्योंकि ध्वनि-काव्य व्यंग्यार्थ का प्राधान्य होने पर ही सम्भव है। अन्य का अंग हो जाने पर वह स्वभावतः ही गौण हो जाता है, अतः इसे गुणीभूत व्यंग्य में परिगणित किया जाता है।

3. **वाच्यसिद्धयंगः** वाच्यसिद्धयंग में व्यंग्यार्थ वाच्य की सिद्धि के लिए उसका अंग हो जाता है, अर्थात् वाच्य की सिद्धि बिना व्यंग्यार्थ के ग्रहण के सम्भव नहीं होती। अतः व्यंग्यार्थ जो वाच्य की सिद्धि के लिए उसका अंग बनता है, वाच्यसिद्धयंग व्यंग्य कहलाता है। यथा

करत प्रकाश सुदिसिन को, रही ज्योति अति जागि।
है प्रताप तेरी न पति बैरी-बंस-दवागि।।

उक्त दोहे में बैरी के सामीप्य के कारण 'बंस' का अर्थ वंश हुआ, लेकिन इससे वाच्यार्थ की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि दावाग्नि बैरी-वंश का क्या बिगाड़ सकती है।

4. **अस्फुटः** जहाँ व्यंग्यार्थ इतना निगूहित हो कि सहृदयों को भी उसकी प्रतीति कठिनता से हो सके, वहाँ अस्फुट गुणीभूत-व्यंग्य होता है। काव्य में व्यंग्यार्थ की स्थिति कामिनी क्रचकवश-न्याय से मानी जाती है।

5. **तुल्यप्राधान्यः** जहाँ वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ में समान चारुत्व होता है, वहाँ तुल्यप्राधान्य व्यंग्य होता है। इसमें वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ दोनों एक समान ही चमत्कारजनक होते हैं। संदिग्ध प्राधान्य में वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ की उत्क ष्टता का सापेक्षित निर्णय नहीं हो पाता, जबकि तुल्यप्राधान्य में वे निश्चितरूप से समान चमत्कारजनक कहे जा सकते हैं। यथा-

आज बचपन का कोमल गात,
जरा का पीला पात,
चार दिन सुखद चाँदनी रात,
और फिर अन्धकार अज्ञात।

इन पंक्तियों का व्यंग्यार्थ यह है कि सभी दिन एक समान व्यतीत नहीं होते, उत्थान-पतन, विकास-हास यह तो स ष्टि का नियम है। इस व्यंग्यार्थ तथा वाच्यार्थ में समान ही चमत्कार विद्यमान है।

6. **सन्दिग्धप्राधान्यः** जहाँ वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ के प्राधान्य का स्पष्ट निर्णय न हो सके, यह संदेह बना रहे कि चमत्काराधिक्य किसमें है, वहाँ सन्दिग्धप्राधान्य नामक गुणीभूत-व्यंग्य होता है। व्यंग्यार्थ के प्राधान्य का विवादास्पद होना ही उसे गुणीभूत-व्यंग्य बना देता है, क्योंकि ध्वनि-काव्य व्यंग्यार्थ के प्राधान्य का विवादास्पद होना ही उसे गुणीभूत-व्यंग्य बना देता है, क्योंकि ध्वनि-काव्य व्यंग्यार्थ के प्राधान्य की स्थिति में ही हो सकता है।

थके नयन रघुपति छवि देखी।
पलकनहूँ परिहरी निमेखी।
अधिक सनेह देह भई भोरी।
सरद ससिहिं जनु चितव चकोरी।

सीताजी भगवान् राम के लोकोत्तर सौन्दर्य को देखकर उसी प्रकार भाव-विभोर हो गईं, जिस प्रकार चकोरी शरदकालीन चन्द्रमा को देखकर भाव-विभोर हो जाती है।

7. **काक्वाक्षिप्तः** काकु से तात्पर्य कण्ठ-ध्वनि से है। जहाँ व्यंग्यार्थ काकु से खींचकर ग्रहण किया जाए, वहाँ काक्वाक्षिप्त व्यंग्य कहलाता है। इसको गुणीभूत व्यंग्य में इसलिए परिगणित किया जाता है, क्योंकि यह सरलता एवं शीघ्रता से विदित हो जाता है। जहाँ काकु द्वारा विधि निषेधात्मक अर्थ की प्रतीति के उपरान्त ध्वन्यर्थ निकलता है, वह देर से निकलता है तथा मात्र सहृदय-संवेद्य होता है। अतः वहाँ काकुवैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना होती है, जबकि काक्वाक्षिप्त में व्यंग्य सरलता से निकलने के कारण सर्वजन संवेद्य होता है - दोनों में यही सूक्ष्म अन्तर हैं। एक उदाहरण प्रस्तुत है-

है दशसीस मनुज रघुनायक।
जाके हनूमान से पायक।

उक्त चौपाई का वाच्यार्थ है कि राम मानव है, लेकिन काकु के बल पर विधिपरक वाच्यार्थ से निषेधात्मक व्यंग्यार्थ निकलता है कि जिस व्यक्ति के स्वर्णिम लंका को जलाने

और अक्षय कुमार को मारनेवाले हनुमान जैसे दूत हैं, उसके योद्धाओं के विषय में क्या कहा जा सकता है। ऐसे लोकोत्तर शक्ति सम्पन्न राम मानव नहीं हैं, वे निश्चय ही मानवेतर स ष्टि के जीव हैं।

8. **असुन्दरः** जहाँ वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ कम चमत्कारजनक हो, असुन्दर हो, वहाँ असुन्दर व्यंग्य होता है। इसमें व्यंग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ में ही अधिक चारुता रहती है यथा-

जड़े विहगजन कुंजते, यह धुनि सुनि तत्काल।
सिथलित तन विकसित भई, ग हकारजरत बाल।
वानीर कुब्जोड्डीन शकुनिकोलाहलं श ण्वन्तयाः।
ग ह कर्म व्याप्तताया वध्वाः सदिन्त्यंगनि।।

व्यंग्यार्थ यह है कि ग हवधु ने अपने उपपति से मिलने के लिए वेतसकुंज में संकेत स्थल निश्चित किया है।

चित्र काव्य

जिस काव्य में व्यंग्यार्थ का अस्तित्व ही नहीं होता, उसको चित्रकाव्य या अधम काव्य कहते हैं। इसमें व्यंग्यार्थ का अभाव होता है, माधुर्यादि व्यंजक तथा अलंकारयुक्त शब्द एवं अर्थ की योजना रहती है। यह चित्रकाव्य भी दो प्रकार का होता है - शब्दचित्र एवं अर्थचित्र। जहाँ प्रधानतः शब्द चमत्कार विद्यमान होता है, वह शब्दचित्र कहलाता है। इसके अन्तर्गत मुख्यतः अनुप्रास एवं यमक की शब्द-क्रीड़ा आती है। एक छन्द-

नेह बरसाने, तेरे नेह बरसाने, देखि,
यह बरसाने बर मुरली बजावैंगे,
साजु लाल सारी, लाल करैं लालसा री,
देखिबे की लालसा री, लाल देखें सुख पावैंगे,
तू ही उरबसी, उरबसी नाहीं और तिय,
कोटि उरबासी तजि तोसों चित्त लावैंगे,
सेज बनवा रही, बनवा री तन आभरन,
गोरे तन वारी बनवारी आजु आवैंगे।

यहाँ कवि का सम्पूर्ण ध्यान यमक पर केन्द्रित है।

6. वक्रोक्ति-सिद्धान्त

भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में सौन्दर्य तत्त्वों की वस्तुपरक व्याख्या में सबसे अधिक योगदान कुन्तक का है। जब अलंकार एवं रीतिवादी चिंतन को, आनन्दवर्द्धन ने आत्मभूत तत्त्व ध्वनि की स्थापना कर, गौण सिद्ध कर दिया तो कुन्तक ने वर्ण से लेकर प्रबन्ध तक समस्त सौन्दर्य तत्त्वों की वस्तुगत व्याख्या कर वक्रोक्ति नामक नवीन सिद्धान्त का प्रवर्तन किया। इस प्रकार राजानक कुन्तक वक्रोक्ति सिद्धान्त के प्रवर्तक हैं। किंतु इसके बीज पूर्ववर्ती आचार्यों के विवेचन में विद्यमान हैं।

वक्रोक्ति के प्रतिष्ठापक कुंतक ने बाणभट्ट के - वाक्छल क्रीड़ालाप, परिहास जल्पित, चमत्कार पूर्ण शैली, वचन विदग्धता, आदि वक्रोक्ति शब्द के अर्थों की प ष्ठभूमि में वक्रोक्ति को वैदग्ध्य भंगी भणिति कहा है। उनके अनुसार काव्य-निर्माण की अपूर्व कुशलता से लोकोत्तर चमत्कार प्राण विचित्र कथन ही वक्रोक्ति है। कुन्तक की वक्रोक्ति चमत्कार उत्पन्न करने के कारण ही वक्रयुक्ति है। वक्रोक्ति से ही अर्थ का विभाजन होता है।

वक्रोक्ति का स्वरूप

आचार्य कुन्तक के अनुसार काव्य में शब्द और अर्थ अलंकार्य हैं तथा उन्हें शोभित करनेवाला तत्त्व है- वक्रोक्ति। यह वक्रोक्ति ही काव्य की जीवित (प्राणतत्त्व) है। उन्होंने वक्रोक्ति को इस प्रकार परिभाषित किया है-

''वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगिभणिति तिरुच्यते।''

अर्थात् वैदग्ध्यभंगीभणिति ही वक्रोक्ति होती है। इसे स्पष्ट करते हुए कुन्तक ने कारिका में लिखा है -

'वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा। कीछशी; वैदग्ध्यभंगीभणिति'।
वैदग्ध्यं विद्ग्धभावः कविकर्मकौशलं, तस्य भंगी विच्छित्ति; तया भणितिः।

विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते। अर्थात् प्रसिद्ध कथन से भिन्न प्रकार की विचित्र वर्णन शैली ही वक्रोक्ति कहलाती है।

कुन्तक की उपर्युक्त विव त्ति का विश्लेषण करने पर अग्रांकित तथ्य निकलते हैं-

1. वक्रोक्ति कथन-प्रणाली या प्रतिपादन पद्धति है। वह अलंकार्य न होकर अलंकार है। वह अलंकार्य न होकर भी काव्यक्षेत्र में इतनी महत्त्वपूर्ण हो जाती है कि काव्य के जीवित (प्राण तत्त्व) पद पर प्रतिष्ठित की जा सके।
2. विचित्र कथन-पद्धति का अर्थ है- प्रसिद्ध कथन-प्रणाली से भिन्न। इस भिन्नता का स्वयं कुन्तक ने कई स्थलों पर विवेचन किया है।
3. वक्रोक्ति का आधार है- वैदग्ध्यजन्यचारुता, कवि कौशलजन्य चमत्कार अथवा प्रतिभाजन्य चमत्कार। काव्य में चारुता, चमत्कार, वक्रता, विचित्रता, शोभा और विच्छिति एक ही अर्थ के वाचक हैं। कुन्तक ने इनका एक ही अर्थ में प्रयोग किया है।

4. काव्य का जीवित (प्राण-तत्त्व) होने के कारण वक्रोक्ति के लिए अनिवार्य उपबन्ध (शर्त) है- सहृदयाह्लादकारिता। इसका तात्पर्य यह है कि कुन्तक को वक्रोक्ति के नाम पर शब्द-क्रीड़ा या निक ष्ट काव्य-कौतुक मान्य नहीं है।

इस प्रकार वक्रोक्ति में तीन गुण विद्यमान रहते हैं- (क) शास्त्र तथा लोक-व्यवहार में प्रचलित कथन भंगिमा से भिन्नता, (ख) कवि कौशलजन्य चमत्कार, तथा (ग) सहृदयाह्लादन की क्षमता। यहाँ संक्षेप में उक्त तीन गुणों की आवश्यकता एवं महत्ता पर विचार कर लेना आवश्यक होगा-

(क) **शास्त्र तथा लोक-व्यवहार में प्रचलित कथन भंगिमा से भिन्नताः** कुन्तक काव्य के सौन्दर्यशास्त्रीय पक्ष की ओर पूर्णतः जागरुक थे। उसके महत्त्व का उद्घाटन करते हुए वे वक्रोक्ति को लोक एवं शास्त्र की रूढ़ कथन-भंगिमा से भिन्न घोषित करते हैं। शास्त्र की भाषा वैज्ञानिक या दार्शनिक मन का उत्पादन है। वैज्ञानिक के समक्ष विषय का सम्यक् प्रतिपादन ही लक्ष्य रहता है। इसके विपरीत कवि भाषा को अधिकाधिक प्रभावोत्पादक तथा व्यंजना प्रधान बनाने का प्रयास करता है। कवि तथा वैज्ञानिक की भाषा का अन्तर स्पष्ट करते हुए स्वर्गीय दिनकर जी कहते हैं-

''वैज्ञानिक और कवि शब्द तो प्रायः एक ही कोश से लेते हैं, किंतु शब्दों को वाक्य के भीतर बिठाने में दोनों के तरीकों में भेद पड़ जाता है। कवि शब्दों को इस उद्देश्य से बिठाता है कि वे अपनी ध्वनि को झंक त कर सकें। x x x वैज्ञानिक एक शब्द से एक ही अर्थ लेना चाहता है और न स्वयं आवेश में आता है और न अपने शब्दों द्वारा दूसरों को आविष्ट बनाना चाहता है।

काव्य-भाषा लोक-व्यवहार की भाषा से भिन्न होती है। लोकभाषा में उद्देश्य होता है- विचार-विनिमय, अतः व्यक्ति ऐसी भाषा का प्रयोग करता है, जो प्रचलित, स्पष्ट एवं साधारण हो। वहाँ न भाषा-सौन्दर्य का महत्त्व है और न कलात्मक अभिव्यंजना का। इसके विपरीत काव्य-भाषा भावों एवं विचारों की अभिव्यंजना तो करती ही है, कलात्मक प्रभाव डालती है। सौन्दर्य-सर्जन उसका प्रधान गुण है। जिस प्राकर सेल्स गर्ल ग्राहक को वस्तुएँ ही नहीं बेचती बल्कि अपनी मधुर वाणी, शिष्ट व्यवहार, रूप माधुरी आदि से उस पर आकर्षक प्रभाव भी डालती हैं। उसी प्रकार काव्य-भाषा भावों और विचारों को अभिव्यक्त ही नहीं करती, अपितु सहृदय पाठक पर अपना सौन्दर्य शास्त्रीय प्रभाव भी डालती है।

इस प्रकार काव्य-भाषा को शास्त्र-भाषा एवं लोकभाषा से प थक् कर कुन्तक उसके सौन्दर्य शास्त्रीय पक्ष का ही उद्घाटन कर रहे हैं।

(ख) **कवि कौशलजन्य चमत्कारः** कुन्तक वक्रोक्ति का आधार कवि कौशलजन्य चमत्कार मानते हैं। चमत्कार के कवि कौशल पर आधारित होने का तात्पर्य यह है कि वह निक ष्ट कोटि का न होकर, आभिजात्य गुण से समन्वित होना चाहिए। कुन्तक ने अपने ग्रंथ में अनेक ऐसे श्लोक उद्ध त किए हैं, जिनमें रचयिताओं ने प्रणयन-पाटव-विषयक न्यूनताएँ छोड़ दी हैं। साथ ही संशोधन भी प्रस्तुत किए हैं। हिन्दी का एक छंद लेकर कवि-कर्म की न्यूनता पर प्रकाश डाला जा सकता है। छन्द है-

मतव्यथित हो पुष्प किसको
सुख दिया संसार ने,
स्वार्थमय सबको बनाया
है यहाँ करतार ने।

उक्त छन्द में मुरझाये फूल को सम्बोधित किया गया है। यहाँ यदि 'पुष्प' के स्थान पर सुमन शब्द रख दिया जाए तो छन्द का अर्थ एवं सौन्दर्य द्विगुणित हो जाएगा। कविकर्म की द ष्टि से कवि को असावधान ही कहा जाएगा। इस प्रकार कुन्तक कवि-कर्म-कौशल को वक्रोक्ति का अनिवार्य आधार मानते हैं।

(ग) **सहृदयाह्लादन की क्षमताः** वक्रोक्ति का कुन्तक ने एक निश्चित प्रयोजन रखा हैः सहृदय के हृदय को आनन्दित करने की क्षमता। विचारने पर स्पष्ट हो जाता है कि कवि-कर्म-कौशल को वक्रोक्ति का मूलाधार है और सहृदयाह्लादन की क्षमता उसका प्रयोजन। जहाँ काव्योक्ति में कवि-कर्म-कौशल का अभाव होगा, वहाँ वह सहृदय के हृदयाह्लादन में भी असमर्थ होगी। वस्तुतः कुन्तक यह प्रतिपादित करना चाहते हैं कि उदात्त भाव की कवि-कौशल से परिपूर्ण अभिव्यक्त ही काव्य है।

कुन्तक के उक्त मन्तव्य को एक उदाहरण द्वारा सरलता से समझा जा सकता है। नयी कविता का एक छन्द दर्शनीय है।

उधर टेबुल पर बैठी है
पीलिया के रोगी सी
धँसी-धँसी आँखों वाली
आफिस गर्ल्स-
कोठों पर रात गुजारकर सुबह-सुबह सोई।
थकी वेश्याओं की तरह।

उक्त छन्द में आफिस गर्ल्स का चित्रण है। उनकी शारीरिक, क शता, रुग्णता आदि के साथ कवि ने उनके जीवन में प्रसन्नता एवं प्रफुल्लता, आशा एवं उल्लास के नितान्त अभाव को भी अभिव्यक्ति का विषय बनाया है। आज के आफिस का यथार्थ चित्र है, किन्तु कवि ने अभिव्यक्ति में प्रतिभा-दारिद्रय को व्यक्त किया है। उसने जो उपमान चुना है वह उचित नहीं है। वह विषय के स्पष्टीकरण में सहायता कम कर रहा है, घ णा अधिक उत्पन्न कर रहा है। कवि को साद श्य-योजना प्रस्तुत करके उनके जीवन की दयनीयता को व्यक्त करना चाहिए था, उल्टे उनके प्रति घ णाभाव उत्पन्न कर दिया है, जो न काव्य का उद्देश्य है और न यथार्थ चित्रण का।

उक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि-कौशल वक्रोक्ति का मूल आधार है और सहृदयों के हृदय को आह्लादित करने की क्षमता उसका प्रयोजन। आधार एवं प्रयोजन दोनों में कार्यकारण सम्बन्ध है।

वक्रोक्ति के भेद

कुन्तक ने वक्रोक्ति के भेद, व्याकरण तथा काव्यशास्त्र के समन्वित आधार पर किए हैं। भाषा की सूक्ष्मतम इकाई है - वर्ण और स्थूलतम है - वाक्य। इन दोनों के मध्य में पद स्थित है, जिसे व्याकरणिक द ष्टि से प्रक ति और प्रत्यय नामक दो भागों में विभाजित किया गया है। कुन्तक ने इन्हीं के भेदों को आधार बनाया है। इस प्रकार कुन्तक ने व्याकरण कथा काव्यशास्त्र का समन्वित आधार लेकर वक्रोक्ति के छः भेद किए हैं-

1. वर्णविन्यास वक्रता
2. पदपूर्वार्द्ध वक्रता

3. पदपरार्द्ध वक्रता
4. वस्तु या वाक्य वक्रता
5. प्रकरण वक्रता
6. प्रबन्ध वक्रता

1. **वर्णविन्यास वक्रताः** इस वक्रता के अन्तर्गत कुन्तक ने व्यंजन वर्णों से उत्पन्न होनेवाले समस्त सौन्दर्य-प्रकारों को लिया है। प्राचीन आचार्यों द्वारा वर्णित अनुप्रास तथा यमक शब्दालंकारों का उन्होंने इसी वक्रता में अन्तर्भाव किया है। कुन्तक ने इस वक्रता के कई भेदों का उल्लेख किया है। इन्हें संक्षेप में बताना ही युक्तिसंगत है।

   प्रथम प्रकारः वर्ण-विन्यास वक्रता का प्रथम प्रकार वह है, जहाँ स्वल्प व्यवधान के साथ एक या एकाधिक वर्णों का सन्निवेश सौन्दर्य सम्पन्न प्रतीत होता है। स्वल्पान्तर को कुन्तक ने संगीत-स ष्टि के लिए आवश्यक माना है, अन्यथा अव्यवस्था उत्पन्न हो जाएगी। एक उदाहरण -

   इस करुणा-कलित ह्रदय में,
   क्यों विकल रागिनी बजती।

   यहाँ स्वल्प अन्तर के साथ 'क' की सुन्दर आव त्ति हुई है।

   द्वितीय प्रकारः जहाँ ककार से लेकर मकार तक पाँचों वर्गों के व्यंजन अन्तिम वर्ण के साथ संयुक्त हो, त, ल एवं न द्वित्व रूप में निबद्ध हो या शेष वर्गों का रकार के साथ संयोग हो, वहाँ यह भेद होता है। यथा

   बस एक श ंग पर हिम का,
   था कम्पित कंचन झलमल।

   त तीय प्रकारः त तीय प्रकार वह है, जहाँ बिना व्यवधान के एक या एकाधिक वर्णों का विन्यास विशिष्ट सौन्दर्य उत्पन्न करता है। यथा-

   सीत्-सीत् करनी बयार है बह रही,
   बरस रहा खेतों में हिम हेमन्त है।

   यहाँ 'सीत्-सीत्' में कई वर्णों की बिना व्यवधान के आव त्ति दर्शनीय है।

   चतुर्थ प्रकारः चतुर्थ प्रकार वह है, जहाँ ऐसा लगता है, जैसे एक सुकुमार वर्ण को अनायास आव त्त कर छोड़ दिया गया हो और दूसरे वर्ण की आव त्ति स्वयं चल पड़ी हो। एक उदाहरण पर्याप्त है-

   आज है केसर रंग रँगे
   ग ह द्वार नगर वन
   जिनके विभिन्न रंगों में रँग गयी
   पूनो की चन्दन चाँदनी

   पंचम प्रकारः पंचम प्रकार वह है जहाँ एक या एकाधिक सद श्य श्रुतिवाले वर्णों का व्यवहित या अव्यवति उपनिबन्ध होता है, जिनका अर्थ भिन्न-भिन्न हुआ करता है और जो श्रुतिरंजक होने के साथ-साथ वर्ण्यविषय के औचित्य से पूर्ण रहा करता है। निःसंदेह यह यमक ही है-

तरणि के संग तरल तरंग में
तरणि डूबी थी हमारी ताल में

यहाँ प्रथम 'तरणि' का अर्थ है सूर्य और द्वितीय का नौका।

कुन्तक ने वर्ण-विन्यास के पाँच प्रकारों का विवेचन किया है।

2. **पदपूर्वार्द्ध वक्रताः** संस्क त-व्याकरण में पद, प्रक ति एवं प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है। यदि पाचक शब्दों को लें तो यहाँ पच् धातु है, जिसे प्रक ति कहा जाता है और ण्वुल प्रत्यय। इसी व्याकरणिक आधार पर ही कुन्तल ने पदवक्रता को दो भागों में विभाजित कर प्रक ति पक्ष को पदपूर्वार्द्ध और प्रत्यय पक्ष को पदपरार्द्ध नाम दिया है। पदपूर्वार्द्ध वक्रता के निम्न उपभेद हैं-

(क) **रूढ़िवैचित्र्य वक्रताः** जहाँ लोकोत्तर तिरस्कार या प्रशंसा के उद्‌देश्य से वाच्यार्थ की रूढ़ि से असम्भव अर्थ के अध्यारोप से युक्त अथवा किसी विद्यमान धर्म के अतिशय के आरोप से गर्भित रूप में प्रतीत होती है, वहाँ रूढ़िवैचित्र्य वक्रता होती है।

(ख) **पर्याय वक्रताः** जब कवि किसी शब्द का इस प्रकार प्रयोग करता है कि उस शब्द से जो अर्थ ध्वनित होता है, वह उसके पर्याय से सम्भव न हो तो उसे पर्याय वक्रता कहते हैं। यथा-

बार-बार है किया पराजित
सुधापायियों को असुरों ने
भागा किया वज्रधर धा-धा
छोड़ हमें इन्द्राणी।

यहाँ इन्द्र के लिए 'वज्रधर' तथा देवताओं के लिए 'सुधापायी' शब्द का प्रयोग किया गया है।

(ग) **उपचार वक्रताः** जहाँ मूर्त्त उपमेय के लिए अमूर्त्त उपमान तथा अमूर्त्त के लिए मूर्त्त उपमान लाया जाता है, वहाँ उपचार वक्रता होती है। उदाहरण-

सघन बर्फ की कड़ी पर्त सी
एक-एक कर अमिट रूढ़ियाँ
सदियों से जमती जाती हैं
तह पर तह मानव जीवन पर।

यहाँ अमूर्त रूढ़ियों के लिए मूर्त उपमान बर्फ की तह लाया गया है।

(घ) **विशेषण वक्रताः** जहाँ विशेषणों के रम्य एवं सार्थक प्रयोग से काव्य में सौन्दर्य एवं गुण की व द्धि होती है, वहाँ विशेषण वक्रता होती है।

मधु-पवन क्रीड़ित ज्यों शिशु शाल
सुशोभित हो सौरभ संयुक्त।

यहाँ प्रसाद जी ने उपमान शाल में शिशु विशेषण वक्रता जोड़कर उसे छरहरी श्रद्धा के उपयुक्त बनाया है।

(ङ) **संव त्ति वक्रताः** जहाँ उक्ति में वैचित्र्य उत्पन्न करने की इच्छा से वस्तु का निगूहन किया जाता है, वहाँ संव त्ति वक्रता होती है।

(च) **प्रत्यय वक्रताः** पद के मध्य में आया हुआ प्रत्यय अपने सौन्दर्य को प्रकाशित करता हुआ सम्पूर्ण छन्द को रसस्निग्ध बना देता है। यह प्रक ति संस्क त भाषा के अनुकूल पड़ती है। हिन्दी के तत्सम शब्दावली में ही इसके उदाहरण मिलते हैं।

(छ) **आगम वक्रताः** यह प्रक ति भी संस्क त भाषा के अनुकूल पड़ती है। आगम से पद में झंक ति उत्पन्न होती है। इसे ही आगम वक्रता कहते हैं। यथा-

विहँसने लगा व्यंग्य से विश्व
अरी ओ रसवन्ती सुकुमार।

यहाँ रसवती की अपेक्षा रसवन्ती पद अधिक रसमयता को व्यक्त कर रहा है।

(ज) **व त्ति वक्रताः** 'व त्ति' शब्द का प्रयोग समास, तद्धित, नामधातु आदि व्याकरणिक व त्तियों के लिए किया गया है। इसे ही व त्ति वक्रता कहते हैं। यथा-

तुम कौमुदी-सी पराग पथ पर,
संचार करती चलो मधुरिमा।

यहाँ माधुर्य का प्रयोग न करके 'मधुरिमा' का प्रयोग किया है।

(झ) **लिंग वक्रताः** जहाँ लिंग-प्रयोग से काव्य में रम्यता उत्पन्न होती है वहाँ लिंग वक्रता होती है। यथा-

किसी नयी तारिका को
नयी-नयी रश्मियों से सजाकर, सँवारकर
नयी रूप स ष्टि
नयी द ष्टि से निहारकर
खो ही गया होगा चाँद

यहाँ चाँद पुल्लिंग तथा तारिका स्त्रीलिंग शब्दों के बल पर अन्यार्थ की प्रतीति हो रही है।

(ा) **क्रियावैचित्र्य वक्रताः** जहाँ क्रिया की विचित्रता से काव्य में अपूर्व चमत्कार उत्पन्न होता है, वहाँ क्रियावैचित्र्य वक्रता होती है। यथा-

झूम-झूम कर मत्त प्रभंजन
करता है भय का संचार।

3) **पदपरार्द्ध वक्रताः** काव्य में प्रत्यय अंश से भी रम्यता उत्पन्न होती है। पुरुष वचन, कारक आदि साधारणतः प्रत्यय में छिपे रहते हैं, इसलिए इस वक्रता को प्रत्यय-वक्रता कहा जाता है। इसके उन्होंने भिन्न भेद किए हैं।

(क) **कालवैचित्र्य वक्रताः** जहाँ कवि वर्तमान के धरातल पर अतीत के चित्र अंकित करता है, वहाँ कालवैचित्र्य वक्रता होती है।

(ख) **कारक वक्रताः** जहाँ कवि सामान्य कारक के विपर्यय से सौन्दर्य उत्पन्न करता है, वहाँ कारक वक्रता कहलाती है। यह काव्य में अपूर्व चमत्कार पैदा करती है-

और सोचो खुद अपनी बात, कि अपना प्रथम प्रेम-संलाप।
सहमकर सकुच गये थे बोल, रह गया मन में मन का ताप।

यहाँ वचनों के सहमकर संक्रमित हो जाने का वर्णन है, जबकि संकोच व्यक्ति का धर्म है। इससे उक्ति में अपूर्व सौन्दर्य का संचार हुआ है।

(ग) **वचन वक्रता:** जहाँ कवि एकवचन के स्थान पर बहुवचन और बहुवचन के स्थान पर एकवचन का प्रयोग कर काव्य में सौन्दर्य उत्पन्न करता है। वहाँ वचन वक्रता होती है। यथा- 'किसके स्वर में आज मिला दोगी वर्षों का गान' यहाँ गान की आन्तरिक अन्विति को व्यक्त करने के लिए एकवचन प्रयुक्त हुआ है।

(घ) **पुरुष वक्रता:** जहाँ पुरुष के विपर्यय से चमत्कार उत्पन्न होता है, वहाँ पुरुष वक्रता कहलाती है। यथा- हाँ, किशोर, यह वही तुम्हारी बाल्य सखी पुतली है।

(ड.) **उपग्रह वक्रता:** आत्मनेपदी और परस्मैपदी धातुओं के प्रसंगोचित प्रयोग से जहाँ चमत्कार उत्पन्न करता है, उसे उपग्रह वक्रता कहा जाता है।

(च) **प्रत्यय वक्रता:** प्रतिभासम्पन्न कवि प्रत्ययों का भी रम्य प्रयोग करते हैं, जिससे काव्य में चमत्कार उत्पन्न हो जाता है, यही प्रत्यय वक्रता कहलाती है। उदाहरणार्थ- 'बेदर्दी परदेस बसे हैं हूँक करेजवा छायी रे।'

(छ) **उपसर्ग वक्रता:** महाकवि उपसर्गों का भी वस्तु एवं रस के अनुकूल प्रयोग करते हैं- इससे काव्य सौन्दर्य-सम्पन्न हो उठता है। यथा- 'तेरा अधर विचुम्बित प्याला।'

(ज) **निपात वक्रता:** जहाँ निपात के सफल एवं सार्थक प्रयोग से काव्य में सौन्दर्य उत्पन्न होता है, वहाँ निपात वक्रता होती है। यथा-

हाय ! तुम्हारी नैसर्गिकता मानव-नियम निराला है।
वह तो अपने से ही अपना प्रणय छिपाने वाला है।

यहाँ कवि-हृदय का सम्पूर्ण विषाद हाय में केन्द्रित हो गया है।

4) **वस्तु या वाक्य वक्रता:** वर्णनीय वस्तु का उत्कर्षशाली स्वभाव से सुन्दररूप में वर्णन-वस्तु वक्रता कहलाता है। वस्तु के स्वभाव के अनुरूप कभी कवियों को स्वाभाविक सौन्दर्य प्रकाशित करना अभीष्ट होता है। और कभी रचना-वैचित्र्य से युक्त सौन्दर्य को अंकित करना। प्रथम प्रकार में कवि अपनी प्रतिभा के बल पर वस्तु के स्वाभाविक सौन्दर्य का वर्णन करता है- यह सहजता कहलाती है। द्वितीय प्रकार में कवि शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास के बल पर कवि-कौशल द्वारा वस्तु का अंकन करता है- यह आहार्या कहलाती है।

(क) **सहजता:** सहज शोभा में वस्तु का प्रक त वर्णन होता है। ऐसे स्थलों पर वस्तु स्वाभाविकरूप से रमणीय होती है, अतः कवि सूक्ष्म पर्यवेक्षण के आधार पर वस्तु का चित्रांकन करता है, रचना-वैचित्र्य के आधार पर नहीं। रचना-वैचित्र्य से बचने का कारण यह है कि इससे वस्तु के स्वाभाविक सौकुमार्य में मलिनता आने का भय रहता है। साथ ही अलंकारों के मुखर प्रयोग से हृदय का ध्यान वस्तु से हटकर अभिव्यंजना पर केन्द्रित हो जाता है।

यदि अलंकारों का प्रयोग होता भी है तो वस्तु के सहज सौन्दर्य को प्रकाशित करने के लिए ही, न कि वैचित्र्य-प्रदर्शन के लिए।

(ख) **आहार्याः** कुन्तक ने स्पष्ट किया है कि आहार्या प्रस्तुत सौन्दर्यरूपा होने पर भी अलंकार-वैचित्र्य के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इसमें कवि रचना-वैचित्र्य के बल पर वस्तु का कल्पनात्मक चित्र अंकित करता है। वर्ण्य के एक होने पर भी अभिव्यंजना-प्रणाली की भिन्नता के कारण शब्द-चित्रों में विभिन्नता आ जाती है। उदाहरणार्थ-

पति सेवारत साँझ
उमकता देख पराया चाँद
ललकार ओट ही गयी।

यहाँ प्रस्तुत है- सांध्य अरुणिमा के समय चन्द्रोदय तथा संध्या का विलीन हो जाना किंतु कवि-कौशल के आधार पर संध्या में पतिपरायण स्त्री, सूर्य में पति तथा चन्द्र से पाप शुद्धि परपुरुष का आरोपकर विषय को रम्य बना दिया गया है। मानवीकरण के इतने लघु एवं विरल उदाहरण साहित्य में विरल ही हैं।

5) **प्रकरण वक्रताः** प्रबन्ध के एक देश या कथा के एक प्रसंग को प्रकरण कहते हैं। विभिन्न प्रकरणों के समुच्चय से ही प्रबन्ध बनता है। प्रकरण अंग है और प्रबंध अंगी।

कुन्तक ने प्रकरण वक्रता के निम्न भेदों का विवेचन किया है-

(क) **भावपूर्ण स्थलों की उद्भावनाः** जहाँ कवि किसी भावपूर्ण स्थल की उद्भावना करता है जो प्रमुख पात्र के चरित्र का उत्कर्ष करती हो, प्रबन्ध-लालित्य की अभिव द्धि करता हो, रस को परिपुष्ट करता हो, वह प्रकरण वक्रता का प्रथम प्रकार है। 'रघुवंश' में कौत्स-वरतन्तु प्रकरण इसी प्रकार का है।

(ख) **उत्पाद्य-लावण्यः** प्रसिद्ध इतिव त में कवि कल्पना का मधुर सन्निवेश ही उत्पाद्य लावण्य कहलाता है। इसके दो रूप हैं- अविद्यमान की कल्पना और विद्यमान में संशोधन। कथा की आन्तरिक विवशता के कारण कहीं कवि को अविद्यमान की कल्पना करनी पड़ती है। कालिदास ने 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में दुर्वासा के शाप तथा मत्स्य द्वारा अँगूठी-ग्रहण की सुन्दर कल्पना की है, जिससे दुष्यन्त के चरित्र के उन्नयन में सहायता मिली है।

(ग) **प्रकरणों का अनुग्राह्य-अनुग्राहक भावः** परस्पर सुसंगठित एवं अन्वित प्रकरणों के योग से ही प्रबन्ध का निर्माण होता है। अतः प्रबन्ध में सभी प्रकरणों को परस्पर संगठित एवं अन्वित होना चाहिए। कवि को कथा-संगठन के समय मुख्य उद्देश्य से सुसम्बद्ध तथा रम्य प्रकरणों की अवतारणा करनी चाहिए।

(घ) **प्रकरण विशेष की अतिरंजनाः** एक ही अर्थ को कवि प्रतिभा के प्रभाव से नूतन अलंकार तथा रस से शोभित करता हुआ अनेक स्थलों पर नवीन रूपों में रखकर शोभादायक बना सकता है। 'साकेत' के नवम सर्ग में उर्मिला के विरह-वर्णन इसका अतिरंजित रूप देखा जा सकता है।

(ड.) **रोचक प्रकरणों की अवतारणाः** सरसता एवं रोचकता की व द्धि के लिए महाकवि नानाविध रोचक प्रसंगों की अवतारणा करते हैं। इनमें जन विहार, उद्यान विहार, प्रभात संध्या, मधुपान, उपवन, नगर वर्णन आदि उल्लेखनीय हैं।

(च) **अवान्तर वस्तु योजनाः** कवि को अपने काव्य में प्रासंगिक कथाओं की विस्त त योजना करनी चाहिए, क्योंकि ये कथाएँ अपना उद्देश्य रखते हुए भी चरितनायक के उद्देश्य में सहायक होती है। इन कथाओं से काव्य में व्यापकता का संचार होता है।

(छ) **गर्भांक योजनाः** कहीं-कहीं काव्य में गर्भांक की योजना की जा सकती है, जिसमें कुछ अभिनेता सामाजिक और अन्य नर बन जाते हैं। इससे काव्य में सरसता एवं रोचकता की व द्धि होती है। राजशेखर ने 'बालरामायण' के त तीय अंक में 'सीता स्वयंवर' नामक गर्भांक की योजना की है।

(ज) **सन्धिविनिवेशः** प्रबन्ध की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि सभी पूर्व प्रकरणों का उत्तर प्रकरणों के साथ सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध हो। वस्तुतः यह उपभेद कथासूत्र की मूल आवश्यकता है जिसके अभाव में कवि का सम्पूर्ण कवि-कौशल ही निष्प्रयोजन हो जाएगा।

6) **प्रबन्ध वक्रताः** प्रबन्ध-कल्पना ही कवि-प्रतिभा का निकष है। प्रबन्ध में कवि को दो धरातलों पर द ष्टि रखनी पड़ती है जिस प्रकार प थ्वी अपने अक्ष पर प्रतिदिन परिभ्रमण करती हुई भी वर्ष में सूर्य के चारों की परिक्रमा पूर्ण करती है। कुन्तक ने निम्न भेदों पर प्रकाश डाला है-

(क) **प्रबन्धरस-परिवर्तन वक्रताः** जहाँ प्रतिभासम्पन्न कवि परम्परा प्राप्त कथावस्तु में निरूपित रस सम्पदा की उपेक्षा करके किसी अन्य आह्लादकारी रस में पर्यवसान करने के उद्देश्य से कथामूर्ति में आमूल परिवर्तन करता है, वहाँ यह वक्रता रहती है।

(ख) **समापन वक्रताः** जहाँ कवि उत्तरभाग की नीरसता का परिहार करने के उद्देश्य से, चरित नायक के पोषक, इतिहास प्रसिद्ध कथा के सरस प्रकरण पर कथा की परिसमाप्ति कर देता है, वहाँ समापन वक्रता होती है।

(ग) **कथाविच्छेद वक्रताः** कभी-कभी प्रतिभासम्पन्न कवि गौण कथा को उत्कर्ष प्रदान कर, मुख्य कथा के सहज प्रवाह को विच्छिन्न करते हुए गौणकथा से ही मुख्यकथा की सिद्धि करा देता है। गौणकथा से ही मुख्यकथा की सिद्धि होने से प्रबन्ध में अलौकिक सौन्दर्य स्फुरित होने लगता है।

(घ) **आनुषंगिक फलवक्रताः** जहाँ मुख्यफल की प्राप्ति के लिए उद्यत नायक उसी के समान स्प हणीय अन्य गौण फलों को भी प्राप्त कर लेता है, वहाँ आनुषंगिक फल वक्रता होती है। प्रासंगिक कथाओं के योग से आनुषंगिक फलों की प्राप्ति दिखायी जा सकती है।

(ङ) **नामकरण वक्रताः** प्रतिभासम्पन्न कवि काव्य की उस केन्द्रीय घटना पर नामकरण करके जो सम्पूर्ण प्रबन्ध का सार होती है, काव्य को अपूर्व सौन्दर्य से मण्डित कर देता है। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' ऐसा ही नाम है।

(च) **तुल्यकथा वक्रताः** एक ही कथा के आधार पर अनेक महाकवियों द्वारा रचित विभिन्न काव्य या नाट्य ग्रन्थ परस्पर तनिक भी समानता न रखते हुए सहृदयों को आह्लादित करनेवाले सौन्दर्य से सम्पन्न होते हैं।

वक्रोक्ति एवं अभिव्यंजना

आचार्य शुक्ल ने अपने इन्दौर के भाषण में क्रोचे के मत की समीक्षा करते हुए उनके अभिव्यंजनावाद को भारतीय वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान कहा है। इसकी बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया हुई और कुन्तक तथा क्रोचे के साम्य वैषम्य की परीक्षा आरम्भ हो गई। डॉ० लक्ष्मीनारायण सुधांशु ने काव्य

में अभिव्यंजनावाद नामक ग्रंथ में, तत्पश्चात् रामनरेश शर्मा ने वक्रोक्ति और अभिव्यंजना शीर्षक से दोनों मतों का निरूपण किया और स्पष्ट किया कि दोनों में समता कम तथा विषमता अधिक है। डॉ० नगेन्द्र ने 'हिंदी वक्रोक्ति जीवित' की टीका की भूमिका में इस मत की समीक्षा की है।

उपर्युक्त मतों के आधार पर कुन्तक और क्रोचे के साद श्य और वैषम्य को इस प्रकार रेखांकित किया जा सकता है-

साम्यः

(1) दोनों ही आचार्य अभिव्यंजनों को काव्य का प्राण तत्त्व मानते हैं।

(2) दोनों कलावादी आचार्य हैं।

(3) दोनों आचार्य काव्यतत्त्व उक्ति में मानते हैं वस्तु या भाव में नहीं।

(4) दोनों की द ष्टि में सौन्दर्य अखण्ड हैं।

वैषम्यः

(1) वक्रोक्तिवाद का सम्बन्ध उक्ति वक्रता से है, अभिव्यंजना का दर्शन है।

(2) वक्रोक्तिवाद साहित्यिकवाद है, अभिव्यंजनावाद अभिव्यंजना का दर्शन है।

(3) वक्रोक्तिवाद कवि कौशल है, अभिव्यंजनावाद में सहजानुभूति है।

(4) वक्रोक्तिवाद में अलंकार मान्य है अभिव्यंजनावाद में उसकी सत्ता अमान्य है किन्तु आ जाने पर सहज उक्ति रूप में ही आते हैं।

(5) वक्रोक्तिवाद मूर्त्त रूपों पर केन्द्रित है जबकि अभिव्यंजनावाद सूक्ष्म आध्यात्मिक क्रिया पर आधारित है।

(6) वक्रोक्तिवाद में वस्तु की सत्ता उक्ति से प थक है अभिव्यंजनावाद में दोनों अभिन्न है।

वक्रोक्ति सिद्धान्त का मूल्यांकनः

वक्रोक्ति एक व्यापक काव्य सिद्धान्त है। इसके अन्तर्गत कुन्तक ने एक ओर वर्ण- चमत्कार, शब्द-सौन्दर्य, अप्रस्तुत विधान, प्रबन्ध कल्पना आदि समस्त काव्यांगों का और दूसरी ओर अलंकार, रीति-ध्वनि और रस आदि सभी काव्य-सिद्धान्तों का समाहार करने का प्रयास किया है। काव्य सौन्दर्य के समस्तरूप-सूक्ष्म-से-सूक्ष्म वर्ण चमत्कार और व्यापकरूप प्रबंध कौशल तक सभी वक्रता के प्रकार है। अलंकार, रीति आदि वक्रता के पोषक तत्त्व हैं। अतः वक्रोक्ति का प्रथम गुण उसकी व्यापकता है।

कुन्तक ने रस को वक्रोक्ति का सबसे सम द्ध अंग माना है, परन्तु अंगी वक्रता ही है। इसके फलस्वरूप रस के अभाव में भी वक्रता की स्थिति सम्भव है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि वक्रता काव्य का अनिवार्य माध्यम है। परन्तु वह उसका जीवित या प्राण तत्त्व नहीं है। अनिवार्य माध्यम का भी अपना महत्त्व है। व्यक्तित्व के अभाव में आत्मा की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है। फिर भी व्यक्तित्व आत्मा अथवा जीवित तो नहीं है। यही वक्रोक्तिवाद की सीमा है।

भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में वक्रोक्तिवाद को छोड़कर ध्वनि के अतिरिक्त इतना व्यवस्थित विधान किसी अन्य सिद्धान्त का नहीं है। काव्यशास्त्र में कला का गौरव स्वतः सिद्ध है। कला का विवेचन इसके विवेचन के समान ही महत्त्वपूर्ण है। वक्रोक्ति सिद्धान्त ने इसी कला की मार्मिक व्याख्या प्रस्तुतकर अपूर्व योगदान किया है।

7. औचित्य-सिद्धान्त

औचित्य का स्वरूप

औचित्य के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए आचार्य क्षेमेन्द्र ने कहा है-

''उचित प्राहुराचार्यः सद शं किल यस्त यत।
उचित च यो भागस्तदौचित्य प्रचक्षते।।''

जो वस्तु जिसके अनुरूप होती है, उसे उचित कहा जाता है और उस उचित के भाव को ही काव्यतत्त्वाद् औचित्य कहते हैं। यहाँ क्षेमेन्द्र ने औचित्य का व्युत्पत्तिपरक अर्थ करके ही विश्राम पा लिया है, जिससे उसका सम्यक् एवं पूर्ण स्वरूप अध्येता के सामने स्पष्ट नहीं होता। यदि गम्भीरता से विचार किया जाए तो स्पष्ट होता है कि औचित्य काव्य के विभिन्न तत्त्वों तथा उनकी समुचित एवं संतुलित नियोजना से सम्बन्ध रखनेवाली विचारधारा है। समानुपातिकता तथा सामंजस्य इसके प्राण हैं। काव्य के विभिन्न तत्त्वों-अलंकार और अलंकार्य, गुण, और गुणी अवयव एवं अवयवों में उचित सम्बन्ध अथवा सामंजस्य ही औचित्य है। डॉ० बी. राघवन इसे अंग्रेजी भाषा के "Sympath" से मिलता-जुलता मानते हैं। जिनका साहित्यिक आलोचना के संदर्भ में अर्थ होता है- अवयवों की पारस्परिक अनुरूपता। अपने निबन्ध में उन्होंने औचित्य को इस प्रकार परिभाषित किया है-

"*Auchitya* is harmony and in one aspect it is proportion between the whole and parts, between the chief subsidiary, between the again and *angas*. This perfection is all the morals and beauty in art."

तात्पर्य यह है कि औचित्य सामंजस्य है तथा एक द ष्टि से वह अंगी और अंग प्रमुख और सहायक तथा अवयव एवं अवयवी के मध्य समानुपात है। वे रस को इस सामंजस्य या संतुलन का नियामक स्वीकारते हैं तथा कला या काव्य के इस औचित्य का न केवल काव्य-जगत, प्रत्युत व्यवहार-जगत में भी विशेष महत्त्व है। धार्मिक क्षेत्र में पाप और पुण्य, नैतिक क्षेत्र में वैध और अवैध तथा सामाजिक क्षेत्र में सत् और असत् का निर्धारक औचित्य ही है। देशकाल एवं परिस्थिति के अनुसार औचित्यपूर्ण कार्य ही सदाचार कहा जाता है और इसके विपरीत कार्य की ही दुराचार संज्ञा है। सौन्दर्य के क्षेत्र में भी यह औचित्य अपना विशेष महत्त्व रखता है। शरीर के विभिन्न अंगों के निर्दिष्ट स्थान तथा निश्चित आकार होते हैं। अपने स्थान तथा आकार से हीन वस्तुएँ कदापि शोभा को प्राप्त नहीं करतीं। इस विषय में एक पंक्ति प्रसिद्ध है-

''स्थान भ्रष्टा न शोभन्ते दन्ताः केशा नख नराः।''

न केवल शारीरिक अंग, बल्कि वस्त्राभूषण भी उचित स्थान पर विन्यस्त न होकर अपना महत्त्व ही नहीं गँवा देते, बल्कि धारण करनेवाले की मूर्खता व्यक्तकर सभ्य समाज में उसे उपहास्य भी बना देते हैं। जिस राजमुकुट को राजा मस्तक पर धारणकर गौरवान्वित होता है। उसे जड़मति व्यक्ति चरणों में धारणकर अपने बुद्धिराहित्य का ही परिचय देते हैं।

क्षेमेन्द्र ने भी लौकिक उदाहरणों द्वारा औचित्य का महत्त्व प्रतिपादित किया है।

औचित्य के स्वरूप को अधिक स्पष्ट करने के लिए उसका उदाहरण सहित विवेचन अधिक उपयोगी होगा। औचित्य से पूर्व अनौचित्य का उदाहरण ले लेने से यह स्थिति अधिक स्पष्ट हो जाएगी। अतः अलंकारानौचित्य का एक उदाहरण प्रस्तुत है-

उधर टेबुल पर बैठी है
पीलिया के रोगी सी
धँसी-धँसी आँखो वाली
आफिस गर्ल्स-
कोठों पर रात गुजारकर सुबह-सुबह सोई
थकी वेश्याओं की तरह।

अवतरित पंक्तियों में कवि ने आफिस गर्ल्स का चित्र अंकित किया है। कवि ने आफिस गर्ल्स की शारीरिक कृशता, अस्वस्थता, रुग्णता आदि के साथ उसके जीवन में विद्यमान दैन्य, विषाद आदि को स्वर दिया है। उसके जीवन में प्रसन्नता एवं प्रफुल्लता, आशा एवं उल्लास का नितान्त अभाव है। यथार्थपरक चित्र अंकित करने से कवि को सफलता भी मिलती है, लेकिन उपमान के अनौचित्य ने उसे धूलि-धूसरित कर दिया है। जीवन के दैन्य एवं विषाद की अभिव्यक्ति सहानुभूतिपूर्वक की जानी चाहिए थी, कवि को ऐसा उपमान रखना चाहिए था जो दीनता को अधिक साकार कर पाता। इसके विपरीत कवि ने घ णा उत्पन्न करनेवाला अप्रस्तुत रखा है, जिससे दैन्य एवं विषाद की अभिव्यक्ति में कोई सहायता नहीं मिलती। यह अप्रस्तुत अनौचित्यपूर्ण है, जिसने काल के समस्त प्रभाव को धूमिल कर दिया है। क्षेमेन्द्र की द ष्टि में इसे अलंकार-अनौचित्य का उदाहरण कहा जाएगा। जैसे अलंकारौचित्य को स्पष्ट करने के लिए कवि ''प्रसाद'' की दो पंक्तियाँ दर्शनीय है:-

''खुल हुए कचभर, बिखर गये थे बदन पर।
जैसे श्याम सिवार, आसपास हों कमल के।।''

उक्त "सोरठा" प्रसाद जी की प्रारम्भिक रचना है, जिससे सीता जी के सौन्दर्य का चित्र अंकित किया गया है। कार्य-व्यापार में संलग्न रहने से सीताजी के केशपास बिखर गए हैं और मुखमण्डल के चारो ओर फैल गए हैं। मुख के चारों ओर बिखरे हुए केश ऐसे प्रतीत होते हैं मानो कमल और केशराशि के लिए श्याम शैवाल अप्रस्तुत लाया गया है। अतः यह उदाहरण अलंकारौचित्य का सुन्दररूप प्रस्तुत करता है।

औचित्य के स्वरूप के सन्दर्भ में कहा जा चुका है कि वह अवयव और अवयवी अथवा अंग और अंगी का सामंजस्य या सन्तुलन है।

औचित्य का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए क्षेमेन्द्र ने कहा है कि काव्य में गुण और अलंकारों की गणना भूषण रूप में की जाती है, किन्तु ये गुण और अलंकार तभी काव्य को सुशोभित करते हैं, जब उचितरूप में विन्यस्त होते हैं। यदि ये उचितरूप में विन्यस्त न हों, तो काव्य के भूषण न होकर दूषण ही हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में न गुणो को भूषण कहा जाता है और न अलंकारों को, क्योंकि इन गुणों एवं अलंकारों को अलंकारत्त्व प्रदान करनेवाला तत्व है-औचित्य। यह औचित्य की काव्य का जीवित (प्राण) है।

अलंकारास्त्वलं गुणाः एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।।

उचितस्थानविन्यासादलंकृतिरलंकृति।
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा गुणाः।।

भामह ने औचित्य के स्थान पर न्याय, युक्तता आदि पर्यायों का प्रयोग करते हुए उसके विध्यात्मक तथा निषेधात्मक पक्षों पर प्रासंगिक रूप में सम्यक् विचार किया है। गुणों पर विचार करते हुए उन्होंने कहा है कि प्रसाद तथा माधुर्य गुणमयी उक्ति में बहुत समासों का प्रयोग नहीं करना चाहिए, अन्यथा वह काव्य-रसिकों को ग्राहण नहीं होती। इसके विपरीत ओज गुण के लिए समासों का विधान, मन्दार पुष्पों की रज से लिपटे हुए बालों के समान शोभादायक होता है।

''आचार्य दण्डी'' ने दोष-विवेचन में औचित्य को ही आधार स्वीकार किया है। भामह के समान वे भी गुणों को औचित्यमूलक तथा दोषों को अनौचित्यमूलक मानते है। दोष-परिहर में उन्होंने इसका विस्त त विवेचन किया है कि प्रायः सभी दोष कवि-कौशल का स्पर्श पाकर गुण रूप में परिणत हो जाते हैं।

औचित्य शब्द का प्रयोग काव्य में सबसे पहले 'कन्नौज' के ''अधिपति यशोवर्मा'' ने किया। औचित्य-तत्त्व के विकास में ''रुद्रट'' का नाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। काव्यशास्त्रीय परम्परा में रुद्रट ही प्रथम व्यक्ति हैं, जिन्होंने दोष को अनौचित्य पर्याय से प्रकट किया है। तात्पर्य यह है कि अनौचित्य का परिहार करने पर वह उचित हो जाता है दोष नहीं रहता। रीति और रजों का सम्बन्ध जोड़ते हुए उन्होंने कहा है कि श्रेय, करुण, भयानक और अद्भुत में वैदर्भी और पांचाली रीतियों का विधान उचित है। रौद्र में गोड़ीया और लाटीया का शेष रसों में औचित्य के अनुसार ही रीतियों का प्रयोग करना चाहिए। आशय यह है कि रुद्रट का औचित्य-विवेचन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अनौचित्य ही दोष है, जिसके दूर होने पर दोषत्व का परिहार हो जाता है।

आचार्य क्षेमेन्द्र से पूर्व औचित्य की मीमांसा करनेवालों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण काम आचार्य ''आनन्दवर्धन'' का है। उन्होंने ध्वनि की स्थापना करते हुए रस को काव्य की आत्मा माना है और इसके आत्मभूत रस को परम रहस्य औचित्य ही स्वीकारा है। अनौचित्य के अतिरिक्त रसभंग का कोई कारण ही नहीं है-

''अनौचित्याद् ऋते नान्यद्रसभंगस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धुस्तु रसस्योर्पानषत्परा।।''

आनन्दवर्द्धन ने औचित्य का प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रकार से विवेचन किया है। उनके विवेचन में अलंकारौचित्य, गुणोचित्य संघटनौचित्य, प्रबन्धौचित्य, रीतित्यौचित्य और रसौचित्य का विशद् निरूपण मिलता हैः-

अलंकारौचित्यः काव्य की आत्मा है 'रस'। काव्य के विविध तत्त्वों-अलंकार, गुण, रीति आदि की उपादेयता इस बात पर निर्भर करती है कि वे रस के कितने पोषक होते हैं। वे रस-पोषक होने पर ग्राह्य है, और रस-शोषक होने पर त्याज्य। अलंकारों का अलंकारत्व रस की पुष्टि में ही निहित है। उनकी मान्यता है कि वे रसाकृष्ट कवि के विशेष प्रयास के बिना ही आविर्भूत हों। उनकी रचना में न कवि को विशेष यत्न करना पड़े और न ही उनमें इतना चाकचिक्य हो कि वे प्रमाता को रसास्वाद से हटाकर अपनी ओर आक ष्ट कर ले यही कारण है कि श ंगारादि कोमल रसों में यमक को सर्वथा त्याज्य माना है।

गुणौचित्यः आनन्दवर्धन रसाभिव्यंजन में गुणों का विशेष महत्त्व स्वीकारते हैं। उनकी मान्यता है कि ''गुण'' धर्म है और ''रस'' धर्मी। श ंगार, करुण आदि कोमल रसों के साथ माधुर्य का तथा वीर, भयानक, रोद्र आदि कठोर रसों के साथ ओज का घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः कवि को ऐसी शब्द योजना करनी चाहिए जो रस गुणों के साथ-साथ सामंजस्य रखती हो। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि

श्ृंगार रस मे रेफ के साथ संयुक्त सकार, शकार और ढकार का प्रयोग प्रक त रस के विरोधी होने से नहीं करना चाहिए, ये ही वर्ण वीरादि रसों में, आवश्यक दीप्ति के प्रकट करने के कारण, रस के उत्पादक होते हैं। अतः वहाँ इतना प्रयोग करना चाहिए।

संघटनौचित्यः विशिष्ट पदयोजना का नाम ही संघटना है। यह तीन प्रकार की होती है-असमासा, मध्यम समासा और दीर्घ समासा। संघटना का गुणों के साथ सम्बन्ध है। वे संघटना को गुणाश्रित रहकर रसों को अभिव्यक्त करनेवाली मानते हैं। संघटना के सन्दर्भ में अन्तरतम तत्त्व रस के अतिरिक्त वक्ता, वाच्य और विषय के औचित्य पर भी द ष्टि रखनी चाहिए। वक्ता से तात्पर्य काव्य या नाट्य के पात्र से है, वाच्य का अर्थ है- प्रतिपाद्य वस्तु तथा विषय से महाकाव्य, नाट्य आदि काव्य-रूप। संघटना के इस चतुर्विध औचित्य-रसौचित्य, वक्त-औचित्य, वाच्यौचित्य तथा विषयौचित्य के विचार का श्रेय आनन्दवर्द्धन की ही है।

प्रबन्धौचित्यः प्रबन्ध-ध्वनि के अन्तर्गत आनन्दवर्धन ने काव्य और नाट्य के इतिव त्त के स्वरूप की विस्त त विवेचना की है। इतिव त्त प्रायः दो प्रकार का हो सकता है- ''प्रख्यात'' और ''कल्पना-प्रसूत''। दोनों ही प्रकार के इतिव त्त में औचित्य का होना परमावश्यक है। आनन्दवर्धन का मत है कि कवि को कथा-संगठन के समय प्रख्यात कथा के भी नीरस भाग को छोड़ देना चाहिए। सर्वथा औचित्यपूर्ण तथा रसाभिव्यंजन में सहायक घटनाओं को ही काव्य में स्थान देना चाहिए, क्योंकि कवि कर्म की सिद्धि रसाभिव्यंजन से होती है, कथा के निर्वाहमात्र से नहीं। प्रबन्धौचित्य का यह सिद्धान्त अत्यन्त मार्मिक है।

रीत्यौचित्यः आनन्दवर्धन ने रीति और व त्ति के औचित्य पर भी विचार किया है। वस्तुतः रीत्यौचित्य रसौचित्य का ही अंग है। इसमें नाट्य की कौशिकी आदि व त्तियाँ तथा काव्य की उपनागरिका आदि रीतियाँ दोनों ही आ जाती हैं इनका अनुचित रूप से उपनिबन्ध भी रसभंग का कारण होता है। व त्ति के विषय में उन्होंने कहा है कि रसादि के अनुकूल शब्दार्थ का उचित व्यवहार ही व त्ति कहा जाता है।

रसौचित्यः रस विवेचन तथा उसके अनौचित्यों का निदर्शन तो ''ध्वन्यालोक'' का प्रतिपाद्य ही है। अंगी रस की निष्पत्ति किस प्रकार करानी चाहिए, अंग रस किन परिस्थितियों में अंगी का पोषक या शोषक हो सकता है, किन-किन रसों में परस्पर विरोध रहता है, और उसका परिहार किस प्रकार किया जा सकता है - रसौचित्य-विषयक इन महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों की मीमांसा उन्होंने त तीय उद्योत में की है। शब्दार्थ की रसानुकूल औचित्यपूर्ण योजना ही महाकवियों का मुख्य कर्म है। इस प्रकार आनन्दवर्धन ने कई औचित्य-भेदों की विस्त त मीमांसा की है। जिस प्रकार रस अंगी और नानाविध तत्त्व अंग है, उसी प्रकार रसौचित्य ही अन्य सभी का साध्य है।

औचित्य विकास के इतिहास में ''अभिनवगुप्त'' का स्थान नितान्त महत्त्वपूर्ण है। आनन्द के औचित्यविषयक स्थलों की व्याख्या के शायद कुछ ऐसे वाक्य भी दिए हैं जिनसे उनकी औचित्यविषयक धारणा स्पष्ट होती है। उन्होनें बार-बार मुक्त कण्ठ से कहा है कि औचित्य के बिना रसवत्ता ही क्या है, आनन्द का मूल बीज औचित्य ही है।

औचित्य-भेदों के विकास की द ष्टि से ''कुन्तक'' का नाम भी उल्लेखनीय है। उनकी वक्रोक्ति का मूलाधार औचित्य ही है। उन्होनें पद वक्रता का लक्षण देते हुए वक्रोक्ति को औचित्य का पर्याय कहा है-

''तत्र पदस्य तावत् औचित्य बहुविधमेतभिन्ने वक्रभावः''

अर्थात् वक्रभाव का अर्थ पद का औचित्य ही होता है, जिसके अनेक प्रकार होते हैं। कुन्तक ने मार्ग-विवेचन के अन्तर्गत तीनों के दो सामान्य गुणों का विवेचन किया है, ये हैं- ''औचित्य'' और

''सौभाग्य''। औचित्य को परिभाषित करते हुए उन्होंने कहा है कि जिस स्पष्ट वर्णन-प्रकार से स्वभाव के महत्त्व का परिपोषण होता है वह औचित्य है।

औचित्य की प्रमुख स्थापनाएँ

''औचित्य रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्''

इस उद्देश्य के साथ औचित्य को काव्य का जीवित (प्राण) घोषित कर उसे काव्य-सिद्धान्त के रूप में स्थापित करने का श्रेय आचार्य क्षेमेन्द्र को है। इस सिद्धान्त की स्थापना में प्रबल प्रतिभा की अपेक्षा अनुकूल परिस्थितियों का योगदान ही अधिक रहा है। क्षेमेन्द्र से पूर्व औचित्य के प्रमुख सूत्र आचार्य भरत, आनन्दवर्द्धन और अभिनवगुप्त में परिव्याप्त थे। इन तीनों ही आचार्यों का सुविवेचित ज्ञान उन्हें गुरु-परम्परा से प्राप्त हुआ। ''नाट्य-शास्त्र'' के प्रसिद्ध टीकाकार ''अभिनव भारती'' के लेखक तथा ''ध्वन्यालोक'' के एक मात्र मौलिक भाष्यकार आचार्य अभिनवगुप्त जिन्हें काव्यशास्त्रीय परम्परा मात्र दो टीकाओं के कारण सिद्धान्त-संस्थापक आचार्यों से कम महत्त्व नहीं देती, क्षेमेन्द्र के साहित्य गुरु रहे हैं। अतः भरत, आनन्द और अभिनव की ज्ञानराशि का आलोड़न-विलोड़न उन्होंने अपने पूर्व परिपक्व काल में ही कर लिया होगा। अभिनवगुप्त ने स्पष्ट कहा है कि रसविषयक औचित्य का समग्र विवेचन भरत में ही उपलब्ध हो जाता है। ऐसी स्थिति में क्षेमेन्द्र से भरत, आनन्द और अभिनव की क तियों का प्रगाढ़ अध्ययन नितान्त अपेक्षित है।

क्षेमेन्द्र के विचारों का मूल भरत में निहित है। भरत अभिनव के अन्तर्गत वेश पर विचार करते हुए कहते हैं कि पात्र जिस देश का निवासी है, उसके अनुरूप ही वेश-भूषा शोभाजनक होती है, देश के प्रतिकूल वेश-भूषा उसी प्रकार मानव को हास्यास्पद बना देती है। जैसे कण्ठ में मेखला धारण करना मानव को उपहास्य बना देता है।

''अदेशजो हि वेषस्तु न शोभां जनयिष्यति।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायेवोपजायते।।''

आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य की भूमिका बनाते समय इसके अनुरूप ही कारिका दी है, जो भरत के उक्त श्लोक का भाष्य ही प्रतीत होती है। क्षेमेन्द्र की प्रस्तुत कारिका इस प्रकार है-

''कण्ठे मेखलया नितम्ब फलके तारेण हारेण वा,
पाणौ नूपुरबन्धनेन चरणे केयूर पाशेन वा।
शौर्येण प्रणते रिपौ करुणया नायान्ति के हास्यता,
मौचित्येना बिना रुचिं प्रतनुते नालंक तिर्नो गुणाः।।

अर्थात् कण्ठ में मेखला, नितम्ब पर दीप्तिमय हार, चरणों में केयूर धारण करने तथा शरणागत व्यक्ति पर शौर्य एवं शत्रु पर करुणा दिखाने से कौन उपहास का पात्र नहीं हो जाता? सत्य ही है कि औचित्य के बिना न तो अलंकार शोभा प्रदान करते हैं और न गुण ही आक ष्ट कर सकते हैं। स्पष्ट है कि इस कारिका का पल्लवन भरत के उक्त श्लोक के आधार पर ही हुआ है। क्षेमेन्द्र ने औचित्य का स्वरूप स्पष्ट करते हुए यह भी कहा है कि जो वस्तु जिसके अनुरूप होती है, वह उचित कहलाता है, और उसी के भाव को आचार्यो ने औचित्य की संज्ञा दी हैः-

''उचित प्राहुराचार्याः सद शं किल यस्य यत।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते।।''

औचित्य के सम्पूर्ण सिद्धान्त के मूल में जो भावधारा है, उसका बीज भी आनन्दवर्धन में निहित है। क्षेमेन्द्र का सम्पूर्ण सिद्धान्त आनन्दवर्धन की इस कारिका का प्रतिभापूर्ण भाष्य ही है, कि अनौचित्य के अतिरिक्त रस भंग का कोई कारण ही नहीं है, और औचित्य ही रस का परम-रहस्य है।

औचित्य के भेद

क्षेमेन्द्र ने औचित्य के अठाइस भेदों का विश्लेषण किया है। यहाँ पर ध्यान रखना चाहिए कि भेद परस्पर निरपेक्ष या स्वतन्त्ररूप में प्रयुक्त होकर सूक्ति को महान् नहीं बना सकते। काव्य तभी महान होगा, जब ये समन्वितरूप में प्रयुक्त हों। तात्पर्य यह है कि औचित्य की स्थिति समष्टिगत है, व्यष्टिगत नहीं। क्षेमेन्द्र ने औचित्य के निम्न भेदों की गणना की है।

1. पद, 2. वाक्य, 3. प्रबन्धार्थ, 4. गुण, 5. अलंकार, 6. रस, 7. क्रिया, 8. कारक, 9. लिंग, 10. वचन, 11. विशेषण, 12. उपसर्ग, 13. निपात, 14. काल, 15. देश, 16. कुल, 17. व्रत, 18. तत्त्व, 19. सत्त्व, 20. अभिप्राय, 21. स्वभाव, 22. सारसंग्रह, 23. प्रतिभा, 24. अवस्था, 25. विचार, 26. नाम, 27. आशीर्वाद, 28. अन्य काव्यांग। आचार्य क्षेमेन्द्र द्वारा गिनाए गए उक्त भेदों को पाँच वर्गों में विभक्त किया जा सकता है- प्रथम वर्ग मीमांसा से सम्बद्ध है, जिसके अन्तर्गत पद, वाक्य और प्रबन्धार्थ ये तीन भेद रखे जा सकते हैं। द्वितीय वर्ग अलंकारशास्त्र से सम्बद्ध है, जिसके अन्तर्गत गुण, रस, अलंकार, प्रतिभा और अन्य काव्यांग ये पाँच भेद रखे जा सकते हैं। त तीय वर्ग व्याकरण शास्त्र से सम्बद्ध है, जिसके अन्तर्गत क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात और काल ये आठ भेद रखे जा सकते हैं। चतुर्थ वर्ग का सम्बन्ध लोकतन्त्र से है, जिसके अन्तर्गत देश, कुल, व्रत, स्वभाव और विचार ये पाँच भेद रखे जा सकते है। पंचम वर्ग क्षेमेन्द्र की मौलिक प्रतिभा की देन है। इस वर्ग में तत्त्व, सत्त्व, अभिप्राय, सारसंग्रह, अवस्था नाम और आशीर्वाद को रखा जा सकता है, इनका सम्बन्ध कवि से है।

औचित्य के महत्त्व का उद्घाटन करने के लिए उसके कुछ प्रमुख भेदों का विश्लेषण उपयुक्त होगा।

पदौचित्यः जैसे चन्द्रमुखी रमणी के ललाट पर कस्तूरी विरचित श्याम तिलक और श्यामवर्ण वाली सुन्दरी के मस्तक पर चन्दन का तिलक उसके सौन्दर्य को द्विगुणित कर देता है, उसी प्रकार एक भी समुचित पद सूक्ति की शोभा को बढ़ाता हुआ काव्य में अपूर्व मधुरिका का संचार कर देता है। विद्यापति की निम्न पंक्तियों से यह स्पष्ट हो जाएगा-

''परभूत के डर पायस लैकर
वायसा निकट पुकारै।''

विरहणी नायिका कोकिला की मधुर वाणी से आहत होती है, अतः उससे बचने के लिए कौओं को खीर लेकर बुलाती है। चूँकि कोकिला कौए से पोषित होती है, इसलिए उसके सामने मुख नहीं खोलेगी-यह व्यंग्यार्थ है। यहाँ कोकिला के लिए ''परमभूत'' पद कितना उपयुक्त है-यह सहृदयैकगम्य हैं। सम्पूर्ण व्यंग्यार्थ इस पद पर निर्भर है।

अलंकारौचित्यः अर्थगत औचित्य से परिपूर्ण अलंकार-योजना से उक्ति उसी प्रकार सुशोभित हो जाती हैं जैसे उत्तुंग पयोधर पर स्थित तरल हार से म गलोचना रमणी। अलंकार की शोभा तभी है, जब वह पूर्णरूप से वर्ण्य के अनुरूप हो। यदि वह उसकी स्पष्टता एवं सौन्दर्य व द्धि में सहायक नहीं होता तो उसका कोई उपयोग नहीं होता। अलंकार के औचित्य और अनौचित्य दोनों के उदाहरण औचित्य के स्वरूप-विश्लेषण में दिए जा चुके हैं। उनकी पुनराव त्ति उचित नहीं है।

लिंगौचित्यः उपयुक्त लिंग के प्रयोग से काव्य में अपूर्व चमत्कार का संचार होता है। तथा काव्यार्थ भी द्विगुणित हो जाता है। नागार्जुन की दो पंक्तियाँ प्रस्तुत हैः-

''प्रौढ़ वनस्पति मान चुके हैं हार,
वेलें उनसे लिपट गयीं निर्द्वन्द्व।''

इन पंक्तियों मे स्त्रीलिंग वनस्पति शब्द का पुल्लिंग में प्रयोग किया गया है जिसमें वनस्पति एवं बेलें से नायक-नायिका परक अर्थ की अभिव्यक्ति की जा सके।

विशेषणौचित्यः विशेषण का सार्थक एवं रम्य प्रयोग काव्य में गुण एवं सौन्दर्य की अभिव द्धि करता है। रससिद्ध कवि पूर्ण वाक्य के स्थान पर लघुकाय विशेषणों से प्रस्तुत अर्थ को सौन्दर्यसम्पन्न बना देता है और विशेषणों की असफलता काव्य-गरिमा को खो देती है। विशेषण अनौचित्य का एक उदाहरण दर्शनीय है।

''यह फूलों लदी निगन्ध किंशुक डार,
झरती क्यों नहीं।''

किंशुक का निर्गन्धत्व लोक-प्रसिद्ध है, अतः किशुंक से पूर्व निर्गन्ध विशेषण निरर्थक है, इससे काव्योक्ति की गरिमा को ही आघात पहुँचा है।

उपसर्गौचित्यः उचित उपसर्गो के प्रयोग से भी काव्य का प्रस्तुतार्थ अधिक रमणीयता को प्राप्त कर जाता है। लघुकाय उपसर्गो से प्रस्तुतार्थ को न्यूनाधिक रम्य बनाकर कवि क त कार्य होता है। यथा-

''शुभ्रवसना वधू आगे चली, पीछे मैं विमोहित-सा।''

यहाँ कवि जिस विशेष मोहन भाव की अभिव्यक्ति करना चाहता है वह ''वि'' उपसर्ग के अभाव में सम्भव नहीं।

गुणौचित्यः माधुर्यादि गुण काव्य में तभी सुशोभित होते हैं, जब वे प्रस्तुतार्थ के अनुरूप होते हैं। श ंगार, करुण आदि में माधुर्य, वीर, रौद्र आदि में ओज गुण का सन्निवेश अधिक हृदयाह्लादक होता है। इसी भाव को ''क्षेमेन्द्र'' ने इस प्रकार व्यक्त किया है। प्रस्तुतार्थ के अनुरूप ही माधुर्यादि गुण काव्य में उसी प्रकार भव्य एवं आनन्ददायक होते हैं, जैसे कान्ता संगम के समय नवोदित चन्द्र।

प्रबन्धार्थ-औचित्यः कभी-कभी महाकवि अपनी प्रतिभा द्वारा उत्प्रेक्षित अनुरूप अर्थ से समग्र प्रबन्ध को रससिक्त कर देते हैं तथा कुछ ऐसे तर्क वहाँ प्रस्तुत करते हैं, जिनसे उक्त स्थल तथा समग्र प्रबन्ध में कार्य-कारण सम्बन्ध बैठ जाता है। यह सौन्दर्यतत्त्व भी 'क्षेमेन्द्र' की ही प्रसूति है।

सूरदास सगुण एवं साकार ईश्वर के माननेवाले हैं। बालकृष्ण का लीला-गान ही इनके 'सूरसागर' का विषय है। जब ईश्वर के सगुण एवं निर्गुण दो रूप होते हैं तो सूरदास सगुण को ही क्यों मानते हैं-इसका औचित्य उन्होंने अपने निम्न छन्द में प्रकट किया है, जिससे सारा काव्य सरस-सा प्रतीत होने लगता है।

''रूप-रेख-गुण-जाति-जुगुति-बिनु निरालम्ब कित धावै।
सब विधि अगम विचारहिं तातैं सूर सगुन लीला पद गावै।''

इस छन्द में सूरदास जी ने बतलाया है कि निर्गुण के न रूप है, न आकार, न गुण और न जाति तब उसके पीछे मन कहाँ तक दौड़ लगावे? सगुण का लीला-गान सरल है अतः उसका अपनाना ही उचित है।

सारसंग्रहौचित्यः इस औचित्य भेद में कवि किसी भेद, शास्त्र आदि के सार को संक्षेप में व्यक्त कर देता है। यदि वह वक्तव्य सही दिशा का निर्देशक होता है तो 'सारसंग्रहौचित्य' नाम दिया जाता है। यह सौन्दर्य तत्त्व भी क्षेमेन्द्र की प्रतिभा की मधुर देन है। गोस्वामी जी का एक उदाहरण दर्शनीय है -

''वेद पुरान सन्त मत एहू।
सकल सुक त फल राम सनेहू।।''

वेद पुराण तथा सभी संतो का यही मत है कि सम्पूर्ण पुण्यों का फल राम के चरणों में अनुराग ही है।

रसौचित्यः रस काव्य का अन्तरतम तत्त्व है यह प्रायः सर्वमान्य तथ्य है, लेकिन यह तभी हृदयावर्जक होता है, जब औचित्य से समन्वित होता है। औचित्य के अभाव में वह न केवल अपना महत्त्व खो देता है, अपितु काव्यगरिमा को भी आघात पहुँचाता है। ''भस्मांकुर'' खण्डकाव्य में 'नागार्जुन' ने भगवान शंकर के हृदय में पार्वती के प्रति अभिलाषा जाग्रत करने के लिए वसंत का मानवीकरण के रूप में चित्रण किया है।

स्वाभावौचित्यः स्वभाव-कथन भी काव्य में एक अपूर्व आनन्द ला देता है। यह अपना प्रभाव तभी दिखाता है, जब औचित्यपूर्ण होता है। कैकेयी का कोपभवन में जाना सुनकर राजा दशरथ की अवस्था दर्शनीय है, जिसके पुरुष के स्वभाव पर प्रकाश पड़ता है-

''कोपभवन सुनि सकुचेउ राऊ। भय बस अगहुड़ परइ न पाऊ।।
सुरपति बसहिं बाहुबल जाके। नरपति सकल रहहि ताके।।
सो सुनि तिय रिस गयउ सुखाई। देखहु काम प्रताप बड़ाई।।
सूल कुलिस असि अंगवनि होरे। ते रतिनाथ सुमन सर मारे।।"

यहाँ पुरुष का स्वभाव-चित्रण है कि श्रेष्ठ वीर भी अपनी पत्नी की अप्रसन्नता से डरता है-यह कामदेव की महिमा है। स्वर्गीय रामधारी सिंह दिनकर ने ''उर्वशी'' में भी इस प्रसंग को उठाया है।

खण्ड-ख

पाश्चात्य काव्यशास्त्र

8. प्लेटो - काव्य-सिद्धान्त

पाश्चात्य आलोचना के जनक प्लेटो मूलतः आलोचक नहीं, अपितु दार्शनिक थे। उनका उद्देश्य आलोचनात्मक सिद्धान्तों का निरूपण नहीं, अपितु अपने गुरु की दार्शनिक मान्यताओं का उपस्थापन करना था। उनकी समस्त मान्यताएं उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रिपब्लिक' (Republic) में देखी जा सकती हैं। दार्शनिक होने के कारण वे सत्य के समर्थक थे। कवि और काव्य के प्रशंसक होते हुए भी, जो काव्य सत्य की कसौटी पर खरा नहीं उतरता, उसे वह हेय और निन्दनीय समझते थे। होमर के प्रति उनकी बहुत श्रद्धा थी, किंतु उनकी द ष्टि में होमर का काव्य सत्य से दूर काल्पनिक था। इसलिए उन्होंने यह कहकर भी निन्दा की कि सत्य के मूल पर किसी का सम्मान करना अनुचित है-

"It would be wrong to honour a man at the expense of truth." – 'Republic'

प्लेटो संस्कार और स्वभाव से कवि तथा शिक्षा और परिस्थिति से दार्शनिक थे। काव्य और दर्शन के सापेक्ष महत्त्व का उनमें अन्तर्द्वन्द्व परिलक्षित होता है। जीवन के परवर्ती काल में उन पर दर्शन का प्रभाव बढ़ता गया और काव्य का आकर्षण होता गया। इसी से उन्होंने स्पष्ट कहा कि समाज पर काव्य का प्रभाव घातक होता है।

काव्य सत्य

प्लेटो ने काव्य को अग्राह्या माना है। इसके दो आधार हैं - दर्शन और प्रयोजन। प्लेटो आदर्शवादी दार्शनिक थे। आदर्शवाद या प्रत्ययवाद के अनुसार प्रत्यय अर्थात् विचार ही परम सत्य है। वह अखण्ड है। ईश्वर उसका स ष्टा है। यह गोचर जगत् उस परम सत्य का अनुकरण है, क्योंकि कलाकार किसी वस्तु को ही अपनी कला के द्वारा चित्रित करता है। इस क्रम में कला तीसरे स्थान पर आती है। प्रथम स्थान प्रत्यय या परम सत्य का है, दूसरा स्थान उसके प्रतिबिम्ब वस्तु जगत का है और त तीय स्थान वस्तु जगत् या गोचर जगत् के प्रतिबिम्ब कला जगत का है। अतः कला सत्य से तिगुनी दूर है और अनुकरण का अनुकरण होने का कारण मिथ्या है।

अनुक ति सिद्धान्त

इस तथ्य को समझाने के लिए प्लेटो ने एक उदाहरण दिया है। संसार में प्रत्येक वस्तु का एक नित्य रूप है, जो ईश्वर-निर्मित हुआ करता है। यह गोचर जगत् उस परम सत्य का अनुकरण है। जैसे बढ़ई पलंग बनाता है। बढ़ई द्वारा निर्मित पलंग की धारणा, कल्पना या योजना उसके मस्तिष्क में थी, जिसका निर्माण ईश्वर ने किया है। उसी के आधार पर बढ़ई पलंग का निर्माण करता है। तदुपरान्त बढ़ई द्वारा निर्मित पलंग का चित्र कलाकार अंकित करता है। इस प्रकार तीन पलंग हुए- एक वह जिसका निर्माण ईश्वर करता है और जो हमारे विचार में रहता है, दूसरा वह जिसका निर्माण बढ़ई करता है और तीसरा वह जिसका निर्माण कलाकार या चित्रकार करता है। इस प्रकार कलाकार की रचना यथार्थ से तीसरे स्थान पर है। अतः कला नकल की नकल होने के कारण मिथ्या है। इस प्रकार प्लेटो के अनुसार-

1. प्रत्यय जगत् यथार्थ है और ईश्वर उसका स ष्टा है।
2. वस्तु जगत् यथार्थ का अनुकरण है, बढ़ई उसका निर्माता है।
3. कला जगत् वस्तु जगत् का अनुकरण है, कलाकार उसका अनुकर्ता है।

यहाँ शंका उठना स्वाभाविक है कि बढ़ई के मस्तिष्क में जो पलंग की कल्पना आई है, क्या वह कवि या कलाकार के मस्तिष्क में नहीं आ सकती? वस्तुतः प्लेटो का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि कवि जो कुछ रचता है, उसमें इस जगत् की ही नकल होती है। कवि की अपनी प्रतिभा भी जगत् की छाया के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। एक अन्य उदाहरण से यह बात सर्वथा स्पष्ट हो जाएगी- एक व्यक्ति सूर्य की ओर पीठ करके तथा किसी गुफा की ओर मुँह करके बैठा है। उसकी पीठ के पीछे से गुजरने वाले व्यक्तियों, पशुओं आदि की छाया गुफा में पड़ेगी और गुफा की ओर मुँह करके देखते रहने के कारण केवल उनकी गतिशील छाया को ही वह देख पाएगा। यद्यपि मूल वस्तु उसकी पीठ पीछे के प्राणी हैं, परन्तु उसे उनकी छाया ही मूल वस्तु जान पड़ेगी।

इस उदाहरण से यह स्पष्ट है कि जैसे छायाचित्र वास्तविक नहीं, वैसे ही चक्षुगत संसार भी वास्तविक नहीं, छायामात्र है। कवि भी इसी छाया का अनुकरण अपने काव्य में करता है। अतः प्लेटो के अनुसार कवि वास्तविकता की नकल करता है, जो वास्तविक जगत् से दुगना दूर है।

प्लेटो का कहना है कि होमर के काव्यों में भोग-विलास की कामना से पूर्ण उत्सवों का चित्रण और देवताओं का लोभ प्रकट होता है। इस प्रकार के वर्णन शुद्धता, सात्त्विकता और संयम के बाधक हैं, अतः त्याज्य हैं। इस प्रकार प्लेटो की द ष्टि में सत्य वह है जो समाज और व्यक्ति के नैतिक तथा आध्यात्मिक जीवन को शक्ति प्रदान करे जिसमें यह सामर्थ्य नहीं है, वह असत्य है।

काव्य-प्रेरणा

प्लेटो के अनुसार काव्य-स जन एक प्रकार के ईश्वरीय उन्माद का प्रतिफल है। काव्य में कवि वास्तविक तथ्यों और आदर्शों से हटकर अनैतिकता का उद्घोष करने लगता है। वह देवी-देवताओं के चरित्र-चित्रण में भी अनैतिकता को प्रश्रय देने लगता है। अतः कवि काव्य-प्रेरणा को भले ही दैवी समझे, परन्तु वह दैवी नहीं होती; उसके मानस का उन्माद ही उसकी प्रेरणा का स्रोत होता है। वह जिस काव्य का स जन करता है, वह उसके उन्मादपूर्ण भावावेश का परिणाम होता है। वस्तुतः प्लेटो की यह मान्यता सर्वथा असत्य नहीं कही जा सकती। कालिदास द्वारा शिव-पार्वती का श्र ंगार वर्णन किसी भी प्रकार औचित्य की परिधि में नहीं रखा जा सकता।

वस्तुतः कवि के उन्माद, ज्ञानलोप आदि को लाक्षणिक रूप में ही ग्रहण करना चाहिए क्योंकि स जन के क्षणों में कवि का बाह्य जगत् से सम्पर्क टूटा सा रहता है। वह इस प्रकार से आत्मलीन हो जाता है। प्लेटो का उन्माद कवि की इसी अवस्था को उजागर करता है।

काव्य का अनैतिक स्वरूप

प्लेटो की मान्यता है कि सदाचार और नैतिकता के विषय में कविता को अन्तिम प्रमाण नहीं माना जा सकता और न उसे ज्ञान और सत्य का प्रमुख माध्यम ही कहा जा सकता है। क्योंकि कवि अधिष्ठातु देवी से प्रेरणा प्राप्तकर संज्ञा से शून्य अवस्था में ही काव्य-स जन में प्रव त्त होता है। अतः काव्य में नैतिकता की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता, अर्थात् काव्य का स्वभाव अनैतिक होता है। प्लेटो को होमर के महाकाव्य में पिण्डार (Pindar) के सम्बोध गीतों में, सोफोक्लीज की त्रासदियों में, सदाचारियों को पीड़ा और वेदनाग्रस्त देख बड़ा भारी मनस्ताप हुआ। उसके अनुसार-

They give us to understand that many evil livers are happy and mary righteous man happy;

and that wrong doing, if it be undetected, is profitable, while honest dealing is beneficial to one's neighbour, but damaging to one's self." (रिपब्लिक) अर्थात् वे समझने के लिए कह देते हैं कि ''अनेक दुष्ट सौभाग्यशाली और सुखी है तथा बहुत से सदाचारी अभागे और दुःखी हैं, और अनैतिक कार्य, यदि उनका पता न लग सके तो लाभकारी है, जबकि निष्कपट व्यवहार स्वयं के लिए तो क्षतिकारी है, किन्तु पड़ोसी के लिए हितकारी है।"

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्लेटो ने साहित्य की भर्त्सना की और काव्य तथा कवि को आदर्श राज्य के लिए घातक माना। वस्तुतः प्लेटो एक नीतिशास्त्री थे। उन्होंने कविता के भावपक्ष पर कठोर प्रहार किया। तत्कालीन कवियों की क तियों में प्रस्तुत भाव-प्रवणता और अनैतिकता ने उनकी इस कठोरता को और भी द ढ़ कर दिया। इसी से उन्होंने कवियों पर कठोर प्रहार किया और उन्हें राज्य से निष्कासित करने की सलाह दी।

काव्य का उद्देश्य

प्लेटो के अनुसार काव्य का उद्देश्य आनन्द प्रदान करना ही नहीं अपितु मानव-चित्र को प्रभावित करना और उसका निर्माण करना भी है। साथ ही आत्मा की प्रच्छन्न शक्तियों को प्रकाश में लाना तथा मनुष्य को अपना जीवन श्रेष्ठतर बनाने और जगत् का पुनर्निर्माण करने योग्य बनाना है। वास्तव में प्लेटो की काव्य-कला कठोर, संयम और आत्म-नियंत्रण पर आधारित है, जिसकी कसौटी है-सत्य।

यह कविता मानव को शिक्षा नहीं देती, समाज-कल्याण और सदाचार की व द्धि नहीं करती है तो वह ऐसे काव्य की भर्त्सना करते हैं। कविता यदि अच्छी शिक्षा देती है तो मानव-चरित्र के उत्थान और राष्ट्र को उन्नयन में सहायक होगी। यदि वह अध्ययन पर भावातिरेक ही करती है तो उससे मनुष्य मानसिकरूप से कमजोर होंगे और राष्ट्र दुर्बल होगा। अतः कवि तभी अच्छा माना जा सकता है जब उससे समाज को शिक्षा मिलती हो। सारांशतः काव्य का प्रयोजन सत्य का उद्घाटन, मानव-कल्याण तथा राष्ट्र-उन्नयन ही माना जा सकता है। प्लेटो रिपब्लिक में लिखते हैं-

"We must look for artists who are able, out of the goodness of their own nature to trace the nature of beauty and perfection, so that our young man, like persons who live in a healthy place. May be perpetually influenced for good." अर्थात् हमें उन्हीं कलाकारों को खोजना चाहिए, जोकि अपनी प्रक ति की अच्छाई अथवा उत्तमता में से ही सौन्दर्य और आदर्श को ढूँढ सकें ताकि हमारे नवयुवक, जो कि स्वस्थ स्थान पर रहनेवाले व्यक्तियों के समान हैं, अनवरत रूप से अच्छाई से प्रभावित हो सकें।

काव्य का वर्गीकरण

प्लेटो ने काव्य के तीन मुख्य भेद किए हैं-

(1) विवरणात्मक - जिसमें कलाकार स्वयं कोई लम्बा गीत लिखकर अपनी ही कथा कहता है, जैसे-प्रगीत।

(2) अनुकरणात्मक - जिसमें ट्रैजेडी और कॉमेडी का अन्तर्भाव होता है, जैसे नाटक।

(3) मिश्रित - जिसमें कवि कुछ अंश तक अपने माध्यम से और कुछ अंश तक पात्रों के माध्यम से अपनी बात कहता है, जैसे महाकाव्य।

किन्तु अनुकरणात्मक होने के कारण प्लेटो ने महाकाव्य और नाटक को आदर्श राज्य के लिए अनुपयुक्त माना है। फिर भी जो नियमन काव्य के लिए विहित है, वही अन्य कलाओं के लिए भी। अतः जिस 'शिव' की काव्य से अपेक्षा की जाती है, उसकी अन्य कलाओं से भी अपेक्षा की जानी

चाहिए। मूर्तिकला, स्थापत्य कला और अन्य कलाओं में भी किसी प्रकार के दोष, असंयम, निकृष्टता और अभद्रता का प्रदर्शन नहीं होना चाहिए।

मूल्यांकन

पाश्चात्य आलोचना में प्लेटो का जितना विशिष्ट स्थान है, उतना ही प्रभाव भी। वैसे उनका प्रकृत क्षेत्र दर्शन तथा उद्देश्य था- 'आदर्श गणराज्य की स्थापना'। उनकी अभिव्यंजना में काव्य की रोचकता थी। आलोचक न होते हुए भी उनके लेखन में आलोचना के जो संकेत मिलते हैं, वे बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। उन्होंने विधि निषेध, दोनों ही रूपों में परवर्ती आलोचना को प्रभावित एवं निर्देशित किया है।

आलोचना के क्षेत्र में प्लेटो की सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने साहित्यिक सिद्धान्तों को दार्शनिक रूप दिया।

प्लेटो ने कला की अनुकरणमूलकता की उद्भावना की, जिसे परवर्ती आचार्य अरस्तु ने एक सिद्धान्त का रूप दिया तथा जिसकी मान्यता वर्षों तक बनी रही। किन्तु प्लेटो ने कला के संदर्भ में अनुकरण शब्द का प्रयोग अपकर्षी रूप में किया था, जो उचित नहीं है। यह उनकी भ्रान्ति थी, जिसका मूल कारण है- स जनशीलता को नजरअंदाज कर देना। वस्तुतः वे यह भूल जाते हैं कि कलाकार किसी वस्तु की नकल नहीं करता अपितु कला द्वारा उसका आदर्शीकरण करता है।

प्लेटो की सबसे बड़ी देन यही है कि उन्होंने मनुष्य को सोचने के लिए प्रव त्तकर, उसे समीक्षात्मक प्रणाली की ओर उन्मुख किया। उन्होंने कविता के स्तर को ऊँचा उठाकर मानव-जीवन के साथ उसका सम्बन्ध जोड़ दिया।

9. अरस्तू

(क) अनुकरण-सिद्धान्त

'अनुकरण' शब्द यूनानी (ग्रीक) भाषा के 'मिमेसिस' (Mimesis) के पर्याय रूप में प्रयुक्त हुआ है। 'मिमेसिस' का अंग्रेजी अनुवाद है - 'इमिटेशन' (Imitation) किन्तु 'इमिटेशन' से 'मिमेसिस' का पूरा अर्थ व्यक्त नहीं होता, क्योंकि यूनानी भाषा के बहुत सारे शब्दों की अर्थवत्ता या अर्थछटा अंग्रेजी में यथावत् व्यक्त नहीं हो पाती।

हिन्दी में 'अनुकरण' अंग्रेजी के 'इमिटेशन' शब्द से रूपान्तर होकर आया है। अनुकरण का सामान्य अर्थ है- नकल या प्रतिलिपि या प्रतिछाया, जबकि आज उसका मान्य अर्थ है- ''अभ्यास के लिए लेखकों और कवियों को उपलब्ध उत्कृष्ट रचनाओं का अध्ययन एवं अनुसरण करना।''

यूनानी भाषा में कला के प्रसंग में अनुकरण का व्यवहार अरस्तू का मौलिक प्रयोग नहीं है। अरस्तू से पूर्व प्लेटो ने अनुकरण का प्रतिपादन कविता को हेय तथा हानिकारक सिद्ध करने के हेतु किया था।

अनुकरण के महत्त्व के कारण

यहाँ एक जिज्ञासा स्वाभाविक रूप से होती है कि अरस्तू ने काव्य-विवेचन में अनुकरण को इतना महत्व क्यों दिया? इस संदर्भ में निम्नलिखित कारणों का उल्लेख किया जा सकता है-

(1) अरस्तू से पूर्व उनके गुरु प्लेटो ने काव्य तथा अन्य कलाओं को अनुकृति व्यापार दर्शन से सम्बद्ध होने के कारण हीन माना था। अरस्तू ने उसे मात्र काव्य और स ष्टि के सम्बन्ध में ग्रहण किया। इससे उन्होंने अनुकरण का अर्थ और उसकी ध्वनियों को परिवर्तित कर दिया।

(2) अरस्तू ने प्लेटो के समान चित्र और काव्य को स्पष्ट रूप से अनुकरण-मूलक कहा है।

(3) अरस्तू काव्य में त्रासदी को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण काव्य के रूप में मानते हैं उनका समस्त काव्य-विवेचन त्रासदी के विवेचन के संदर्भ में हुआ है। त्रासदी में अनुकरण की प्रधानता होती है, अतः अरस्तू के काव्य-विवेचन में अनुकरण की प्रधानता होना स्वाभाविक है।

(4) ग्रीक भाषा में कवि के लिए 'पोयतेस' शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका व्युत्पत्यर्थ है- कर्त्ता या रचयिता। कवि घटनाओं का कर्त्ता नहीं अनुकर्त्ता माना जा सकता है। इस प्रकार अनुकरण की प्रधानता का सम्बन्ध 'पोयतेस' के व्युत्पत्यर्थ से जुड़ जाता है।

अरस्तू के व्याख्याकार

अनेक आलोचकों ने अरस्तू की भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या की है, किन्तु एक बात में सभी सहमत हैं कि अरस्तू ने अनुकरण का प्रयोग प्लेटो की भाँति स्थूल यथावत् प्रतिक ति के अर्थ में नहीं किया।

(1) प्रो० बूचर का मत है कि अरस्तू के अनुकरण का अर्थ है- ''साद श्य विधान अथवा मूल का पुनरुत्पादन, सांकेतिक उल्लेखन नहीं।'' कोई भी कलाकृति मूल वस्तु का पुनरुत्पादन जैसी

वह होती है। वैसे नहीं अपितु जैसी वह इन्द्रियों को प्रतीत होती है वैसा करती है। कलाक ति, इन्द्रिय-बोध सापेक्ष पुनः स जन है, यथातथ्य अनुकरण नहीं। कला का संवेदन तत्त्व ग हिणी बुद्धि के प्रति नहीं अपितु भावुकता और मन की मूर्ति विधायिनी शक्ति के प्रति होता है।

(2) प्रो० गिल्बर्ट मरे ने यूनानी शब्द 'पोयतेस' (कर्त्ता या रचयिता) को आधार मानकर अनुकरण की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या प्रस्तुत की है। उनके अनुसार कवि शब्द के पर्याय में ही अनुकरण की धारणा निहित है, किन्तु अनुकरण का अर्थ सर्जना का अभाव नहीं।

(3) यॉट्स का मत - इनके अनुसार, ''अपने पूर्ण अर्थ में अनुकरण का आशय जैसे प्रभाव का उत्पादन, जो किसी स्थिति, अनुभूति तथा व्यक्ति के शुद्ध प्रक ति रूप से उत्पन्न होता है।'' वस्तुतः इनके अनुसार अनुकरण का अर्थ है- ''आत्माभिव्यंजन से भिन्न जीवन का अनुभूति का पुनः स जन।''

(4) स्कॉट जेम्स का मत- इन्होंने अनुकरण को जीवन के कल्पनात्मक पुनर्निर्माण का पर्याय माना है। इनकी द ष्टि से- ''अरस्तू के काव्यशास्त्र में अनुकरण से अभिप्राय है साहित्य में जीवन का वस्तुपरक अंकन, जिसे हम अपनी भाषा में जीवन का कल्पनात्मक पुनर्निर्माण कह सकते हैं।''

ये व्याख्याएँ अपने आप में महत्त्वपूर्ण हैं। फिर भी अरस्तू के शब्दों को प्रमाण मानकर अनुकरण का विवेचन करना समीचीन होगा।

(क) **कला और प्रक ति -** कला प्रक ति की अनुकृति है। यह कला और अनुकरण दोनों तत्त्वों का विवेचन का मूल सूत्र है। यहाँ अनुकरण की अपेक्षा प्रक ति शब्द का अधिक विवेच्य है। होरेस के आधार पर नव्यशास्त्रवादियों ने प्रक ति का अर्थ किया- नीति, नियमों से परिबद्ध जीवन और अनुकरण का अर्थ किया - यथावत् प्रत्यंकन, इस प्रकार अरस्तू का यह सूत्र रीतिबद्ध काव्य-रचना का प्रेरक मन्त्र बन गया। किन्तु प्रक ति के अर्थ को इस प्रकार सीमित करने का कोई कारण नहीं है।

यहाँ प्रक ति जीवन के समग्र रूप अर्थात् अन्तर्बाह्य, दोनों रूपों की समष्टि का पर्याय है। इसमें स्थूलगोचर रूप अरस्तू को अभिप्रेत नहीं है, अर्थात् मानवेतर प्रक ति का अनुकरण करना अनुकरणात्मक कला का नाम नहीं है। कवि या कलाकार प्रकृति की सर्जन-प्रक्रिया का अनुकरण करता है। अनुकरण का विषयागोचर वस्तुएँ न होकर उनमें निहित प्रक ति-नियम है। अतः अरस्तू के अनुसार- ''प्रत्येक वस्तु पूर्ण विकसित होने पर जो होती है उसे ही हम उसकी प्रकृति कहते हैं।'' प्रकृति इस आदर्श रूप की उपलब्धि की ओर निरन्तर कार्यरत रहती है। किन्तु कई कारणों से वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सफल नहीं हो पाती। अनुकरण में प्रक ति के इन अभावों को कला द्वारा पूरा किया जा सकता है।

इस प्रकार अनुकरण एक सर्जन-क्रिया है। काव्य-कला प्रक ति की सर्जन-प्रक्रिया अनुकरण करती हुई प्रक ति के अधूरे कार्य को पूर्ण करती है। इसी से काव्य में अनुकरण तत्त्व की महत्ता है।

(ख) **अनुकरण की वस्तुएँ या विषय -** अरस्तू के अनुसार अनुकरण में तीन प्रकार की वस्तुओं में से कोई एक हो सकती है- जैसे वे थीं या है (यथार्थ) जैसी वे कही या समझी जाती हैं (कल्पित यथार्थ), जैसे वे होनी चाहिए (सम्भाव्य यथार्थ)। इन्हीं को क्रमशः प्रतीयमान, सम्भा य, और आदर्श रूप माना गया है।

"The poet being an imitator, like a painter or any other artist, must of necessity

imitate one of three objects things as they were or are, things as they are said or thought to be, or things as they ought to be."

कवि को यह स्वतन्त्रता है कि वह वस्तु या विषय को उस रूप में चित्रित करे जैसी वह उसकी इन्द्रियों को प्रतीत होती है अथवा भविष्य में प्रतीत हो सकती है अथवा होनी चाहिए। निश्चय ही इसमें कवि की भावना और कल्पना का योगदान होगा - वह नकल मात्र नहीं होगा। इसी से अरस्तू का अनुकरण सिद्धान्त-भावना और कल्पनायुक्त अनुकरण को मानकर चलता है, शुद्ध प्रक ति को नहीं।

काव्य सत्य के सम्बन्ध में अपने विचारों को सिद्ध करने के लिए अरस्तू ने कविता और इतिहास पर तुलनात्मक द ष्टि से विचार किया है। इस तथ्य को बूचर ने इस प्रकार स्पष्ट किया है-

"It is not the function of the poet to relate what has happened but what may happen, what is possible according to law of probability or necessity. The poet and historian differ not by writting in verse or in prose... The difference is that one relates what has happened, the other what may happen. Poetry, therefore, is a more philosophical and a higher thing than history: for poetry thends to express the universal history the particular."

अर्थात् कवि-कर्म जो कुछ घटित हो चुका है, उसका वर्णन करना नहीं, वरन् जो कुछ घटित हो सकता है- जो कुछ सम्भावना या अनिवार्यता के नियमाधीन सम्भव है- उसका वर्णन करना है.... कवि और इतिहासकार में गद्य और पद्य लेखन के कारण भेद नहीं है...... वरन् उनमें वास्तविक भेद यह है कि एक उसका वर्णन करता है जो घटित हो चुका है तथा दूसरा उसका वर्णन करता है जो घटित हो सकता है। इसलिए कविता इतिहास से अधिक श्रेष्ठ है, क्योंकि कविता सार्वभौम का चित्रण करती है, जबकि इतिहास विशेष का।''

(ग) **कवि और इतिहासकार में अन्तर-** अरस्तू के मतानुसार, ''कवि और इतिहासकार में वास्तविक भेद यह है कि एक तो उसका वर्णन करता है जो घटित हो चुका है और दूसरा उसका वर्णन करता है जो घटित हो सकता है। परिणामतः काव्य में दार्शनिकता अधिक होती है। उसका स्वरूप इतिहास से भव्यतर है, क्योंकि काव्य सामान्य (सार्वभौम) की अभिव्यक्ति है और इतिहास विशेष की।'' इतिहास की घटनाएँ देश-काल की सीमा से बँधकर केवल अपने प थक् और विशिष्ट रूप में हमारे सामने आती हैं, जबकि काव्य-निबद्ध तथ्य अपने-अपने सार्वभौम रूप में अभिव्यक्त होते हैं। अतः उनकी पुनराव त्ति सम्भावित होती है। इस प्रकार काव्य और इतिहास सम्बन्धी विवेचन में अनुकरण से है, यथार्थ वस्तुपरक प्रत्यंकन से नहीं।

(घ) **'कार्य' का अभिप्राय -** अरस्तू ने त्रासदी के विवेचन में लिखा है कि त्रासदी मनुष्यों का नहीं वरन् कार्य और जीवन का अनुकरण करती है। 'कार्य' शब्द का प्रयोग उन्होंने मानव-जीवन का चित्र के अर्थ में किया है। उनके अनुसार जो कुछ भी मानव-जीवन के आन्तरिक पक्ष को व्यक्त करे, बुद्धिसम्मत व्यक्तित्व का उद्घाटन करे, वह सभी कुछ 'कार्य' के अन्तर्गत आएगा। अतः कार्य का अर्थ केवल मनुष्य के कर्म ही नहीं, उसके भाव, विचार, चरित्र आदि भी है जो कर्म के प्रति उत्तरदायी होते हैं। अतः अनुकरण का विषय है- क्रियाशील मानव।

(ङ) **अनुकरण और आनन्दः** अरस्तू का विचार है कि अनुकूल वस्तु से प्राप्त आनन्द भी कम सार्वभौम नहीं है- ''जिन वस्तुओं का प्रत्यक्ष दर्शन हमें दुःख देता है, उनका अनुकरण द्वारा

प्रस्तुत रूप हमें आनन्द प्रदान करता है। डरावने जानवर देखने से हमें डर लगता है, किन्तु उनका अनुकूल रूप हमें आनन्द प्राप्त करता है।'' अतः अनुकरण आनन्द का तत्त्व अनिवार्यतः निहित होने का अर्थ यही है कि उसमें आत्म-तत्त्व का प्रकाशन निहित रहता है, क्योंकि आनन्द की उपलब्धि आत्मतत्त्व के प्रकाशन के बिना सम्भव नहीं है। अतः अनुकरण निश्चय ही यथार्थ वस्तुपरक अंकन न होकर भावात्मक और कल्पनात्मक होगा।

किन्तु भाव-तत्त्व और उसमें निहित आत्म तत्त्व का सद्भाव होने पर भी अनुकरण विशुद्ध, आत्माभिव्यंजन का पर्याय नहीं है, क्योंकि इसमें वस्तु-तत्त्व की प्रधानता अनिवार्य है। आधुनिक आलोचना शास्त्र की शब्दावली का आश्रय लेकर कहें तो अनुकरण में अभिजात कला के वस्तु-परक भाव-तत्त्व की ही स्वीक ति है, किन्तु रम्याद्भुत कला के व्यक्तिपरक भाव-तत्त्व की नहीं। इस प्रकार उसमें जीवन की अनुभूतियों से निर्मित कवि की अन्तश्चेतना को पर्याप्त महत्त्व नहीं मिला है। अनुकरण में जिन विषयों का विवेचन होता है वे सभी स्थूल व सूक्ष्म होते हुए भी अनुकार्य हैं, परस्थ हैं। उनकी स्थिति अनुकर्त्ता से बाहर है। अतः अनुकरण को व्यक्तिपरक अनुभूति के अभाव में शुद्ध आत्माभिव्यंजन की कोटि में नहीं रखा जा सकता।

अनुकरण की व्याप्ति

प्रश्न है कि अनुकरण सिद्धान्त की व्याप्ति कहाँ तक है? नीति काव्य की वैयक्तिक अनुभूतियों का उद्गीथ अनुकरण की परिधि में कैसे आ सकता है? अरस्तू ने गीतिकाव्य को उपेक्षित कर दिया है। गीत को उन्होंने काव्य का अलंकार मात्र माना है।

अरस्तू का पक्षपाती यह भी तर्क देता है कि जिस प्रकार त्रासदी में दूसरे की अनुभूतियों का अनुकरण सम्भव है, उसी प्रकार गीतिकाव्य में भी अपनी अनुभूतियों का अनुकरण सम्भव है। किन्तु जो स्वयं अभिव्यक्त रूप हैं, उसके अनुकरण का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः अनुकरण शब्द का अर्थ इतना अर्थ-विस्तार सम्भव नहीं है कि गीतिकाव्य को यथावत् उसकी परिधि में अन्तर्भूत किया जा सके, यही उसकी परिसीमा है।

अनुकरण सिद्धान्त का क्रोचे के सहजानुभूति सिद्धान्त से भी साक्षात् विरोध है। क्रोचे के अनुसार, काव्य-कला का जो मौलिक रूप है, वह अनुकरण का विषय नहीं हो सकता और उसका मूर्त्त रूप, जो अनुकरण का विषय है, क्रोचे के अनुसार सर्वथा आनुषंगिक है। अरस्तू के अनुकरण सिद्धान्त में किसी भी प्रकार सहजानुभूति का समावेश नहीं हो सकता। अतः जिस अंश तक क्रोचे का सहजानुभूति सिद्धान्त मान्य है, उसी अंश तक अनुकरण सिद्धान्त अमान्य है।

डॉ० नगेन्द्र ने अनुकरण सिद्धान्त का विवेचन करते हुए स्पष्ट किया है कि स जन और अनुकरण में भेद है। काव्य में वस्तुओं के मर्म को आकर्षक रीति से उद्घाटित करना कवि-कर्म है। इसके दो पक्ष हैं- वस्तु के मर्म का दर्शन और उसकी शब्दों में अभिव्यक्ति ये दोनों पक्ष अभिन्न हैं। काव्य दोनों की समन्वित क्रिया है, अनुकरण नहीं। कवि की प्रतिभा कारयित्री है अनुकारयित्री नहीं। कवि लौकिक पदार्थों के मार्मिक रूप का उद्घाटन करता है। इसी से काव्य नवनिर्माण है, स जन है, अनुकरण नहीं। वस्तुतः कवि जीवन में अनुभव में अपना द ष्टिकोण जोड़ देता है और यही द ष्टिकोण स जन-तत्त्व है। इसी से अनुकरण शब्द का अर्थ विस्तार हो गया है।

अनुकरण की शक्ति और सीमाएँ

शक्ति-

(1) अरस्तू के अनुकरण को नया अर्थ प्रदानकर कला का स्वतंत्र अस्तित्व स्थापित किया है। सुन्दर को शिव से अधिक विस्त त माना है।

(2) प्लेटो द्वारा कला पर लगाए गए आक्षेप का निराकरण किया है और कविता दार्शनिक तथा नीतिकार बन्धन से छुटकारा दिलाया है।

(3) उन्होंने अनुकरण की हीनता का उन्नयन किया है। इन विशेषताओं के होते भी उसकी कुछ सीमाएँ हैं।

सीमाएँ

(1) अनुकरण में व्यक्तिपरक भाव-तत्त्व की अपेक्षा वस्तुपरक भाव-तत्त्व को अधिक महत्व दिया, जो निश्चय ही अनुचित है।

(2) कवि की अन्तश्चेतना को उतना महत्त्व नहीं दिया, जितना दिया जाना चाहिए था। इससे उसकी परिधि संकुचित हो गई थी।

(3) विश्व की गीति काव्य संख्या में सर्वाधिक होते हुए भी अनुकरण की परिधि में नहीं समा सकता, क्योंकि उसकी आत्मा है-भाव, जो प्रेरणा के भार से दबकर फूटता है।

(4) कलाकार के मानस में घटित होनेवाले सहजानुभूति सिद्धान्त के अनुसार अनुकरण का कला-स जन में कोई महत्त्व नहीं, जबकि अरस्तू अनुकरण को ही कला कहता है।

(5) अरस्तू द्वारा अपनाए गए 'मिमेसिस' शब्द की अर्थ-परिधि में 'पुनःस जन' 'कल्पनात्मक पुनर्निर्माण' आदि अर्थों का अन्तर्भाव नहीं हो सकता है।

निष्कर्ष - सत्य कभी एकदेशीय नहीं होता। उसकी उपलब्धि तो किसी-न-किसी रूप में होती जाती है, किन्तु उपलब्धि की विधि और उसका आधारभूत द ष्टिकोण भी कम महत्त्वूपर्ण नहीं होता। अरस्तू ने काव्य या कला को प्रकृति का अनुकरण माना है। अतः कला अनुकरण होते हुए भी नवीकरण है, स जन रूप है।

(ख) विरेचन-सिद्धान्त

'विरेचन' यूनानी कथार्सिस का हिन्दी रूपान्तर है। यूनानी चिकित्साशास्त्र का पारिभाषिक शब्द है- 'कैथार्सिस' और भारतीय चिकित्साशास्त्र (आयुर्वेद) का पारिभाषिक शब्द है- 'विरेचन'। इसका अर्थ है- रोचक औषधि के द्वारा शारीरिक विकारों अर्थात् उदर के विकारों की शुद्धि। स्वास्थ्य के लिए जिस प्रकार शारीरिक मल का निष्कासन-शोधन आवश्यक है, उसी प्रकार ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, मोह और क्रोध आदि मानसिक मलों का निष्कासन एवं शोधन आवश्यक है।

अरस्तू ने 'कैथार्सिस' शब्द का लाक्षणिक प्रयोग मानव-मन पर पड़नेवाली त्रासदी के प्रभाव का उद्घाटन करने के लिए किया है। त्रासदी के प्रति प्लेटो की आपत्ति थी- ''वह (त्रासदी) मानव की वासनाओं का दमन करने के स्थान पर उनका पोषण और सिंचन करती है। वह उच्चतर तत्त्वों के बदले निम्नतर तत्त्वों को उभारकर आत्मा में अराजकता उत्पन्न करती है।''

अरस्तू ने कैथार्सिस (विरेचन) सिद्धान्त द्वारा प्लेटो के इस आक्षेप का खण्डनकर त्रासदी की उपादेयता स्थापित की। प्लेटो ने जिसे दोष सिद्ध किया था, अरस्तू ने उसी को गुण के रूप में प्रस्तुत किया। अरस्तू का अभिमत है-

"Tragedy is an imitation of an action that is serious, complete and of a certain magnitude...... through pity and fear effecting the proper purgation or Katharsis of these emotions."

अर्थात् त्रासदी किसी गम्भीर स्वतः पूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य को अनुकृति का नाम है. ... जिसके करुणा त्रास से उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विवेचन किया जाता है।

इसी प्रकार त्रासदी केवल अवांछनीय भावनाओं को ही उद्दीप्त नहीं करती, अपितु करुणा और त्रास के कृत्रिम उद्रेक द्वारा मानव के वास्तविक जीवन की करुणा और त्रास की भावनाओं का निष्कासन करती है।

विरेचन का स्वरूप

विरेचन का उल्लेख अरस्तू की रचनाओं में केवल दो स्थानों पर मिलता है। प्रथम उल्लेख उसके 'पोयटिक्स' (काव्यशास्त्र) ग्रंथ में, जहाँ ट्रैजेडी के स्वरूप की ओर संकेत किया गया है और दूसरा 'राजनीतिक' नामक ग्रंथ में जहाँ उन्होंने संगीत की उपयोगिता प्रतिपादित की है। इन स्थलों पर उन्होंने विरेचन शब्द का सूत्र रूप में एवं उसके स्वरूप की चर्चा की है। अरस्तू का कथन है- ''संगीत का अध्ययन एक नहीं वरन् अनेक उद्देश्यों की सिद्धि के लिए होना चाहिए, अर्थात् शिक्षा के लिए विरेचन (शुद्धि) के लिए। संगीत से बौद्धिक आनन्द की भी उपलब्धि होती है। ..... धार्मिक रागों के प्रभाव से वे शान्त हो जाते हैं, मानों उनके आवेश का शमन और विरेचन हो गया हो।

इस प्रकार विरेचन से अभिप्राय शुद्धि से है। अरस्तू के ये विचार त्रासदी-विवेचन के संदर्भ में फुटकर रूप में मिलते हैं। विशेष सुव्यवस्थितरूप से इनका सम्पादन नहीं किया गया है।

आधुनिक युग में अरस्तू के सीमित और अल्प शब्दों ने पूर्ण काव्य-शास्त्रीय सिद्धान्त का रूप धारण कर लिया है। अतः एक प्रश्न स्वाभाविकरूप से उठा कि करुणा और त्रास के उद्रेक तथा रेचन से अरस्तू का मूलतः क्या अभिप्राय था? इस संदर्भ में अरस्तू के परवर्ती व्याख्याकारों ने विरेचन के भिन्न-भिन्न अर्थ और व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं-

(क) **धर्मपरक अर्थ** - अरस्तू के व्याख्याकारों में प्रो० गिल्बर्ट मरे और लिवि ने विरेचन की धर्मपरक व्याख्या प्रस्तुत की है। धर्मपरक अर्थ की एक विशेष प ष्ठभूमि है। इसका सम्बन्ध धार्मिक उत्सवों से है। प्रो० गिल्बर्ट मरे का कथन है कि - ''यूनान में दिओन्यूसस नामक देवता से सम्बद्ध उत्सव अपने आप में एक प्रकार की शुद्धि का प्रतीक था, जिसमें विगत् समय के कलुष और पाप एवं म त्यु-संसर्गों से मुक्ति मिल जाती है। इस प्रकार बाह्य विकारों द्वारा आन्तरिक विकारों की शन्ति का यह उपाय अरस्तू के समय में धार्मिक संस्थाओं में काफी प्रचलित था। उन्होंने इसका लाक्षणिक प्रयोग उसी के आधार पर किया है और विरेचन का अर्थ हुआ- ''बाह्य उत्तेजना और अंत में उसके शमन द्वारा आत्मिक शुद्धि और शान्ति।''

(ख) **नीतिपरक अर्थ** - बारनेज नामक जर्मन विद्वान ने विरेचन की नीतिपरक व्याख्या की है। उसके अनुसार मानव-मन अनेक मनोविकारों से आक्रान्त रहता है। जिनमें करुण और भय, मूलतः दुःखद मनोवेग हैं। त्रासदी रंगमंच पर अवास्तविक परिस्थितियों द्वारा इन्हें अतिरंजित रूप में प्रस्तुतकर क त्रिम अस्पष्ट उपायों से प्रेक्षक के मन में वासना रूप में स्थित इन मनोवेगों के देश का निराकरण और उसके परिणामस्वरूप मानसिक सामंजस्य की स्थापना करती है। अतः विरेचन का नीतिपरक अर्थ हुआ - मनोविकारों के उत्तेजन के उपरान्त उद्वेग का शमन और तज्जन्य मानसिक विशदता।

वर्तमान मनोविज्ञान तथा मनोविश्लेषण शास्त्र भी इस अर्थ की पुष्टि करते हैं। मानसिक स्वास्थ्य की साधक होने के कारण यह पद्धति नैतिक मानी गई है।

(ग) **कलापरक अर्थ** - गेटे और अंग्रेजी के स्वच्छन्दतावादी कवि आलोचकों में विरेचन के कलापरक अर्थ के संकेत मिलते हैं। अरस्तू के प्रसिद्ध व्याख्याकार प्रो० बूचर का अभिमत है कि विरेचन केवल मनोविज्ञान अथवा निदानशास्त्र के एक तथ्य विशेष का वाचक न होकर, एक कला-सिद्धान्त का अभिव्यंजक है। इस प्रकार त्रासदी का कर्त्तव्य-कर्म केवल करुणा

या त्रास के लिए अभिव्यक्ति का माध्यम प्रस्तुत करना ही नहीं अपितु इन्हें एक सुनिश्चित कलात्मक परितोष प्रदान करना है। इनको कला के माध्यम में ढालकर परिष्क त और स्पष्ट करना है। विरेचन का अर्थ यहाँ व्यापक है- मानसिक संतुलन इसका पूर्व भाग मात्र है, परिणति उसकी कलात्मक परितोष का परिष्कार ही है जिसके बिना त्रासदी के कलागत आस्वाद का व त्त पूरा नहीं होता।

प्रश्न उठता है कि उपर्युक्त तीनों अर्थों में से कौन सा अर्थ अरस्तू के मत के सर्वाधिक निकट है? यद्यपि तत्कालीन धार्मिक परिस्थितियों से अरस्तू का प्रभावित होना स्वाभाविक है और स्वयं धार्मिक संगीत की ओर अरस्तू ने संकेत भी किया है कि जिस प्रकार धार्मिक संगीत श्रोताओं के भावों को उत्तेजित कर फिर शान्त करता है, उसी प्रकार त्रासदी प्रेक्षक के भय ओर करुणा के भावों को जगाकर बाद में उन्हें उपशमित करती है। त्रासदी के सम्बन्ध में यह मत अक्षरशः ठीक नहीं है, क्योंकि संगीत द्वारा ठीक किए जानेवाले व्यक्ति पहले ही भावाक्रान्त होते थे, जबकि प्रेक्षाग ह में जानेवाले व्यक्ति करुणा या भय की मानसिक स्थिति में नहीं होते। अतः विरेचन सिद्धान्त की प्रकल्पना पर उक्त प्रथा का प्रभाव अप्रत्यक्ष तो माना जा सकता है; किन्तु सीधा सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक है।

जहाँ तक नीतिपरक अर्थ की बात है, मनोविज्ञान भी इसकी पुष्टि करता है। विरेचन से अरस्तू के तात्पर्य भावों का निष्कासन मात्र नहीं, वरन् उनका संतुलन भी है।

इसी प्रकार प्रो० बूचर का अर्थ भी विचारणीय है। उनके अनुसार विरेचन के दो पक्ष है- एक अभावात्मक और दूसरा भावात्मक। अभावात्मक पक्ष यह है कि वह पहले मनोवेगों को उत्तेजित करें, तदुपरान्त उनका शमनकर मनःशांति प्रदान करे। इसके बाद सम्पन्न कलात्मक परितोष उसका भावात्मक पक्ष है। विरेचन को भावात्मक रूप देना उचित नहीं है। अरस्तू का अभीष्ट केवल मन का सामंजस्य और तज्जन्य विमदता तक ही है, जिसके आधार पर वर्तमान आलोचक रिचर्ड्स ने 'अन्तव त्तियों के समंजन' का सिद्धान्त प्रतिपादन किया है।

डॉ० नगेन्द्र का मत है कि ''विरेचन कला-स्वाद का साधक तो अवश्य है- समंजित मन कला के आनन्द को अधिक तत्परता से ग्रहण करता है, परन्तु विरेचन में कला-स्वाद का सहज अन्तर्भाव नहीं है। अतएव विरेचन सिद्धान्त को भावात्मक रूप देना कदाचित न्यायसंगत नहीं है।''

आधुनिकतम

आधुनिक विद्वानों के मतानुसार त्रास और करुणा की भावनाएँ अपने प्रकृत रूप में अधिक कष्टप्रद बनकर प्रकट होती है। त्रासदी के प्रेक्षणा के फलस्वरूप वे अपने अनुग्र एवं अनापत्तिजनक रूप को प्रकाशित करती है। इस रूप में वे निवैयक्तिक एवं सार्वभौम रूप में सामने आती हैं। इससे विरेचन और साधारणीकरण का घनिष्ठ सम्बन्ध सहज ही देखा जा सकता है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या त्रासदी के प्रभाव या प्रयोजन को समझने के लिए विरेचन सिद्धान्त ही एकमात्र समीचीन माध्यम है? वस्तुतः त्रासदी के कार्य को रेचन तक सीमित कर देना उसके उद्देश्य को संकीर्ण बनाने जैसा है। इसके विपरीत भाववादी समीक्षकों ने विरेचन का क्षेत्र अत्यन्त विस्त त बनाकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि विरेचन से अवांछनीय भावनाओं में भी परिवर्तन होता है और उनका अतिरेक मिटता है। इस व्यापक द ष्टिकोण का प्रतिपादन ड्राइडन, एडीसन आदि विद्वानों ने किया।

आक्षेप और समाधान

कुछ विद्वान विरेचन प्रक्रिया के अस्तित्व के बारे में शंका करते हैं। उनका आक्षेप है कि वास्तविक जीवन में ऐसा विरेचन नहीं होता है। त्रासदी से करुणादि मनोवेग उद्बुद्ध तो हो जाते हैं, किन्तु उनके

विरेचन से मनः शान्ति सर्वथा नहीं होती। वास्तव में त्रासदी का चमत्कार मूलतः रागात्मक होता है। वह विरेचन-प्रक्रिया द्वारा भावों को उद्‌बुद्ध करती है उनका समंजन करती है और इस प्रकार आनन्द की भूमिका प्रस्तुत करती है। यह विरेचन सिद्धान्त की महत्त्वपूर्ण देन है। दूसरा आक्षेप यह है कि त्रासदी में प्रदर्शित भाग अवास्तविक होते हैं, अतः वे हमारे भावों को उद्‌बुद्ध नहीं कर पाते, विरेचन की तो बात ही नहीं। वस्तुतः यह मत भी उचित नहीं है। त्रासदी द्वारा भावोद्वेक निश्चय ही कला-चमत्कार का प्रतिफल नहीं, रागात्मक प्रभाव की परिणति है। सारभूत समंजनकारी प्रभाव ही उसकी सफलता का कारण है। अतः आक्षेप सर्वथा निर्मूल है।

विरेचन का मनोवैज्ञानिक आधार

मनोविश्लेषण शास्त्र के अनुसार भावनाओं की अत प्ति या दमन मानसिक रोगों का प्रमुख कारण है। इनका विचार भावों की उचित अभिव्यक्ति और परितोष द्वारा हो सकता है। अचेतन मन में पड़े भाव उचित अभिव्यक्ति के अभाव में मानसिक ग्रन्थियों को जन्म देते हैं। इन ग्रंथियों को चेतन स्तर पर लाकर मन की घुटन और अत प्ति को दूर किया जाता है। इससे मन का तनाव दूर हो जाता है और चित्त एक प्रकार की विशदता एवं हल्कापन अनुभव करता है। मनोविश्लेषण शास्त्र की उन्मुक्त विचार-प्रवाह-प्रणाली का आधार यही प्रक्रिया है। इस द ष्टि से विरेचन का मनोवैज्ञानिक आधार सर्वथा पुष्ट है। फ्रायड आदि विद्वानों ने अनेक स्थलों पर अरस्तू वाक्यों को अपन मत के समर्थन में प्रस्तुत किया है।

विरेचन और करुण रस

अरस्तू द्वारा प्रतिपादित त्रासदी के प्रभाव का भारतीय काव्यशास्त्र में करुण रस से पर्याप्त साम्य है। त्रासद प्रभाव के आधारभूत मनोवेग है- करुणा और त्रास। ये दोनों भाव मूलतः दुःखद हैं।

उधर करुण रस का स्थायी भाव 'शोक' है। भारतीय काव्यशास्त्र 'शोक' स्थायी भाव के अन्तर्गत करुणा के साथ त्रास के अस्तित्व को स्वीकार करता है। इष्ट नाश या विपत्ति शोक के कारण हैं। इनसे करुणा और त्रास दोनों की उद्‌भूति होती है। विपत्ति के साक्षात्कार से करुणा की, वैसी ही विपत्ति की पुनराव त्ति की आशंका से त्रास की अनुभूति होती है। किन्तु भारतीय आचार्यों और अरस्तू के द ष्टिकोण में प्रमुख अन्तर यह है कि अरस्तू का त्रासद प्रभाव एक मिश्र भाव है, जबकि भारतीय काव्यशास्त्र का शोक स्थायी भाव मूलतः अमिश्र है, जैसे - सीता के दुर्भाग्य से उत्पन्न करुणा में त्रास का स्पर्श नहीं है, जबकि अरस्तू की द ष्टि में त्रासहीन करुण प्रसंग आदर्श स्थिति नहीं है।

निष्कर्ष

विरेचन सिद्धान्त का महत्त्व बहुविध है। प्रथम तो यह है कि उसने प्लेटो द्वारा काव्य पर लगाए गए आक्षेप का निराकरण किया और दूसरा यह कि उसने गत कितने ही वर्षों के काव्यशास्त्रीय चिन्तन को किसी-न-किसी रूप में अवश्य ही प्रभावित किया।

10. लोंजाइनस - उदात्त की अवधारणा

जिस प्रकार भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य के स्वरूप और उसकी आत्मा को लेकर विभिन्न मतों का प्रतिपादन हुआ है उसी प्रकार पाश्चात्य आलोचना के क्षेत्र में विभिन्न युगों में विभिन्न चिन्तकों ने काव्य या साहित्य के मूल तत्त्व की खोज की है।

प्लेटो ने अनुकरण को साहित्य का मूल तत्त्व माना। इनका पल्लवन अरस्तू ने अपनी द ष्टि से किया और विरेचन को साहित्य का उद्देश्य स्वीकार किया। इसी प्रकार लोंजाइनस का उदात्त सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के द्वारा उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि कोई भी कलाक ति या काव्यक ति बिना उदात्त तत्त्व के श्रेष्ठ रचना नहीं हो सकती। श्रेष्ठ वही है जिसमें रचयिता का गहन चिन्तन और अनुभूतियाँ रहती हैं। रचनाकार का यह अनुभूति तत्त्व अपनी महानता, उदात्तता, भव्यता या गरिमा के कारण रचना को महान् बनाता है। रचना या कृति शिल्प के द्वारा अभिव्यक्ति पाती है; किन्तु उदात्त रचना का लेखक अपनी रचना में शिल्प के सौन्दर्य की अधिक चिन्ता न करके उसमें निहित अनुभूति को ही सबल बनाने का यत्न करता है।

इस उदात्त सिद्धान्त को प्रस्तुत करनेवाले आचार्य लोंजाइनस है। इनका यूनानी भाषा का नाम लोंगिनुस (Longinus) तथा अंग्रेजी भाषा में उच्चरित लोंजाइनस है। इनकी रचना का नाम 'पेरिहुटसुस' है, जिसका अंग्रेजी में 'ऑन द सब्लाइम' (on the sublime) नाम से अनुवाद किया गया। इसी को हिन्दी में उदात्त की संज्ञा दी गई। इसका ग्रंथ पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र का प्रमुख ग्रंथ है।

उदात्त का स्वरूप

लोंजाइनस ने उदात्त की परिभाषा और उसका सामान्य परिचय जिस रूप में दिया है उससे प्रतीत होता है कि उनके समय में यह शब्द इतना अधिक प्रचलित हो गया था कि उन्होंने इसका विस्त त परिचय देने की कोई आवश्यकता नहीं समझी। फिर भी उदात्त के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उन्होंने इतना कहा- "Sublimity is a certain distinction and excellence in expression." अर्थात् अभिव्यक्ति की विशिष्टता और श्रेष्ठता का नाम उदात्त है। इसी को लक्ष्य करके हिन्दी आलोचकों ने यह स्वीकार किया है कि किसी रचना में उदात्त तत्त्व उपयुक्त तथा गरिमापूर्ण शब्द-विधान, आवेग को दीप्त करने वाली अलंकार योजना तथा रचना-विधान द्वारा अभिव्यक्त होता है।

लोंजाइनस ने काव्य के उदात्त को वक्त ता से एकदम भिन्न बताया है, क्योंकि काव्य में श्रोताओं पर उदात्त का प्रभाव तन्मयता के रूप में होता है, प्रवर्तन के रूप में नहीं। इस कारण लोंजाइनस की द ष्टि में भव्य कविता वहीं है जो आनन्दातिरेक के कारण हमें इतना निमग्न और तन्मय कर दे कि हम ऐसी उच्च भाव-भूमि पर पहुँच जाए जहाँ वर्ण्य विषय विद्युत-प्रकाश की भाँति आलोकित हो उठता है।

इस द ष्टि से लोंजाइनस को आनन्दातिरेक और विश्वनाथ के विगलित-वेद्यान्तर में बहुत कुछ साम्य देखा जा सकता है। उदात्त के स्वरूप के अन्तर्गत लोंजाइनस में मनोवैज्ञानिक और व्यवहारिक दोनों द ष्टियों को सामने रखा। इसी से उन्होंने एक ओर उदात्त के आन्तरिक तत्त्वों का उल्लेख किया है और दूसरी ओर उसके बाह्य पक्ष की भी विवेचना की है।

उदात्त का मूल आधार

उदात्त मूल आधार क्या है? क्या वह वक्ता या लेखक की जन्मजात प्रतिभा पर आधारित होता है या उसका प्रस्फुटन शिक्षा-दीक्षा से विचार किया जा सकता है या अभ्यास पर निर्भर है? इन प्रश्नों पर विचार करते हुए लोंजाइनस ने मध्य मार्ग का अनुकरण किया है। उनके विचार से उदात्त न तो सर्वथा प्रतिभा सापेक्ष है और न पूर्णतः अभ्यास-सापेक्ष। वस्तुतः उदात्त का आधार व्यक्ति का कोई एक पक्ष, एक गुण या एक प्रव त्ति नहीं है अपितु उसके पीछे सम्पूर्ण व्यक्तित्व की झलक होती है। अतः उदात्त का स ष्टा उदात्त व्यक्तित्व ही हो सकता है। महान् प्रतिभाशाली उच्च विद्वान एवं यशस्वी चरित्रवान व्यक्ति ही उदात्त या उद्घोषक हो सकता है। लोंजाइनस के अनुसार - ''उदात्त आत्मा की महानता का प्रतिबिम्ब है। सच्चा उदात्त केवल उन्हीं में प्राप्य है जिनकी चेतना उदात्त एवं विकासोन्मुख है। यह सर्वथा स्वाभाविक है कि जिनके मस्तिष्क उदात्त धारणाओं से परिपूर्ण है उन्हीं की वाणी से उदात्त शब्द झंक त हो सकते हैं।''

इस प्रकार उदात्त का सम्बन्ध केवल प्रतिभा, अध्ययन और भाषा के अध्ययन से नहीं, अपितु व्यक्ति के समूचे व्यक्तित्व से है।

निष्कर्षतः

(1) उदात्त अभिव्यंजना का प्रकर्ष और वैशिष्ट्य है।

(2) उदात्त का कार्य अनुनयन नहीं अपितु सम्मोहन है।

(3) उदात्त सर्जनात्मक या रचनात्मक कौशल से भिन्न तत्त्व है।

उसका प्रभाव क्रमिक नहीं, आकस्मिक होता है और उसके अलौलिक आलोक से कथा चमक उठती है।

उदात्त के स्रोत

यद्यपि उदात्त के मूलाधार साहित्यकार के व्यक्तित्व की महानता में निहित है फिर भी रचना में उदात्त का तत्त्व लाने में लिए लोंजाइनस ने पाँच स्रोतों की चर्चा की है-

(1) महान् धारणाओं की क्षमता या विचारों की भव्यता।

(2) प्रेरणा-प्रसूत आवेग या भावावेश की तीव्रता।

(3) समुचित अलंकार योजना।

(4) उत्क ष्ट भाषा।

(5) गरिमामय रचना विधान।

उपर्युक्त पाँचों तत्त्वों में से प्रथम दो जन्मजात अर्थात् कवि-प्रतिभा के अंग हैं और शेष तीन कला सम्बन्धी विशेषताएँ हैं।

(1) **महान् धारणाओं की क्षमता** - उदात्त के स्त्रोतों में प्रथम स्थान विचार की महत्ता का है। इसी को लोंजाइनस ने शब्द-भेद से आत्मा की भव्यता भी कहा है। उनका स्पष्ट कथन है- ''उदात्त महान् की आत्मा की प्रतिध्वनि होता है।'' यदि आत्मा की यह महत्ता नैसर्गिक न हो तो उत्क ष्ट विचारों द्वारा उसे प्राप्त किया जा सकता है। महान् शब्द उन्हीं के मुख से निकलते हैं जिनमें विचार गम्भीर और गहन हों। महान् विचारों से सम्पन्न, आत्मोत्थानयुक्त साहित्यकार ही उदात्त-स जन कर सकते हैं। लोंजाइनस की यह ऐसी अवधारणा है, जिससे उनकी

उदात्त-प्रभाव सम्बन्धी धारणा भी जुड़ी हुई हैं। उदात्त का प्रभाव आत्मातिक्रमण होता है, अनुनयन नहीं। यह धारणा इस बात को विशेषीकृत करती हैं कि आत्मातिक्रमण भव्य और महान् विचारों की गरिमामयी अभिव्यक्ति से ही सम्भव है। वस्तुतः आत्मिक महानता उदात्त स जना की पहली शर्त है, इसीलिए उदात्त का प्रभाव (ट्रांसपोर्ट) भी नैतिकरूप से कल्याणकारी ही माना जाएगा। इस प्रकार उदात्त साहित्य का प्रभाव नैतिक तथा कलात्मक दोनों ही द ष्टियों से उत्तम माना जाना चाहिए। इस द ष्टि से लोंजाइनस और महाकवि मिल्टन एक ही स्तर पर उतरते हैं। मिल्टन के अनुसार महान् साहित्यकार बनने के लिए महान् और अति सम्माननीय वस्तुओं का अनुकरण करना चाहिए। मिल्टन का मत है- "He ought himself to be a true poem, that is a composition and pattern of the best and honour-ablest things."

मनस्वियों को यह भव्य वाणी सहज ही प्राप्त हो जाती हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि प्रतिभाशाली कवि अपने जीवन के संध्या काल में अस्त होते हुए सूर्य की तरह ठण्डा हो जाता है और उसके परवर्ती काव्य में उदात्त की कमी दिखाई देने लगती है। ओदिसी (ओद्यु स्सेइया) में होमर की इसी अस्ताचल-गामिनी प्रतिभा के दर्शन होते हैं। लोंजाइनस का कथन है- ''इलियट होमर की तरुणाई की रचना हैं, क्योंकि इसमें गति और संघर्ष का प्राचुर्य हैं। इसके विपरीत, ओडिसी का बहुलांश आख्यानात्मक हैं, जो बुढ़ापे की देन है।''

हिन्दी में मैथिलीशरण गुप्त के 'विष्णु प्रिया' और 'रत्नावली' इसी प्रकार के काव्य हैं, जिनमें इनकी प्रतिभा का अपकर्ष देखा जा सकता है। पन्त और बच्चन का परवर्ती काव्य भी इसका उदाहरण हैं।

(2) **प्रेरणा-प्रसूत आवेग या भावावेश की तीव्रता** - लोंजाइनस ने कलाक ति में उद्दाम आवेगों की अनिवार्यता पर बल दिया है, क्योंकि कृति के महान् होने के लिए यह आवश्यक है कि पाठकों को भावनात्मक उत्तेजना प्रदान करे। भावावेश या भव्य आवेग वे हैं जिनसे 'आत्मा' अपने आप ऊपर उठने लगती हैं और फिर हर्षोल्लास से भर जाती हैं। लोंजाइनस ने आवेगों के दो वर्ग बनाए हैं- एक भव्य और दूसरा निम्न। भव्य आवेगों में उच्च भावावेश अर्थात् उत्क ष्ट भावना प्राबल्य, आदर, विस्मय, उल्लास और शौर्य आदि की गणना करते हैं, जबकि निम्न आवेगों का सम्बन्ध करुणा, शोक और भय से है। काव्य में उदात्त भरने के लिए उच्च भावावेशों का ग्रहण तथा निम्न भावावेशों का त्याग होना चाहिए।

(3) **समुचित अलंकार योजना -** लोंजाइनस का मत है कि अलंकारों का प्रयोग इस कुशलता से होना चाहिए कि इस बात पर किसी का ध्यान न जाए कि वह अलंकार है। कला जब कौशलपूर्वक प्रयुक्त की जाती है तो वह अपने सौन्दर्य और चमत्कार के विन्यास को खो देती है। वस्तुतः अलंकार की चमत्क त न करें, अपितु वह आनन्द हेतुक होना चाहिए।

लोंजाइनस ने अतिशयमूलक अलंकारों को उदात्त का हेतु माना है। उनके अनुसार विस्तारणा, शपथोक्ति, प्रश्नालंकार, विपर्यय, व्यतिक्रम, पुनराव त्ति, प्रत्यक्षीकरण, संचय, सार, रूप-परिवर्तन, पर्यायोक्ति, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों में उदात्त विद्यमान रहता हैं। अतः उदात्त के लिए अलंकारों का सहज और औचित्यपूर्ण होना अनिवार्य है।

उदाहरणार्थ

(i) विस्तारणा के अन्तर्गत वक्ता अपनी युक्तियों के विस्तार से प्रस्तुतकर उदात्त पोषण में सहायक होता है।

(ii) प्रश्नालंकार में वक्ता स्वयं ही प्रश्नकर उसका उत्तर देता है, जैसा कि प्लेटो ने 'रिपब्लिक' में किया है।

(iii) 'विपर्यय' और 'व्यतिक्रम' में शब्दों और विचारों के क्रम में परिवर्तन अथवा उलट-फेर की जाती हैं।

(iv) पुनराव त्ति के शब्दों अथवा वाक्यों की पुनराव त्ति की जाती है।

(v) प्रत्यक्षीकरण में साक्षात् वर्णन द्वारा समस्य विषय-वस्तु जीवित-सी प्रतीत होने लगती है।

(vi) 'सार' में वर्णित वस्तु की क्रमशः व द्धि की ओर संकेत होता है।

(vii) पर्यायोक्ति में बात को घुमा-फिराकर कहा जाता है।

(4) **उत्क ष्ट और अभिजात अभिव्यक्ति** - अभिजात अभिव्यक्ति से लोंजाइनस का तात्पर्य काव्य भाषा है। उन्होंने भाषा की उत्क ष्टता पर विशेष बल दिया है; क्योंकि उदात्त की अभिव्यक्ति भाषा के माध्यम से होती है। पदावली का विषयानुकूल, उपयुक्त प्रभाव एवं सुगुम्फित होना अनिवार्य है, क्योंकि ऊर्जास्वित भाषा के प्रयोग द्वारा रचनाकार ऐसी क ति का निर्माण कर सकता है जिसका प्रभाव दुर्निवार हो। उपयुक्त और प्रभावी शब्दावली के द्वारा रचना में भव्यता, गरिमा, ओज, मादेव, शक्ति आदि गुणों का समावेश और जीवन्तता का संचार होता है।

(5) **गरिमामय रचना विधान** - रचना-विधान का अर्थ हैं समंजित शब्द-योजना या एक निश्चित क्रम से शब्दों की योजना। लोंजाइनस के अनुसार विभिन्न तत्त्वों का पारस्परिक सामंजस्य कृति को गरिमापूर्ण बनाता है। जैसे शरीर के विभिन्न अवयवों के स्वतंत्र रहने पर कोई महत्त्व नहीं है, सबसे मिलने पर ही सम्पूर्ण शरीर की रचना सम्भव होती है, उसी प्रकार समस्त तत्त्वों के संयोग द्वारा ही गरिमामय कृति की रचना होती है। रचना के सभी तत्त्व मिलकर जब सामंजस्य की श्र ंखला में बंध जाते हैं। तभी उन में उदात्त आता है। अन्यथा वह बिखर जाता है।

कभी-कभी रचना-तत्त्वों का सामंजस्य उस क्षति की आपूर्ति कर देता है, जो रचना के किसी विशेष तत्त्व-दोष से उत्पन्न होती है और इस प्रकार यह सामंजस्य उदात्त-प्रभाव को अक्षुण्ण बनाये रखता है। अतः गरिमामय एवं भव्य रचना-विधान भी उदात्त-स जन का पोषक हैं।

उदात्त के विरोधी तत्त्व

लोंजाइनस ने उदात्त के विरोधी तत्त्वों पर भी विचार किया है। उन्होंने बालेयता, असंयत ठाग्विस्तार, अस्त-व्यस्यपद-रचना, हीन अर्थ वाले शब्द, भावाडम्बर और शब्दाडम्बर, अवांछित संक्षिप्तता, अनावश्यक साज-सज्जा, संगीत व लय पर अत्यधिक बल आदि को उदात्त की विरोधी तत्त्व माना है। अतः श्रेष्ठ कवि को अपनी रचना में इन्हें स्थान नहीं देना चाहिए।

(1) **बालेयता** - यह शैली का भारी दोष है। 'बालेय' का शाब्दिक अर्थ है 'बचकाना'। बच्चों में जैसे चपलता, संयमहीनता, हल्कापन और क्षुद्रता पाई जाती है, वैसे ही बालेयता का दोष उस शैली में माना जाएगा। जिसमें बिना संयम के लाग्स्फीति की जाए, क्षुद्र अर्थ द्योतक शब्दों का प्रयोग हो और चंचल या अस्थिर पद-विन्यास पाया जाए। इसमें शैली कृत्रिम हो जाती है। लोंजाइनस के अनुसार- "Slips of this sort are made by those who aiming at brilliancy, polish and especially attractiveness."

(2) **बागाडम्बर** - भाव की गरिमा के अभाव में अलंक त और भारी शब्दों का प्रयोग। जैसे ग द्ध

जैसे छोटे पदार्थ के लिए 'जीवित समाधि' शब्द का प्रयोग। बागाडम्बर उदात्त अतिक्रमण के प्रयास से उत्पन्न होता है।

(3) **भावाडम्बर** - जहाँ लेखक मद्यषो की भाँति आचरणकर प्रायः अनपेक्षित, निरर्थक और असंगत आवेग की अभिव्यक्ति करता है अर्थात् जहाँ आवेग के नियंत्रण की आवश्यकता होने पर भी आवेग की अभिव्यक्ति की जाए। आवेग की अभिव्यक्ति भावाडम्बर को जन्म देती है और उदात्त का ह्रास करती है।

(4) **शब्दाडम्बर** - लोगों को प्रभावित करने के मोह में अतिशयोक्तिपूर्ण कथन ही शब्दाडम्बर है। हिन्दी में बिहारी के ऊहात्मक दोहे इसी दोष से ग्रस्त हैं। उदाहरणार्थ, लोंजाइनस का मत है कि स्त्री के लिए चक्षु-दंश अथवा 'चक्षु-फोडक' और 'पुतली' के लिए 'आँख की कुमारी' आदि शब्दों का प्रयोग मात्र शब्दाडम्बर है, भाषा का अलंकार नहीं है।

उदात्त और परवर्ती समीक्षक

परवर्ती समीक्षकों में हीगेल ने उदात्त के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए उसकी तुलना सौन्दर्य से की है। उसके मतानुसार सौन्दर्य का अर्थ है सामंजस्य। सौन्दर्य में वस्तु और कला पक्ष का सामंजस्य रहता है। उदात्त की स्थिति सुन्दर से भिन्न है। उदात्त वह है जहाँ उसका भाव उसके रूप की अपेक्षा अधिक प्रशस्त और विलष्ट होता है। हीगेल यह भी मानते हैं कि उदात्त के मूल में विचारों की उत्क ष्टता है और विचारों की महत्ता व्यक्ति के उच्च चरित्र से जन्म पाती है। व्यक्ति का चरित्र महान है तो उसके विचार भी महान होंगे।

एडमंड बर्क ने लोंजाइनस द्वारा विवेचित प्रतिभा-प्रसूत कल्पना तथा विचार भावना आदि की विशालता के आधार पर उदात्त के स्वरूप की स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि जिस वस्तु या रचना में प्रभावित करने की शक्ति है और जो अपने अभिनव प्रभाव से प्रेक्षक को चकित कर सकती है, वहीं उदात्ततव्य समझना चाहिए।

उदात्त-तत्त्व की रचना का उदाहरण हम पिरामिड तथा रामचरित्र-मानस के सुन्दर काण्ड में प्रस्तुत हनुमान के विराट रूप, महाभारत में क ष्ण के विराट रूप आदि को ले सकते हैं। बर्क ने उदात्त-तत्त्व पदार्थों के अतिरिक्त ध्वनि के भीतर भी स्वीकार किया है, जैसे भारी आँधी, विशाल प्रपात, बिजली की गरज, तोपों की गर्जना में भी उदात्त-तत्त्व रहता है। वस्तुतः सौन्दर्य की अपेक्षा अक्खड़पन उदात्त से अधिक निकट हैं।

उदात्त का प्रभाव :

आनन्द -

कवि-कर्म के रूप में आनन्द की प्रतिष्ठा लोंजाइनस की ऐसी देन है जो एक ओर उन्हें होरेस जैसे अलंकार-शास्त्री से और दूसरी ओर अरस्तू जैसे काव्य-शास्त्री से भिन्न करती है। अरस्तू का विरेचन एक प्रकार का उपचार है, जिसकी परिकल्पना विशेषकर त्रासदी के संदर्भ में की गई है, जबकि लोंजाइनस का 'आनन्द' एक उपलब्धि है, जिसका पोषक आधार महाकाव्य त्रासदी, प्रगीत आदि सभी तक विस्त त हैं। वस्तुतः उदात्त का विवेचन और विश्लेषण लोंजाइनस के 'पेरि इप्सुस' मे सर्वाधिक रूप में हुआ है।

उपसंहार-

लोंजाइनस का उदात्त सिद्धान्त पाश्चात्य समीक्षा की देन है। उनका 'उदात्त' जीवन के अर्जित पक्ष की अभिव्यक्ति हैं, मधुर पक्ष के लिए उसमें कोई स्थान नहीं है। अतः जीवन के आधे पक्ष का विवेचन

करने के कारण उनका शास्त्र अधूरा है। भारतीय काव्यशास्त्र की पूर्णता उसमें कहाँ, जिसमें ओज के साथ माधुर्य गुण भी है। एक ओर वीर और अद्‌भुत रस है तो दूसरी ओर श्र ंगार और हास्य रस हैं। वह सम्पूर्ण मानव की क ति है। लोंजाइनस की धारणा में इस एकांगिता का कारण यह है कि उसने अपने ग्रन्थ की रचना भाषण-शास्त्र के रूप में की थी, काव्यशास्त्र के रूप में नहीं। इसीलिए सफल भाषण के लिए महत्त्वपूर्ण तत्त्वों का ही निर्वचन इसमें मिलता है।

11. जॉन ड्राइडन

काव्य-सिद्धान्त

अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि, नाटककार तथा व्यंग्यकार ड्राइडन बहुमुखी प्रतिभावाले साहित्यकार थे, पर आज वह आलोचक के रूप में ही अधिक स्मरण किए जाते हैं। उनके आलोचना-सिद्धान्त उनकी अपनी कृतियों की भूमिकाओं तथा समर्पण पत्रों के रूप में मिलते हैं। सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों प्रकार की आलोचना के क्षेत्र में उनकी देन महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने न केवल काव्य-प्रजोयन, प्रहसन, कल्पना, अनुकरण आदि से सम्बद्ध गम्भीर और शाश्वत प्रश्नों पर ही अपने विचार प्रकट किए हैं, अपितु पुरातन कवियों की भी समीक्षा की है। उन्होंने एक ओर प्राचीन ग्रीक और रोमी साहित्य पढ़ रखा था तो दूसरी ओर तत्कालीन यूरोप के साहित्य का शेक्सपियर, बेन जॉनसन, फ्लैचर आदि का भी उन्हें अच्छा ज्ञान था। उन्होंने अरस्तू, होरेस आदि के कला-सिद्धान्तों का भी विशद् अध्ययन किया था। पर वह ''पुराणमित्येव साधु सर्व'' के अनुयायी नहीं थे; प्राचीन के प्रति निष्ठा रखते हुए भी नवीन के प्रति आक ष्ट थे। परम्परा उन्हें मान्य थी, पर युग का अनुरोध भी उनके लिए उपेक्षणीय न था। इसलिए उन्होंने कहा था, "It is not enough that Aristotle has said so.... and if he had seen ours, might have changed this mind." ड्राइडन की स्वच्छन्द मेधा और स्वतन्त्र विचारणा-शक्ति इस बात को स्वीकार न कर सकी कि कतिपय सिद्धान्तों और नियमों के पालन मात्र से उच्चकोटि की साहित्यिक रचना का निर्माण हो सकता है। वह चाहते थे कि कलाकार कला के नियमों का पालन अचेतन मन से करे, कला में लीन हो जाए। उन्होंने फ्रांसीसी आलोचकों के सम्मुख सिर नहीं झुकाया, उनके आदर्शों और सिद्धान्तों को अक्षरशः मानने से इन्कार कर दिया। काव्य की प्रक ति तथा कलाक ति का प्रयोजन जैसे गम्भीर विषयों पर सूक्ष्म तथा क्रांतिकारी विचार प्रस्तुत किए। प्राचीन काव्यशास्त्रियों की आप्तवाणी का विरोध कर यह कहना कि ग्रीक त्रासदी से भिन्न प्रकार की त्रासदी भी लिखी जा सकती है और कथावस्तु को, जिसे अरस्तु सर्वस्व मानता था, नगण्य घोषित करना, उसके साहस और स्वतन्त्र-मेधा का परिचायक है। यही सब बातें हैं जिनके कारण उसे 'आधुनिक आंग्ल-आलोचना का जनक' कहा जाता है-

"There was no Elizabethan tradition in descriptive criticism..... in critical analysis, he was forced to start from scratch .... he was the father of English Criticism." (Gearage Watson - the Literary Critics).

काव्य प्रयोजन

ड्राइडन के समय में काव्य के तीन प्रयोजन माने जाते थे- शिक्षा देना, आनन्द लेना और आत्मोल्लास। यद्यपि सिडनी ने कहा था कि काव्य का प्रयोजन आनन्दपूर्ण शिक्षा देना है, "Delightful teaching which is the end of poetry" तथापि उसका बल आनन्द से अधिक शिक्षा पर था। इसके विपरीत ड्राइडन आनन्द को प्रधान मानता था;

"Delight is the chief, if not the only end of poesy; instruction can be admitted but in the second place; for poesy only instructs as delights." वह कवि का कार्य भली-भाँति अनुकरण करना मानते हैं, पर उससे भी अधिक वह कवि की सफलता इस बात में मानते हैं कि वह आत्मा को प्रभावित करे To affect the soul और श्रोता के मनोभावों को उद्वेलित करने में समर्थ हो। (Excite the passions and above all the move admiration).

अनुकरण और कल्पना

ड्राइडन के अनुसार काव्य मानव-प्रक ति का मानस-चित्र है। यह चित्र यथार्थ होना चाहिए और यथार्थ का अर्थ है- ''मानव-प्रक ति को उसके कार्यों, भावों और भाग्य के परिवर्तनों के द्वारा प्रकट करना।'' उनके मतानुसार कवि अपनी मेधा प्रतिभा तथा कल्पना शक्ति से मूल्य वस्तु में कुछ ऐसा चमत्कार और सौन्दर्य ले आता है कि वह मौलिक प्रतीत होने लगती है। वस्तुतः ड्राइडन कलाकार को अनुकर्त्ता मात्र नहीं मानता, वह उसे ऐसा स ष्टा मानता है जिसका उद्देश्य वास्तविक वस्तु से भी अधिक सौन्दर्यपूर्ण क ति का निर्माण करना है- "The poet does not leave things as he finds them but handles them, heightens their quality and so creates something that is beautiful and his own." जब वह कवि की तुलना बन्दूक बनाने वाले और घड़ी बनाने वाले से करता है तो स्पष्ट ही वह मूल वस्तु की अपेक्षा कवि की कल्पना और विवेक पर अधिक बल देता है। जिस प्रकार बन्दूक या घड़ी बनाने में इस्पात और चाँदी महत्त्वपूर्ण होते हुए भी असली मूल्य के नहीं होते, असली महत्त्व तो कला-चतुराई में निहित होता है, इसी प्रकार सफल कलाक ति के लिए विषय की अपेक्षा कवि की कल्पना-शक्ति, उसकी रचना-चातुरी और विवेक शक्ति अधिक महत्त्वपूर्ण होती है। कल्पना और विवेक में भी ड्राइडन कल्पना को अधिक महत्त्व देता है।

"Judgement indeed is necessary in him; but it is fancy that gives the life touches and the secret graces to it"

कल्पना सम्बन्धी विचार

कल्पना के लिए ड्राइडन ने ''फैन्सी'' शब्द का प्रयोग किया है, पर फैन्सी से उसका अभिप्राय वही है जो कॉलरिज का 'इमेजिनेशन' से है। वह काव्य के लिए कल्पना को आवश्यक मानता है न कि अद्भुत कल्पना विलास को। वह काव्य में जीवन के यांत्रिक अनुकरण, फोटोग्राफिक प्रत्यंकन को प्रक ति की चोरी कहता है, "Theft from nature, It is not life transmitted by imagination." और कलाकार का कर्त्तव्य मानता है कि वह अपने में अन्तर्निहित कल्पना-शक्ति बिम्ब-निर्माण की क्षमता द्वारा सौन्दर्य की स ष्टि करे।

वह कल्पना शक्ति को ऐसी शक्ति समझता है जो एक तेज शिकारी कुत्ते की तरह स्म ति-क्षेत्र पर ऐसे भावों की खोज में दौड़ लगाती है जिनके द्वारा वह अनुभूतियों को अच्छी तरह व्यक्त करे। महाकाव्य एवं ऐतिहासिक काव्य में कल्पना का काम रमणीय चरित्रों, क त्यों, मनोवेगों, स्थायी भावों और विचारों को प्रस्तुत करना है। इन सबका वर्णन कवि कल्पना द्वारा ऐसी उपयुक्त, सुस्पष्ट और आलंकारिक भाषा में करता है कि अनुपस्थित विषय हमारी आँखों के सामने यथार्थ से भी अधिक सुन्दर और पूर्ण रूप से उपस्थित हो जाता है। उनके अनुसार, कल्पना की प्रथम प्रक्रिया द्वारा कवि उपयुक्त विचारों को पाता है; दूसरी क्रिया में वह पाए हुए विचारों को विषय के अनुकूल ढालता है; तीसरी क्रिया में वह इन विचारों को उपयुक्त, सार्थक शब्दों को अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार ड्राइडन ने कल्पना-शक्ति के महत्त्व को समझा और उसकी आवश्यकता पर समुचित बल दिया।

काव्य-विषय

ड्राइडन का मत है कि काव्य का विषय उपयुक्त होना चाहिए, क्योंकि जिस प्रकार उचित न होने से सर्वोत्तम औषधि भी अपना गुण खो बैठती है, उसी प्रकार उपयुक्त विषय का चयन न होने से काव्य निष्प्रभ हो जाता है। केवल विषय ही नहीं, चरित्र भी महान् तथा गौरवमय होने चाहिए। यदि विषय साधारण या तुच्छ होगा तो कवि अवश्य ही निम्न धरातल पर गिर पड़ेगा और उदात्त क ति का निर्माण नहीं कर पाएगा। साथ ही वह यह भी आवश्यक मानता है कि विषय-वस्तु का चयन करने में वह युग की रुचि और पाठकों के मानसिक स्तर का भी ध्यान रखे, क्योंकि ऐसा न करने पर वह अपने युग की जनता को आनन्द प्रदान न कर सकेगा जो उसका प्रमुख कर्त्तव्य है। इस प्रकार ड्राइडन काव्य के सम्बन्ध में पाँच बातें कहता है-

(1) काव्य का सम्बन्ध मानव-प्रक ति से है।

(2) यह मानव-प्रक ति का मानस-चित्र है।

(3) यह चित्र यथार्थ होना चाहिए।

(4) इस चित्र में सप्राणता होनी चाहिए।

(5) काव्य का लक्ष्य आनन्द और शिक्षा देना होता है।

हास्य-रचना और प्रहसन का भेद

'Perface to an Evening's Love' में निम्न श्रेणी के होते हैं। उसमें ऐसी व त्तियाँ, योजनाएँ और ऐसे साहसपूर्ण क त्य प्रदर्शित किए जाते हैं, जो दिन-प्रतिदिन के जीवन में पाए जाते हैं। उसके चरित्र और क त्य स्वाभाविक होते हैं, इसके विपरीत प्रहसन में बनावटी व त्तियां और अप्राकृतिक घटनाएँ होती हैं। हास्य-रचना हमारे सामने मानव-स्वभाव की त्रुटियाँ लाती हैं; प्रहसन ऐसी वस्तुओं से हमारा मनोरंजन करता है जो अपरूप होती है। हास्य-रचना ऐसे लोगों को हँसी दिलाती है जो मनुष्यों की मूर्खताओं और उनके भ्रष्टाचारों पर निर्णय दे सकते हैं; प्रहसन ऐसे लोगों को हँसी दिलाता है, जिनमें निर्णयात्मक शक्ति नहीं होती और जो असम्भव तथा काल्पनिक द श्यों के प्रदर्शन से भी खुश होते हैं। हास्य-रचना और प्रहसन में एक अन्तर यह भी है कि हास्य-रचना अवधारणा और उच्छ ंखल कल्पना दोनों पर क्रियाशील होती है, जबकि प्रहसन केवल उच्छ ंखल कल्पना पर। हास्य रचना से उत्पन्न हँसी में संतुष्टि होती है, प्रहसन से उत्पन्न हँसी से घ णा अधिक होती है।

वह हास्य-रचना के लिए काव्यात्मक न्याय (Poetic Justice) के सिद्धान्त को आवश्यक नहीं मानता, जबकि करुण-रचना के लिए उसको आवश्यक मानता है, क्योंकि हास्य का उद्देश्य केवल मनोरंजन करना है, शिक्षा देना नहीं।

भाषा

वह विशुद्ध अँग्रेजी के पक्ष में था और उसे पण्डिताऊ बनाने या विदेशी शब्दों से भरने के विरुद्ध था। वह उसे अपने युग की फ्रांसीसी भाषा की तरह एकरूपता प्रदान करना चाहता था। वह बागाडम्बर का विरोध करता था और नहीं चाहता था कि तुच्छ विषय को बड़े-बड़े गरिमामय शब्दों द्वारा व्यक्त किया जाए। वह पुनराव त्ति, अभिव्यक्ति की शिथिलता और अतिशयोक्ति की बहुलता के भी पक्ष में नहीं था और वाग्स्फीति से तो उसे चिढ़ रही थी। वह नहीं चाहता था कि जो अर्थ एक पँक्ति में रखा जा सके, उसे दस पँक्तियों में फैलाकर रखा जाए। जो कवि अस्वाभाविक, समीत शैली के जाल में फँस जाता है वह अविवेकी है। वह उदात्त शैली का समर्थक हैं, पर उसका मत है कि काव्योत्कर्ष के लिए जिन अलंकारों का प्रयोग किया जाए वे अवसर विषयवस्तु और पात्रों के अनुरूप हों।

ड्राइडन की देन

ड्राइडन पहला आलोचक है जिसने अंग्रेजी काव्य और साहित्य की महत्ता प्रतिपादित की और फ्रांसीसी तथा ग्रीक साहित्य की त्रुटियाँ बताकर, उनको उनके सही परिप्रेक्ष्य में देखकर अंग्रेजी साहित्य की महत्ता अंग्रेजी जनता के सामने रखी। उसकी आलोचना पाठक तथा लेखक के बीच सेतु का काम करती है। तुलनात्मक और ऐतिहासिक आलोचना के क्षेत्र में भी उसका क तित्त्व स्तुत्य है। उसने Descriptive Criticism की नींव डाली। उसके लिखे हुए लूशियन और प्लूटार्क के जीवन-चरितों में जीवन चरित और आलोचना का वह अपूर्व सम्मिश्रण मिलता है जो बाद में सैन्तव्यव तथा डॉ० जानसन की आलोचना की विशेष देन है। पहली बार उसने उन प्रभावों का निरूपण किया है जिनसे साहित्यिक व्यक्तित्व बनता है। 'Fables' के प्राक्कथन में उसने लिखा है ''मिल्टन स्पैंसर का सच्चा काव्यमय पुत्र था.... क्योंकि हम कवियों की भी जाति, परिवार और वंश परम्परा वैसी ही होती है जैसी लोगों की।'' स्पष्ट है कि इन पँक्तियों में वह एक कवि से दूसरे कवि पर प्रभाव की चर्चा कर रहा है जो उससे पूर्व किसी आलोचक ने नहीं की थी। ड्राइडन के समकालीन आलोचक कोई परम्परा निर्मित नहीं कर पाए थे। इसी कारण उनकी तुलना में ड्राइडन को इतना महत्त्व दिया जाता है, पर ड्राइडन ने जो कार्य किया है, वह अपने आप में भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

साहित्य का उद्देश्य आनन्द अधिक है शिक्षा कम, यह बताकर उसने कलापूर्ण तथा नैतिक काव्य का अन्त बताया। उसने साहित्य में सौन्दर्य तत्त्व की महत्ता पर बल दिया तथा साहित्य को अनुकरण न मानकर पुनः स जन कहा और इस प्रकार काव्य में कल्पना-तत्त्व का महत्त्व स्वीकार किया। नियम-पालन से अधिक प्रतिभा को आवश्यक बताकर भी उसने सही निर्देशन किया। इस प्रकार उसका महत्त्व अंग्रेजी आलोचना के इतिहास में नगण्य नहीं है, यद्यपि कुछ विद्वानों ने उसके महत्त्व को घटाने की चेष्टा की है। जब वाटसन कहता है,

His achievement lies not in anlysing much or in doing it well, but in proving the inestimable example of showing that literary analysis is possible at all. तब उसके वक्तव्य में अर्ध-सत्य ही है। यह सत्य है कि उसने नए सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा से अधिक प्राचीन सिद्धान्तों में संशोधन किया, उसके सिद्धान्त स्वतः नव्यशास्त्रीय हैं, फिर भी स्वतन्त्र आलोचक द ष्टि तथा साहसपूर्ण निष्कर्षों के कारण उसका योगदान अविस्मरणीय है।

12. वर्ड्सवर्थ - काव्य-भाषा का सिद्धान्त

विलियम वर्ड्सवर्थ - स्वच्छन्दतावादी काव्य-युग के प्रवर्त्तक कवि थे। स्वभाव से वे आलोचक न थे और न आलोचना करना उनका उद्देश्य था, बल्कि उनका आलोचनात्मक क तित्व नवशास्त्रवादी समीक्षकों के कठोर प्रहारों के विरुद्ध आत्मरक्षा का वह प्रयत्न है जो आलोचक-मान्यताओं के रूप में कलमबद्ध किया गया है। मूलतः और स्वभावतः आलोचक न होने पर भी अँग्रेजी आलोचना-शास्त्र में उनकी मान्यताओं का गौरव अक्षुण्ण है।

काव्य सम्बन्धी अवधारणा

काव्य की परिभाषा देते हुए वर्ड्सवर्थ का कथन है- Poetry is spontaneous overflow of powerful feelings; It takes it's origin from emotions recollected in tranquillity." अर्थात् ''कविता सशक्त भावोद्गारों का स्वतः प्रसूत उच्छलन है, जो मन की शान्त अवस्था में मनोभावों के अनुस्मरण से उद्भूत होती है।'' यहाँ कवि ने दो विरोधी विचारों-बलवती भावनाओं का सहज उच्छलन और वह भी शान्त अवस्था में अनुस्मरित मनोभावों में कोई भेद नहीं किया है अपितु दूसरे विचार के आधार पर प्रथम को प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है।

काव्य-रचना के लिए वर्ड्सवर्थ दोनों स्थितियों को अनिवार्य मानते हैं, क्योंकि यदि स्वतः प्रसूत सशक्त भावोद्गार ही न होंगे तो मन की शान्त अवस्था में किसका स्मरण किया जाएगा। अनुस्मरण न करते हुए सहज उच्छलित मनोभावों को मन की आलोड़ित अवस्था में कलमबद्ध करने का प्रयास किया जाता है तो ये मनोभाव जनसामान्य-प्रयुक्त भाषा में किस प्रकार रूपान्तरित हो सकते हैं? परिणामस्वरूप काव्य-स जन के लिए सशक्त भावनाओं का सहज उच्छलन एवं मन की शान्त अवस्था में उनका स्मरण, दोनों ही अनिवार्य स्थितियाँ हैं। वस्तुतः वर्ड्सवर्थ काव्य-स जन प्रक्रिया के तीन स्तर मानते हैं-

(1) प्रथम स्तर पर सशक्त भावोद्गारों का सर्जक के मन में उच्छलित होना।

(2) द्वितीय स्तर पर उन भावोद्गारों को मन की शान्त अवस्था में स्मरण करना जिससे सजातीय मनोभाव सर्जक के स्म ति-पटल पर पुनः विद्यमान हो जाएँ।

(3) त तीय स्तर पर स्म ति-पटल पर विद्यमान इन मनोभावों को जन-भाषानुरूप शब्दों में बाँधना।

प्रश्न उठता है कि वर्ड्सवर्थ की काव्य-भाषा का सैद्धान्तिक पक्ष व्यापारिक रूप में आया है अथवा नहीं? उत्तर सकारात्मक है। वर्ड्सवर्थ के साहित्य का श्रेष्ठतम अंश इसी सिद्धान्त का व्यावहारिक पक्ष है। उनकी डेफोडिल्स कविता इसका श्रेष्ठ उदाहरण है। 'डेफोडिल्स' नामक फूलों के सौन्दर्य से कवि का संवेदन स्वतः प्रसूत सशक्त भावों से भर जाता है। जब वे एकान्त क्षणों में उसका स्मरण करते हैं तो काव्य-स्रोत फूटकर बह चलता है, जिसकी परिणति 'डेफोडिल्स' नामक कविता में होती है।

काव्य-सिद्धान्त

वर्ड्सवर्थ के काव्य-सिद्धान्त प्रक ति-प्रेम पर आधारित हैं। प्रक ति का चिन्तन करते हुए उनकी

मनोदशा अपने सर्वोत्तम रूप में अभिव्यक्त प्राप्त करती है। उसने प्रक ति के मूलभूत सिद्धान्तों को सामान्य जीवन से प थक् स्वीकार कर काव्य के अन्तरंग रूप की प्रतिष्ठा की है।

काव्य की कथावस्तु के स्थान पर वर्ड्सवर्थ ने कवि की अनुभूति पर जोर देते हुए कहा है कि अनुभूति के कारण ही काव्य में मनोभावों और स्थिति को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता है। उसने कला के लिए ही अनुभूति को महत्त्व दिया है।

वर्ड्सवर्थ ने कविता को समस्त ज्ञान का प्राण और उत्क ष्ट आत्मा कहा है और उसे समस्त ज्ञान का आदि और अन्त स्वीकार किया है।

वर्ड्सवर्थ ने मानव और प्राक तिक कार्यकलाप के अन्तःस्थल में विद्यमान आनन्द को काव्य का नैतिक धर्म पर प्रतिपादित कर 'सम्बन्धों' और 'प्रेम' के आधार पर मानव और प्रक ति के मौलिक मूल्यों की ओर लक्ष्य किया है।

काव्य प्रयोजन

वर्ड्सवर्थ की मान्यता है कि कवि जन-सामान्य के लिए लिखता है, इसलिए उसे काव्य के माध्यम से उपदेश भी देना चाहिए। उनके शब्दों में- "Every great poet is a teacher. I wish either to be considered as a teacher or as nothing." इसी से सम्बद्ध विचार हिन्दी के राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के भी हैं-

''केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए।
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए।।

किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि मात्र शुष्क उपदेश ही वर्ड्सवर्थ के काव्य का उद्देश्य था। उसने अनिवार्य से समाहित नैतिक उत्थान से परिपूर्ण काव्यानन्द को काव्य-प्रयोजन के रूप में स्वीकार किया है। ऐसा काव्यानन्द ही मानव की दुर्भावनाओं का परिष्कार करता है, प्राणीमात्र के प्रति भावक को संवेदनशील बनाता है, प्रक ति और मानव-जीवन को अधिकतम मूल्यवान और पूर्ण बनाता है।

वर्ड्सवर्थ की मान्यता है कि काव्य जनकल्याण का सशक्त और महान् साधन है। उनके विचार में महाकवि का उद्देश्य भी काव्य के माध्यम से जनहित करना है। उनके अनुसार- The censole the affected, to add sunshine to daylight by making the happy happier, to teach the young and the gracious of every age to see, to think and feel, and therefore to become actively and securely virtueous....." अर्थात् ''काव्य का उद्देश्य पीड़ितों को सान्त्वना देना, दिवालोक में प्रखर रश्मियों के समावेश की भाँति ही भाग्यवानों को अधिक प्रमुदित करना तथा प्रत्येक युग के युवकों एवं क पालुओं को चिन्तन-मनन एवं संवेदन-प्रधान बनाने की शिक्षा देना है, ताकि वे सक्रियता एवं द ढ़ता से सदाचारी बन सकें।'' इससे वर्ड्सवर्थ प्लेटो से प्रभावित प्रतीत होते हैं। किन्तु जहाँ वे काव्यानन्द को शिक्षा का एकमात्र और अनिवार्य साधन मानते हैं, वहाँ वे होरेस से प्रभावित प्रतीत होते हैं।

वर्ड्सवर्थ ने काव्य-सत्य को विज्ञान-सत्य से कहीं अधिक जन-हितकारी एवं भव्यतर माना है, क्योंकि विज्ञान सत्य मात्र हमें भौतिक सुख ही प्रदान कर सकते हैं, जबकि काव्य-सत्य मनुष्य से उसके अस्तित्व के अनिवार्य हिस्से की भाँति जुड़ा हुआ है। अतः यह कहा जा सकता है कि वर्ड्सवर्थ की काव्य-प्रयोजन सम्बन्धी धारणा काव्यानन्द के माध्यम से मानव-जीवन में सत्य, शिव एवं सुन्दर की अनिवार्य परिणति है।

काव्य भाषा

वर्ड्सवर्थ की मान्यता है कि काव्य-भाषा जनसाधारण की भाषा का चुना हुआ रूप होने के कारण कभी-कभी गौरवान्वित होने की आकांक्षा करने वाले कवियों द्वारा प्रयुक्त भाषा से अधिक स्थायी और दर्शन-प्रधान होती है। उन्होंने जन-सामान्य के जीवन की भाषा का रूप क्लिष्ट और अस्वाभाविक बनाने वाले नवशास्त्रवादी कवियों के इसी संकीर्ण उद्‌देश्य पर कड़े प्रहार किए तथा अपने 'लिरिकल बैलेड्स' की भूमिका में विस्तार अपनी इस अवधारणा का प्रतिपादन किया। 'वर्ड्सवर्थ' ने अपनी काव्य-भाषा में उन्हीं मुहावरों, सूक्तियों, विरोधालंकारों, पर्यायोक्तियों, विपर्ययों तथा अन्य काव्योचित तरीकों का सहारा लिया है जो कि पहले से ही काव्य-जगत् में बहुप्रचलित तथा साधारण पाठकों के सुपरिचित थे।

काव्य-भाषा और गद्य-भाषा के किसी तात्विक भेद को अस्वीकार करते हुए वर्ड्सवर्थ की धारणा है कि किसी श्रेष्ठ कविता की भाषा का अधिकांश भाग अच्छी गद्य-भाषा जैसा ही होता है किसी कविता के सर्वाधिक आकर्षक और रस-प्रधान अंश की भाषा पूर्णतः वैसे ही होती है जैसे उच्चकोटि के गद्य-साहित्य की भाषा। उन्होंने 'लिरिकल बैलेड्स' के द्वितीय संस्करण की भूमिका में लिखा है- "It may be safely affirmed that there neither is, nor can be, any essential difference between the language of prose and metrical composition." अर्थात् ''हम निःसंकोच यह कह सकते हैं कि गद्य की भाषा और छन्दोबद्ध रचना की भाषा में न कोई तात्विक अन्तर है और न हो सकता है।''

वर्ड्सवर्थ की प्रबल भावावेगमयी भाषा नवशास्त्रवादी डा० जॉनसन की 'प्लासवर्स ऑफ पीच' से न तो बहुत दूर है और न भिन्न।

प्रश्न उठता है कि क्या वर्ड्सवर्थ का महान काव्य जन-सामान्य की चयनित भाषा के रूप में लिखा गया है? अर्थात् क्या वे अपनी भाषागत अवधारणा को अपने काव्य व्यावहारिक रूप दे सके हैं? वस्तुतः उनकी महान् कविताएँ जैसे 'द इमोर्टेलिटी ओड' (The imortality ode) जनसाधारण की चयनित भाषा में लिखी गई है, किन्तु फिर भी अधिकांश कविताएँ, जिनमें घटनाओं और स्थितियों को जन-सामान्य से चुना है, जन-साधारण की चयनित भाषा में लिखी गई है। अतः यह कहना असंगत नहीं है कि वे अपनी काव्य-भाषा सम्बन्धी अवधारणा को काव्य में भी उतार सके हैं।

काव्य शैली

वर्ड्सवर्थ ने अपने समय की पूर्ववर्ती काव्य-शैली को विकृत, दोषपूर्ण और चैतन्यहीन कहा है तथा अपनी काव्य-शैली को 'स्वाभाविक' माना है। उन्होंने आनन्दातिरेक के लिए कविता में लय और छन्द का होना आवश्यक बताया है। कविता में छन्द नियमित और एकरूप होना चाहिए। वस्तुतः उनकी यह मान्यता है कि लय और छन्द में कविता लिखने से वह जन-सामान्य की भाषा में लिखी जा सकती है। इसलिए काव्य-स जन की पद्धति के सम्बन्ध में उसने लिखा है कि कविता उदात्त अनुभूतियों का स्वतः स्फूर्त प्रवाह है, जिसका उद्‌भव शान्ति के क्षणों में स्मरण किए हुए आवेगों से होता है।

मूल्यांकन

वर्ड्सवर्थ ने प्राचीन सिद्धान्तों को प्रतिमान के रूप में स्वीकार न करते हुए नवशास्त्रवाद से प्रक ति के अनुकरण का सिद्धान्त ग्रहण किया और उसे एक विशेष सामाजिक मोड़ दिया। उन्होंने क ति की श्रेष्ठता की परख का एकमात्र प्रतिमान रखा उसकी भावात्मक अपील और इसी आधार पर उन्होंने कविता का लक्षण प्रस्तुत किया।

वर्ड्सवर्थ ने काव्य के सामाजिक प्रभाव को भी स्वीकार किया है, जिससे मानव-समाज प्रेम में बँधकर सुखी होता है। उन्होंने अनुभूतियों की स्वतः स्फूर्ति को कविता में प्रतिपादित कर काव्य-शैली का विरोध और ग्रामीण भाषा का अनुकरणकर समीक्षा सम्बन्धी जो विचार व्यक्त किए हैं वे महत्त्वपूर्ण हैं।

13. कॉलरिज - कल्पना-सिद्धान्त

स्वच्छन्दतावादी कवि, दार्शनिक एवं आलोचक तथा सहजात प्रतिभा के धनी सेमुअल टेलर कॉलरिज का पाश्चात्य काव्यशास्त्र में मूर्धन्य स्थान है। वे अंग्रेजी के श्रेष्ठ आलोचक हैं और उनका स्थान अरस्तू तथा लोंजाइनस के समकक्ष है।

कॉलरिज की क ति **'बायोग्राफिया लिटरेरिया'** को अंग्रेजी समीक्षा का श्रेष्ठ ग्रन्थ माना जाता है। रिचर्ड्स तथा हर्बर्ट रीड जैसे विद्वान भी समीक्षा क्षेत्र में कॉलरिज के महत्त्वपूर्ण स्थान के विषय में एकमत हैं।

आलोचना के सम्बन्ध में कॉलरिज ने स्वच्छन्दतावादी द ष्टिकोण का परिचय दिया है और कहा है कि आलोचना का उद्देश्य लेखक के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना अधिक है और उसकी कृतियों पर निर्णय देने के लिए नियम बनाना कम। उनके शब्दों में (उनका प्रयत्न) - "To establish the principles of writing rather than to furnish rules how to pass judgement on what has been written by others."

1. **कल्पना सम्बन्धी सिद्धान्त** - कॉलरिज सभी स जनात्मक कार्यों का श्रेय कल्पना को देते हैं। कल्पना सम्बन्धी उनकी धारणा बड़ी व्यापक और दर्शन प्रधान है। कल्पना की व्याख्या करते हुए कॉलरिज ने लिखा है कि स्पष्ट रूप से संसार में दो शक्तियाँ कार्य करती हैं जो एक-दूसरे के सम्बन्ध में क्रियाशील और निष्क्रिय होती हैं और कार्य, बिना एक मध्यस्थ शक्ति के सम्भव नहीं है जो एक साथ सक्रिय भी हैं और निष्क्रिय भी। दर्शन भाषा में इस मध्यस्थ शक्ति को कल्पना की संज्ञा दी गई है।

   वस्तुतः कल्पना वह शक्ति है जो बहिर्जगत और अन्तर्जगत का सफल संयोजन करती है और प्रतिबोधन एवं अवबोधन के अन्तर को मिटाती है जिसे बुद्धि के सहारे नहीं मिटाया जा सकता। कल्पना पदार्थों और वस्तुओं में चेतना का संचार करती है और उन्हें जीवन्त रूप में हमारे सम्मुख पेश करती है।

   कॉलरिज ने कल्पना के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए इसे दो वर्गों में बाँटा है- प्राथमिक कल्पना और विशिष्ट कल्पना।

   (क) **प्राथमिक कल्पना** - प्राथमिक कल्पना सम्पूर्ण मानवीय ज्ञान का मूल हेतु होने के कारण वस्तुओं का प्राथमिक ज्ञान कराती है। इन्द्रियों के माध्यम से मनुष्य को जो कुछ बोध होता है उसे यही शक्ति व्यवस्थित रूप प्रदान करती है। जैसे- मनुष्य ने अपनी आँखों की सहायता से किसी वस्तु के आकार अथवा रूप का बोध प्राप्त किया, हाथ से स्पर्श करके उसकी कठोरता अथवा कोमलता का अनुभव किया, नाक से सूँघकर उसकी गंध प्राप्त की, चेतन हैं तो कान से उसके स्वर का भान किया। इन विभिन्न बोधों को व्यवस्था देकर उस वस्तु का समग्र ज्ञान कल्पना ही कराती है। इन्द्रियबोध को व्यवस्था देकर वस्तु का ज्ञान प्राप्त कराने वाली इस शक्ति को कॉलरिज ने

प्राथमिक कल्पना की संज्ञा प्रदान की है। कॉलरिज के शब्दों में - "The Primary imagination presents to the mind its own world as external to itself."

इस प्रकार प्राथमिक कल्पना मनुष्यों को ज्ञान प्राप्त कराती है और अव्यय-स्थित इन्द्रिय बोधों को व्यवस्थित रूप प्रदान करती है।

(ख) **विशिष्ट कल्पना या अनुषंगी कल्पना**- विशिष्ट कल्पना, प्राथमिक कल्पना का सजग मानवीय प्रयोग है। इसमें इच्छा की सजगता से कार्य होता है। अतः कहा जाता है कि विशिष्ट कल्पना प्राथमिक कल्पना का ही विकसित रूप है जिसका प्रयोग सर्जक स्वेच्छा से करता है। दोनों कल्पनाओं में कोई मौलिक भेद नहीं है। मात्र रूप का भेद है, स्तर का अन्तर है।

विशिष्ट कल्पना एक संयुक्त आत्मिक ऊर्जा है, जिसमें मनःशक्ति अथवा आत्मशक्ति के अन्य सभी पहलू-प्रत्यक्ष ज्ञान शक्ति , विचार शक्ति, संकल्प शक्ति, मनोवेग आदि सभी समाहित हो जाते हैं। डा० बी. प्रसाद का कथन सत्य है- "It (Secondary imagination) is a composite faculty of the soul, consisting all other faculties, perception, intellect, with emotion, while the primary imagination uses only the first - perception it employs all." (All introduction to English Criticism).

इस प्रकार विशिष्ट कल्पना का कार्य द श्यमान प्रक ति को अपनी अन्तरात्मा के अनुरूप ढालना है।

इस प्रकार विशिष्ट कल्पना 'नव आकार देने वाली और रूपान्तरित करने वाली शक्ति है।'

कल्पना और फैन्सी

कॉलरिज से पूर्व कल्पना और फैन्सी (ललित कल्पना) में कोई भेद नहीं माना जाता था। इन शब्दों को प्रायः पर्यायवाची माना जाता था। अन्तर केवल इतना था कि कल्पना शब्द का उद्गम लैटिन भाषा से था और फैन्सी शब्द का ग्रीक भाषा से। कॉलरिज ने इस पर्यायवाची प्रव त्ति का विरोध किया।

कॉलरिज के अनुसार ललित कल्पना (फैन्सी) मात्र संकलन और संयोजन करने वाली शक्ति है। इनमें मनमानापन, यांत्रिकता एवं निर्जीवता होती है। कल्पना रचनात्मक एकत्रीकरण प्रतिभा तथा सौन्दर्योत्पादक शक्ति है।

फैन्सी का सम्बन्ध केवल मस्तिष्क से होता है जबकि कल्पना का सम्बन्ध आत्मा व मन से होता है। इस प्रकार 'फैन्सी' वस्तुतः स्म ति का एक ढंग है जिसमें समय और स्थान का कोई क्रम नहीं है।

कल्पना प्रतिभा से सम्बन्धित है जो नैसर्गिक होती है और फैन्सी (ललित कल्पना) निपुणता से सम्बन्धित है जो अर्जित की जा सकती है। कॉलरिज का फैन्सी विषयक यही द ष्टिकोण हैं।

कल्पना और काव्य

कल्पना कवि का अनिवार्य गुण है। विशिष्ट कल्पना के क्षणों में वह काव्य की ऊँचाई पर, अपने आदर्श के निकटतम पहुँच जाता है। कल्पना का प्रयोग कवि अपने उत्कर्ष के क्षणों में ही कर पाता है जबकि आत्मा की दैवी शक्ति अपनी पराकाष्ठा पर होती है।

कॉलरिज के अनुसार कल्पना एक समन्वयकारी शक्ति है जो वस्तुओं के विभिन्न पक्षों के एक संश्लिष्ट अन्विति के रूप में ढालती है। इसमें काव्य में पुनः स जन होता है। विभिन्न भावों के एकीकरण की

प्रक्रिया में विसवादी गुणों का सामंजस्य एवं संतुलन भी कल्पना ही करती है। वे विसवादी गुण निम्न प्रकार हैं-

(1) अत्यधिक क्रम के साथ अत्यधिक भावना।

(2) पुरातन एवं परिचित वस्तुओं में नवीनता और ताजगी की भावना।

(3) प्रक ति को चिन्तन एवं चिन्तन को प्रक ति बनाना तथा बाह्य को आन्तरिक एवं आन्तरिक को बाह्य बनाना।

प्रमुख पाश्चात्य चिन्तक और उनके सिद्धान्त

(4) साम्य के साथ अन्तर।

(5) यथार्थ वस्तु में कल्पना के मेल के साथ सत्य।

(6) निरन्तर को क्षण में बदलना।

उपर्युक्त विसवादी गुणों की परिधि में सभी प्रकार की विरोधी बातें आ जाती हैं जिनकी कल्पना समंजन करती है।

काव्य सम्बन्धी विचार

कॉलरिज के अनुसार काव्य, रचना का वह प्रकार है जो विज्ञान की क तियों से इसलिए भिन्न होता है कि उसका तत्काल लक्ष्य सत्य है जो विज्ञान की कृतियों से इसलिए भिन्न होता है कि उसका आनन्द सम्पूर्ण कृति से उत्पन्न होता है तथा वह आनन्द क ति के प्रत्येक अवयव के द्वारा प्राप्त संतुष्टि के मेल में होता है। (बायोग्राफिया लिटरेरिया, प ० 11)

इस प्रकार -

- काव्य का तात्कालिक लक्ष्य आनन्द प्रदान करना है।
- काव्य का आनन्द सम्पूर्ण कृति से मिलता है।
- काव्य का मुख्य लक्ष्य आनन्द है और लक्ष्य गौण है।

कॉलरिज ने काव्य और कविता को भिन्न कार्यों में प्रयुक्त किया है। उनके अनुसार काव्य शब्द अति व्यापक है और उसके अन्दर सभी कलाओं तथा मानव-कृतियों का समाहार हो जाता है।

कॉलरिज ने अच्छी कविता की विशेषताओं की ओर भी संकेत किया है। समंजित रूप में ये विशेषताएँ इस प्रकार हैं-

- अच्छी कविता सौन्दर्य के माध्यम से तात्कालिक आनन्दोद्रेक के लिए भावों को उद्वेलित करता है।
- अच्छी कविता मनुष्य की सम्पूर्ण आत्मा को सक्रिय और गतिमान बनाती है।
- अच्छी कविता में बुद्धि और हृदय का समन्वय होता है।
- अच्छी कविता में परिश्रम-साध्य विचारावली, अभ्यास-सम्भव काव्य शैली और भाव की अन्तर्धारा का प्रवाह होना आवश्यक है।
- अच्छी कविता सम्पूर्णता, निरन्तरता एवं नागिक ऐक्य के द्वारा सौन्दर्य का उत्पादन करती है।

कलाविषयक द ष्टिकोण

कॉलरिज के अनुसार कला बाह्य प्रक ति की मात्र अभिव्यक्ति ही नहीं है, वरन् कलागत अभिव्यक्ति प्रकृति की पवित्रता की अभिव्यक्ति है, एक ऐसी अभिव्यक्ति है जिसका कि सम्बन्ध मानव-प्रक ति अथवा आत्मा से होता है। उनका मत है- The very spirit of nature, which presupposes a bond between nature in the higher sense and the soul of man." (Biographia Literaria, Vol. II, P.257) अर्थात् (कला) प्रकृति की पवित्रात्मा की अभिव्यक्ति है जिसमें प्रकृति और मानवात्मा में एक बँधन की अपेक्षा की जाती है।

महत्त्व

कॉलरिज ने दर्शन और काव्य का सम्बन्ध स्थापित करते हुए अपने काव्य-सिद्धान्तों को प्रतिस्थापित किया है। उनका काव्य-समस्याओं के प्रति जो द ष्टिकोण था, वह साहित्यिक कम और मनोवैज्ञानिक अधिक है। उनकी कल्पना सम्बन्धी धारणा दर्शनोत्मुख अधिक है। वास्तव में कल्पना को उन्होने रोमांटिक काव्यधारा के अनुसार ही विश्लेषित किया है।

वस्तुतः कॉलरिज एक उच्चकोटि के कवि और गम्भीर चिन्तक थे। उनकी आलोचना उनके कवि व्यक्तित्व और चिन्तक व्यक्तित्व के समन्वित प्रयास की परिणति है जार्ज सेन्टसबरी उन्हें विश्व के महानतम आलोचकों में एक मानते हैं। "He might be called ..... one of the very greatest critics of the world." (A History of English criticism, P.316)

14. मैथ्यू आर्नल्ड - आलोचना का स्वरूप और कार्य

मैथ्यू आर्नल्ड महान् आधुनिक आलोचक है, क्योंकि आधुनिक अँग्रेजी आलोचना का प्रारम्भ इन्हीं से माना जाता है। यद्यपि इनका साहित्यिक जीवन काव्य रचना से हुआ है, फिर भी स्वभाव और कर्म दोनों से वह पहले आलोचक हैं, बाद में कवि।

आर्नल्ड का मत है कि साहित्य और उसकी समस्याएँ जीवन की समस्याओं से अविच्छिन्न है। अतः साहित्य का मूल्यांकन जीवन के संदर्भ में होना चाहिए तथा उसे पूर्ण सांस्क तिकता के साथ स्थापित करना चाहिए। वस्तुतः कवि की महानता इस बात में है कि उसके साहित्य ने युग की साहित्यिक और सामाजिक आवश्यकताओं को किस सीमा तक पूरा किया है।

मैथ्यू आर्नल्ड ने प्रत्येक क्षेत्र में पूर्णता को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है। उनके अनुसार संस्क ति पूर्णता का ही दूसरा नाम है और काव्य संस्क ति का अन्यतम साधन है। उन्होंने काव्य में स्वच्छन्दतावादी (रोमांटिक) मान्यताओं का खण्डन किया है और प्राचीन आभिजात्यवादी सिद्धान्तों की पुनः स्थापना पर बल दिया है। यूनान के काव्यशास्त्रियों में अरस्तू उनके आदर्श थे और होमर के महाकाव्य तथा यूनानी नाटककारों के दुखान्त नाटक उनके साहित्यिक प्रतिमान के निर्धारक थे। आर्नल्ड एक ऐसी सीमा-रेखा पर खड़े दिखाई देते हैं जो प्राचीन और नवीन तथा परम्परा और आधुनिकता की केन्द्र-बिन्दु है। उन्होंने काव्य में सरलता, स्वाभाविकता आदि अभिजात गुणों का समर्थन किया है और उनका प्रयोग काव्य में नहीं, आलोचना में भी किया है।

काव्य सम्बन्धी विचार

आर्नल्ड की साहित्य-समीक्षा उनकी सामाजिक एवं सांस्क तिक समीक्षा का ही अंग है। आर्नल्ड अपने साहित्य में नैतिक और आत्मिक मूल्यों के हास के प्रति चिंतित थे। वह मध्यम और निर्धन वर्ग को अराजकता से बचाकर सुसंस्क त बनाना चाहते थे। इस कार्य के लिए वह काव्य को अत्यन्त शक्तिशाली साधन मानते थे। आर्नल्ड की द ष्टि में काव्य का स्वतन्त्र उद्देश्य जहाँ आनन्द प्रदान करता है वहीं वह सांस्क तिक उत्थान का माध्यम भी है। इस द ष्टि से आर्नल्ड के विचार अरस्तू के समान है। काव्य की परिभाषा देते हुए आर्नल्ड ने कहा है- A Criticism of life under conditions fined for such a criticism by the laws of poetic truth and poetic beauty." अर्थात् ''काव्य जीवन की आलोचना है और यह आलोचना काव्य-सत्य एवं काव्य-सौन्दर्य के नियमों द्वारा निर्धारित परिस्थितियों में होती है।'' इस प्रकार आर्नल्ड काव्य और जीवन के वास्तविक अनुभवों में गहन सम्बन्ध मानता है। किन्तु यहाँ प्रश्न उठता है कि जीवन के इस वास्तविक अनुभव को काव्य में कैसे व्यक्त किया जाए? आर्नल्ड का अभिमत है कि यह कार्य अरस्तू के अनुकरण सिद्धान्त के समान सिद्ध होता है। जीवन की आलोचना का अर्थ जीवन का ऐसा प्रस्तुतीकरण है जिसमें वस्तुओं की गहन एवं सार्वभौम महत्ता साकार हो उठती है।

आलोचना क्या है

मैथ्यू आर्नल्ड ने साहित्य के मूल रूप में 'जीवन की आलोचना' माना है। आलोचना की परिभाषा देते हुए उन्होंने कहा है- "A disinterested endeavour to learn and propagate the best that is known and thought in the world and thus to establish a current of fresh and true ideas." अर्थात् समीक्षा संसार में जो भी उत्तम ज्ञान और चिन्तन है उसके अधिनियम एवं प्रचार का और इस प्रकार ताजा और सच्चे विचारों के प्रभाव के संस्थापन का निस्संग प्रयास है। आलोचक का प्रधान कार्य रचनात्मक क्रियाशीलता के लिए ऐसा वातावरण निर्माण करना है जिसमें सर्वोत्तम विचारों को मानव तक पहुँचाने की क्षमता रखने वाले साहित्य का निर्माण सम्भव है।

मैथ्यू आर्नल्ड आलोचक का निष्पक्ष होना आवश्यक मानते हैं। यह तभी सम्भव है जब आलोचक वस्तुओं की व्यावहारिकता से दूर रहते हुए द ढ़तापूर्वक अपने नैसर्गिक नियमों का अनुकरण करता है। बहुत से लोग अपने विचारों पर कोई गूढ़, राजनीतिक अथवा व्यावहारिक रंग चढ़ा देते हैं, लेकिन आलोचक को इससे कोई लेना-देना नहीं। आलोचक का इतना कार्य है कि जो बातें संसार में सर्वोत्क ष्ट रूप में प्रसिद्ध है अथवा सर्वोत्क ष्ट मानी जाती है उन्हें समझना और समझकर उनका प्रचार करना जिससे वास्तविक और अभिनव विचारों का प्रचार हो सके। परन्तु इस कार्य में निष्पक्षता और योग्यता की अपेक्षा अधिक रहती है।

इस प्रकार आर्नल्ड ने 'निष्पक्षता' शब्द को अपने मन एवं विचारों के अनुरूप अर्थ दिया है, जो युग-सापेक्ष है। उसमें असत्य, अर्द्ध-सत्य, एकांगी जीवन के अवरोधों से तटस्थ होकर सांस्क तिक पूर्णता को आधार मानकर किया जाने वाला मूल्यांकन है। उसे पूर्वाग्रह ही समझा जा सकता है।

समीक्षात्मक शक्ति की प्रमुखता

आर्नल्ड ने सार्वजनिक शक्ति की अपेक्षा समीक्षात्मक शक्ति को महत्त्व दिया है, जबकि वर्ड्सवर्थ ने समीक्षात्मक शक्ति को अत्यधिक निम्न कोटि का बताया है। लेकिन क्या यह सच है कि समीक्षा वास्तव में हानिकारक और विध्वंसक होती है? क्या यह सही है कि किसी मौलिक रचना की अपेक्षा दूसरों की रचनाओं पर समीक्षा प्रस्तुत करना अधिक प्रशस्त है? यह ठीक है कि इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि स जनात्मक शक्ति मनुष्य का सर्वोत्क ष्ट व्यापार है, क्योंकि इसमें सच्चे आनन्द की प्राप्ति होती है। लेकिन यह कथन भी ठीक नहीं कि समीक्षा स जनात्मक शक्ति का कार्य नहीं है।

मैथ्यू आर्नल्ड साहित्य की स ष्टि के लिए दो प्रकार की शक्तियों को स्वीकार करते हैं- एक मानव की शक्ति, जिसे स जनात्मक शक्ति कह सकते हैं तथा दूसरी समय या क्षण की शक्ति (Power of Moment) इसके अभाव में मनुष्य की शक्ति अपर्याप्त रहती है। समीक्षात्मक शक्ति की सहायता से ही कला, दर्शन और इतिहास आदि के द्वारा किसी वस्तु का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

कला का उद्देश्य

मैथ्यू आर्नल्ड कला को आनन्द के चरणों में समर्पित मानता है। उनके अनुसार वास्तविक कला वही है जो परम आनन्द की स ष्टि करे- "The right art is that alone which creates the highest enjoyment." अतः मानव को कैसे सुखी बनाया जाए? इससे गम्भीरतर कोई समस्या नहीं है। मैथिलीशरण गुप्त के शब्दों में-

''केवल मनोरंजन ही न, कवि का कर्म होना चाहिए।
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए।।

इसलिए आर्नल्ड के अनुसार, ''त्रासदी में, जिसका उद्देश्य आनन्द की स ष्टि करना है, पात्रों को निरन्तर

कष्ट सहन करते हुए ही नहीं दिखाना चाहिए अपितु उन्हें आपत्ति का प्रतिरोध करते हुए तथा संघर्ष में संलग्न भी दिखाना चाहिए।'' यदि वेदना की कार्य में परिणति नहीं होगी तो उससे अब पैदा करने वाली विक त स्थिति उत्पन्न होगी, जो काव्य के लिए उचित नहीं है। इस द ष्टि से मैथ्यू आर्नल्ड शिलर के विचारों के ऋणी हैं।

काव्य में विषय और उसके चयन का महत्त्व

मैथ्यू आर्नल्ड की मान्यता है कि कवि को ऐसे उत्क ष्ट विषय का चयन करना चाहिए जो स्वयं में रमणीय हो, जिससे प्रस्तुतीकरण में मानवीय स्थायी भावों का सशक्त स्पर्श करके पाठकों को प्रेरणा दी जा सके, क्योंकि समस्त महत्त्व कार्य, उसके चयन एवं निर्माण का है। प्रश्न उठता है कि काव्य के शाश्वत विषय क्या हैं? आर्नल्ड का मत है, ''मानव के कार्य-व्यापार'' उनका कथन है कि ''सब कुछ विषय पर निर्भर है। उपुर्यक्त कार्य चुन लो। उसकी स्थितियों के मूल में निहित भावना से तादात्म्य स्थापित कर लो। यदि वह हो गया तो अन्य प्रत्येक बात अपने आप हो जाएगी।'' All depends upon the subject, choose a fitting action. Penerate yourself with feeling of it's situations, this done, every thing else will follow." प्रश्न उठता है कि जब ड्राइडन ने इनसे सौ वर्ष पूर्व कथानक के महत्त्व का निषेध कर चरित्र और शैली के महत्त्व की स्थापना की तो आर्नल्ड कथानक को क्यों अतिशय महत्त्व देते हैं? उत्तर स्वरूप कहा जा सकता है कि आर्नल्ड की द ष्टि मात्र काव्य तक सीमित न होकर समकालीन समस्याओं के समाधान के विचार पर आध त है। इस दिशाहीनता तनाव, संघर्ष की अवस्था में कवि मानव-मूल्यों के निर्माण में अपना योगदान दे सकता है क्योंकि जो सामाजिक सुधार कविता द्वारा सम्भव है वह प्रगीत द्वारा नहीं, उसके लिए कार्य-व्यापार को अपरिहार्य के रूप में महत्त्व देना पड़ेगा।

मैथ्यू आर्नल्ड कार्य-व्यापार द्वारा मानव-स्वभाव के शाश्वत भावों और अनुभूतियों के उद्बोधन की घोषणा करते हैं, जो आचार्य शुक्ल के विचारों के निकट है। आचार्य शुक्ल भी 'कविता क्या है?' निबन्ध में मूल रूप से और मूल व्यापार की प्रतिष्ठा करते हैं। अन्तर केवल इतना है कि जहाँ आर्नल्ड प्राचीन काव्य-परम्परा के महत्त्व पर बल देते हैं, वहाँ आचार्य शुक्ल समकालीन कार्य-व्यापारों पर उतना ही बल देकर संतुलन उपस्थित करते हैं।

अब समस्या यह है कि काव्य का यह विषय किस युग से चुना जाए? आर्नल्ड का मत है कि कवि मानव की मूल अनुभूतियों को छू सकने वाली 'वस्तु' का चयन कहीं से भी एवं किसी भी युग से कर सकता है, किन्तु इसके लिए 'वर्तमान' की अपेक्षा 'अतीत' अधिक उपयुक्त है- "A great human action of a thousand years ago is more interesting to it than a smaller human action of today." वस्तुतः आर्नल्ड यह मानते हैं कि समकालीन जीवन से श्रेष्ठ कार्य व्यापार की उपलब्धि सम्भव नहीं है। उनकी मान्यता है कि समकालीन विघटन और अराजकता भरे युग से उत्क ष्ट कार्य-व्यापार प्राप्ति सम्भव नहीं है।

किन्तु आर्नल्ड के उपरान्त काव्य, कला और साहित्य का जो विकास हुआ है वह इस बात का प्रमाण है कि समकालीन जीवन से विषय ग्रहण करके भी उत्कृष्ट काव्य का निर्माण सम्भव है। नाटक के क्षेत्र में जार्ज बर्नाड शॉ, उपन्यास में जोला तथा नई कविता के विकास में आर्नल्ड के इस मत को असत्य सिद्ध कर दिया है।

काव्य में नैतिकता

मैथ्यू आर्नल्ड काव्य के उद्देश्य में मानवतावादी हैं। वे काल को मानव-जीवन के उत्थान का एक साधन मानते हैं। यह उत्थान काव्य में नीति-तत्त्व के समावेश से भी सम्भव है। काव्य की सम्पूर्ण विशेषताओं

के मध्य नीति-तत्त्व पाठकों का आनन्द का आस्वादन कराने के साथ ही नैतिक उत्थान का सन्देश भी दे सके। इसी प्रकार का काव्य लोक-कल्याणकारी हो सकता है। उनके अनुसार नीतियुक्त जीवन की अभिव्यक्ति ही काव्य है। उनका कथन है-"The best Poetry will be found to have a power of forming and delighting us as nothing else can." अर्थात् सर्वोत्तम कविता वह है जिसमें हमारे निर्माण और आनन्द प्रदान करने की ऐसी शक्ति हो जो अन्य में नहीं हो सकती। अतः आर्नल्ड की मान्यता के अनुसार, ''जिस काव्य में नीति के विरुद्ध विद्रोह है उसमें जीवन के विरुद्ध विद्रोह है और जो काव्य नीति के प्रति उदासीन है, वह जीवन के प्रति भी उदासीन है।'' उनके इस कथन से स्पष्ट है कि वे नीतियुक्त जीवन को ही जीवन मानते हैं और काव्य इसी जीवन का प्रतिबिम्ब है।

निष्कर्ष

मैथ्यू आर्नल्ड का समग्र चिन्तन और आलोचना सम्बन्धी विचार जीवन में एकांगिता के स्थान पर पूर्णता एवं सन्तुलन को स्थापित करने में संलग्न है। इस प्रव त्ति से उनके चिन्तन में दुर्बलता भी प्रविष्ट हुई है। जैसे सर्जना को द्वितीय श्रेणी का साहित्य मानना, समकालीन जीवन की अपेक्षा प्राचीन काव्यों के काव्य-स जन का आधार मानना आदि।

इतना होने पर भी आर्नल्ड का महत्त्व असंदिग्ध है। मैथ्यू आर्नल्ड का प्रभाव काफी समय तक पाश्चात्य आलोचना-जगत पर छाया रहा है। जैसे ड्राइडन के समय में अरस्तू को प्रमाण माना जाता था वैसे ही 19वीं सदी में आर्नल्ड को माना जाता रहा है।

15. टी.एस. इलियट-निर्वैयक्तिकता का सिद्धान्त

टी.एस. इलियट-काव्य के स ष्टा और आलोचक दोनों ही रूपों में आधुनिक अँग्रेजी साहित्य में विख्यात हैं। उनके काव्य और चिन्तन में एकरूपता मिलती है। अपने आलोचनात्मक निबन्धों में उन्होंने जिन काव्यगत विशेषताओं और सिद्धान्तों का उल्लेख किया है, उन्हीं को उन्होंने अपने काव्य में व्यावहारिक रूप प्रदान किया है। इसी प्रकार उनके इतिहास और संस्क ति सम्बन्धी विचार उनकी कविता और आलोचना से ध्वनित हुए हैं। इलियट ने साहित्य में चले आ रहे स्वच्छन्दतावाद के दीर्घकालीन आधिपत्य को अस्वीकार करते हुए क्लासिकल मत का प्रतिपादन किया तथा कला के मूर्त्तरूप को विशेष महत्त्व देते हुए कला को कलाकार का आत्म-प्रकाशन मात्र मानने वाले सभी सिद्धान्तों की विस्त त आलोचना की।

क्लासिक क्या है?

इलियट ने स्वयं घोषित किया है कि उनका साहित्यिक द ष्टिकोण मूलतः क्लासिकल या आभिजात्यवादी है। अभिजात का अभिप्राय है प्रौढ़ता या परिपक्वता। अभिजात कृति का अर्थ हुआ प्रौढ या श्रेष्ठ कृति। इलियट का कथन है कि 'क्लासिक' की स ष्टि तभी सम्भव है जबकि सभ्यता परिपक्व हो, भाषा और साहित्य प्रौढ हो और प्रौढ मस्तिष्क की रचना हो। इस द ष्टि से साहित्य की प्रौढता का अभिप्राय है तत्कालीन समाज का प्रतिबिम्ब, जिसमें साहित्य का स जन हुआ है।

इलियट ने अभिजात साहित्य की रचना के लिए तीन गुणों की आवश्यकता पर बल दिया है - मस्तिष्क की प्रौढ़ता, शील की प्रौढ़ता तथा भाषा की प्रौढ़ता इन तीनों के समन्वित रूप को ही वे 'साहित्यिक प्रौढ़ता' कहते हैं। तथा तीनों की समन्वित शक्ति अभिजात्य साहित्य की द ष्टि करती है।

इलियट के अनुसार प्रौढ़ मस्तिष्क की प्राप्ति के लिए कवि को सभ्य जातियों के सांस्क तिक विकास और सभ्यता के इतिहास का अध्ययन करना चाहिए अर्थात् उसे अतीत का पूर्ण ज्ञान प्राप्त होना चाहिए। शील की प्रौढ़ता से तात्पर्य चरित्र निर्माण से है। इसके अनुसार- "When the great poet is also great classic poet, he exhausts not a form, but the language of his time." अर्थात् महाकवि एक विद्या का चरम विकास करता है। जबकि अभिजात कवि न केवल विद्या का, वरन् अपने काल की भाषा का भी चरम विकास कर उसकी सम्भावना का अन्त कर देता है।

परम्परा का सिद्धान्त

इलियट ने अपने प्रसिद्ध निबन्ध 'परम्परा और वैयक्तिक प्रतिभा' में स्पष्ट किया है कि काव्य-रचना में परम्परा का प्रमुख स्थान है और कवि की प्रतिभा केवल मध्यस्थ रूप में उसी को काव्य में प्रतिफलित होने से सहायता करती है। उन्होंने कलाकार के लिए जातीय परम्परा और ऐतिहासिक बोध की आवश्यकता पर भी बल दिया है। परम्परा को परिभाषित करते हुए इलियट ने कहा है- "Tradition is not solely, or even primarily the maintenance of certain domatic beliefs; these beliefs have come to take their living from in the course of the formation of a tradition. What I mean by tradition involves all these habitual actions, habits and customs, from the most significant

religious rites to our conventional way of greeting a stranger which represent the blood bioship of the same people living in the same place." अर्थात् परम्परा पूर्णतः या प्रधानतः भी कुछ मतांध-विश्वासों का परीक्षण नहीं है। ये विश्वास परम्परा के निर्माण क्रम में रूप ग्रहण करते हैं। परम्परा से वे सभी क्रियाएँ, प्रथाएँ, आचार अभिप्रत है, जिनमें महत्त्वपूर्ण धार्मिक क त्यों से लेकर किसी अपरिचित के अभिप्रत है, जिनमें महत्त्वपूर्ण धार्मिक क त्यों से लेकर किसी के अभिवादन की औपचारिक रीति तक सम्मिलित है और जो एक ही स्थान में रहने वाले समुदाय के लोगों के रक्त-सम्बन्ध को व्यक्त करते हैं।

इस प्रकार परम्परा का यहाँ व्यापक अर्थ में प्रयोग किया गया है। इलियट की द ष्टि में परम्परा संस्क ति का वह अंश है जो अतीत के दाय के रूप में प्राप्त होकर वर्तमान का निर्माण करती है और भविष्य परस्पर सम्बद्ध है।

जहाँ तक वैयक्तिक प्रज्ञा का सम्बन्ध है, वह परम्परा से निरपेक्ष नहीं है। परम्परा से जुड़कर ही कवि अपनी वैयक्तिक क्षमता को अधिक सरलता से व्यक्त कर सकता है। तुलसी के सामने राम काव्य की दीर्घ श ंखला थी, जिससे उन्होंने बहुत कुछ लिया किन्तु इससे उनके काव्योत्कर्ष पर कोई आँच नहीं आई। प्रसाद जी कामायनी में प्रागैतिहासिक युग से लेकर आधुनिक युग तक की भारतीय मनीषा का उत्तमांश प्रतिफलित है, किन्तु फिर भी वह आधुनिक श्रेष्ठ काव्य है। अतः वैयक्तिक प्रज्ञा के प्रस्फुटन में परम्परा श्रेष्ठ है।

इलियट के अनुसार कवि के लिए अतीत की चेतना को विकसित या उपलब्ध करना आवश्यक है। इतना ही नहीं उसे इस चेतना को आजीवन विकसित करते रहना है।

कला की निर्वैयक्तिकता

इलियट ने आत्मनिष्ठ वैयक्तिक साहित्य के स्थान से वस्तुनिष्ठ अथवा निर्वैयक्तिक साहित्य की प्रतिष्ठा की और कला की सार्वभौमिकता का प्रतिपादन किया। उनके अनुसार कवि के लिए अतीत की चेतना को विकसित करना आवश्यक है। उसे इस चेतना को आजीवन विकसित करते रहना है। कलाकार की प्रगति सतत आत्मोत्सर्ग है। जो उसके व्यक्तित्व का सतत पलायन या तिरोधान है। The progress of an artist is a continial self-sacrifice, a continual extinction of personality." निर्वैयक्तिकता की स्थिति में कला विज्ञान के निकट पहुँच जाती है।

निर्वैयक्तिकता के सिद्धान्त का एक पक्ष है। कवि और कविता का सम्बन्ध इलियट ने कवि व्यक्तित्व को एक ऐसे माध्यम के रूप में प्रस्तुत किया है जिसमें विशिष्ट या विधि संवेदन स्वच्छन्दतापूर्वक नए रूप में संयोजित हो सकते हैं। इसके लिए उन्होंने एक उत्प्रेरक का द ष्टान्त दिया है। जैसे आक्सीजन और सल्फर डाई-ऑक्साइड के कक्ष में यदि प्लेटिनम का सूक्ष्म तार रखा जाए तो उससे सल्फ्यूरिक एसिड बन जाते हैं। यह परिवर्तन प्लेटिनम के रहने पर ही होता है। किन्तु नवीन सल्फ्यूरिक एसिड में न तो प्लेटिनम का चिह्न दिखाई देता है और न प्लेटिनम पर पूर्वोक्त दोनों पदार्थों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। बल्कि प्लेटिनम ज्यों-का-त्यों निष्क्रिय तटस्थ और अपरिवर्तित रहता है।

कवि का मस्तिष्क प्लेटिनम के तार के समान है। उसके सम्पर्क से विभिन्न अनुभूतियाँ संवेदन या भाव नये-नये रूप धारण किया करते हैं। किन्तु वह स्वयं उनसे अप्रभावित रहता है। कलाकार जितना कुशल होता है उसके भोक्ता व्यक्ति तथा स ष्टा मन का अन्तर उतना ही स्पष्ट होता है। The more perfect the artist, the more completely separate in him will be the man who suffers and the mind which creates. अर्थात् कवि के स्वानुभूत संवेदनों और भावों से काव्य में अभिव्यक्त संवेदन और भाव सर्वथा भिन्न होते हैं। इसके विपरीत, अप्रौढ़ कवि अपने ही भावों को वाणी देने का प्रयास करता है, जिससे उसका काव्य घटिया हो जाता है।

वस्तुनिष्ठ समीकरण या मूर्त्त-विधान

कवि की भाव सम्पदा को भावक के मन में यथावत् कैसे उतारा जाए अथवा अमूर्त भाव को भावक तक कैसे पहुँचाया जाए? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए इलियट ने मूर्त विधान या वस्तुनिष्ठ समीकरण का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। अमूर्त का सम्प्रेषण नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में किसी मूर्त वस्तु की सहायता से अमूर्त को संप्रेषित किया जाए। इस द ष्टि से कला के रूप में भाव को अभिव्यक्त करने का माध्यम है- वस्तु-समुदाय , परिस्थिति, घटना-श ंखला का प्रस्तुतीकरण। इससे लेखक और पाठक के मध्य सम्पर्क स्थापित होता है। लेखक जो कुछ कहना चाहता है वह विषय वस्तु का रूप धारण कर लेता है। विषय-वस्तु के इसी आकार और स्वरूप के साथ समीक्षा का सम्बन्ध रहता है।

इलियट ने लिखा है- "The only way of expressing emotion in the form of art is by finding an objective correlative in other words, a set objects, a situation, a chain of events which shall be the formula of that particular emotion, such that when the external facts ..... are given the emotion is immediately evoked."

''संवेगों और भावों को कला में अभिव्यक्त करने का एकमात्र ढंग है- वस्तुनिष्ठ समीकरण की प्राप्ति। दूसरे शब्दों में, वस्तुओं, स्थितियों और घटनाओं की श ंखला को इस ढंग से संयोजित करना कि वे विशिष्ट संवेगों से सम्बद्ध होकर अभिव्यक्त हो सकें।''

समीक्षा का उद्देश्य

इलियट ने कई प्रकार के आलोचना के उद्देश्यों का निरूपण किया है। उसके अनुसार ''लिखित शब्दों द्वारा किसी कलाक ति की व्याख्या और उसका प्रतिपादन समीक्षा है। इसी प्रकार समीक्षा का मूल तत्त्व हैं- अच्छी कविता के चयन की ओर बुरी कविता के त्याग की क्षमता। "The rudiment of criticism is the ability to select a good poem and reject a bad poem."

आलोचना के उद्देश्यों पर इलियट का अभिमत है कि आलोचना की द ष्टि सदा उद्देश्य पर रहनी चाहिए। स्थूल रूप से उसके दो उद्देश्य हैं- कलाकृतियों का विशदन और रुचि का परिष्कार। इसके अतिरिक्त साहित्य का बोध और आस्वाद भी उसके उद्देश्य हैं। निष्कर्षतः इलियट की द ष्टि में आलोचना के निम्नलिखित कार्य हैं-

(1) काव्य के स्वरूप का अनुसंधान।

(2) साहित्य और जीवन्त-परम्परा का रक्षण।

(3) अच्छे-बुरे काव्य का भेद-निरूपण।

(4) रचनाओं का विशदन।

(5) रुचि का परिष्कार।

(6) साहित्य के बोध और आस्वाद का संवर्धन।

इलियट की समीक्षा पद्धति

इलियट के प्रभाव के कारण पश्चिम की नई समीक्षा में नई प्रव त्तियों का आविर्भाव हुआ है। इलियट अभिजात-वर्ग में पैदा हुआ था, धर्म और दर्शन का भी उसने गम्भीर अध्ययन किया था। इसका यह परिणाम हुआ कि संवेदनात्मक स्थितियों की अभिव्यक्ति के लिए उसने प्राचीन काव्य-भंगिमाओं का सहारा लिया। परम्परा का प्रगति के साथ मेल बैठाने का उसने प्रयत्न किया। अपनी रचनाओं में उसने

आधुनिक जगत् को निःसहाय, विश्वासहीन और संस्क तिविहीन चित्रित किया है। इससे छुटकारा पाने के लिए उसने धर्म का सहारा लिया है। साहित्यिक समीक्षा का आधार उसने एक निश्चित नैतिक और धर्म-विज्ञान सम्बन्धी द ष्टिकोण माना है।

इलियट ने रोमांसवादी और व्यक्तिवादी प्रव त्तियों के विरोध में क्लासिसिज्म को अपनाकर उसे एक नया सन्दर्भ देने का प्रयत्न किया। उसने काव्य-सर्जन को आत्माभिव्यक्ति न मानकर मनोभावों का पुनः स जन कहा है तथा कविता में व्यक्ति की अभिव्यंजना न मानकर व्यक्तित्व का तिरोधान स्वीकार किया है। इस प्रकार नाटक को निर्वैयक्तिकरण का सर्वश्रेष्ठ रूप स्वीकार किया गया है। यहाँ कला-वस्तु पर अधिक जोर देने के कारण मनोभावों (इमोशन्स) का महत्त्व कम हो गया है।

मैथ्यू आर्नल्ड की भाँति इलियट की आलोचना द ष्टि भी सर्वव्यापक थी। स्पष्टतः आन्तरिक असंगतियों के कारण इलियट की काव्य-सम्बन्धी मान्यताएँ स्पष्ट रूप में हमारे सामने न आ सकीं, फिर भी संसार उनके प्रभाव से अछूता न रहा।

मूल्यांकन

इलियट आधुनिक युग के न केवल सर्वश्रेष्ठ कवि हैं, बल्कि आलोचनात्मक व त्ति के समर्थ व्याख्याता भी हैं। उनकी क तियाँ व्यवस्था के प्रयोजन से प्रेरित हैं।

इतिहास-बोध और परम्परा की धारणाओं के अन्तर्गत अतीत के समग्र साहित्य को वर्तमान के लिए और दूसरे देशों के साहित्यों को किसी एक देश के लिए सार्थक तथा उपादेय मानना इलियट की प्रमुख देन है।

परम्परा की तरह काव्य भी निर्वैयक्तिकता का सिद्धान्त उनके लेखन में सर्वत्र व्याप्त हैं। रोमांटिक भावधारा की अतिवैयक्तिकता के फलस्वरूप उन्होंने अपना यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। वस्तुनिष्ठता भी इसका एक पक्ष है। काव्य और आलोचना दोनों में इलियट निर्वैयक्तिकता एवं वस्तुनिष्ठता के समर्थक हैं। वस्तुतः निर्वैयक्तिकता एवं वस्तुनिष्ठता आभिजात्यवादी धारणाएँ हैं जिन्हें ये साहित्य के लिए हितकर समझते हैं।

इलियट काव्यानुभूति को विशिष्ट अनुभूति मानते हैं, रिचर्ड्स की तरह सामान्य अनुभूति नहीं। पर्याय रूप में काव्यानन्द लौकिक आनन्द से विशिष्ट है। इस अंश में इलियट की मान्यता भारतीय काव्य शास्त्र की मान्यता के निकट है, जिसमें काव्यानन्द को अलौकिक माना गया है।

निःसंदेह कवि और आलोचक के रूप में इलियट को जो प्रसिद्धि मिली, वह अन्य किसी को अपने जीवन-काल में नहीं मिली।

16. आई०ए० रिचर्ड्सः संवेगों का संतुलन

आई.ए. रिचर्ड्स का आधुनिक युग में गौरवपूर्ण स्थान है। मुख्य रुप से उनका महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने कला के निरपेक्ष संसार पर आस्था रखने वाली, युग की विविध समीक्षा-पद्धतियों का युक्तियुक्त खण्डन करके आलोचना को वैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित किया। साथ ही मनोविज्ञान के आधार पर काव्य के भाव-पक्ष की व्याख्या करते हुए काव्य के मनोवैज्ञानिक मूल्य का सिद्धान्त प्रस्तुत किया।

मूल्य-सिद्धान्त

रिचर्ड्स ने इस बात पर विशेष बल दिया है कि सौन्दर्य, कला तथा जीवन का निकटतम सम्बन्ध है। इसी आधार पर उन्होंने अपने प्रमुख सिद्धान्तों की स्थापना की है। उन्होंने आलोचना के दो आधार स्तम्भ माने हैं- मूल्य का लेखा तथा सम्प्रेषण का लेखा।

जहाँ तक मूल्य की सामान्य परिभाषा का प्रश्न उठता है- मूल्य किसी वस्तु का वह धर्म (गुण) है जिसमें उसका परिशंसन अथवा रुचि निहित हो अर्थात् कोई वस्तु यदि हमें रुचिकर प्रतीत होती है या पसन्द आती है तो वह हमारे लिए मूल्यवान है। ऐसी रुचि का सम्बन्ध पहले अनुभूति से फिर इच्छा तथा प्रव त्ति से होता है। अर्थात् किसी वस्तु की इच्छा हुई और फिर उसे प्राप्त करने की प्रव त्ति हुई, प्राप्त होने पर रुचिकर अनुभूति हुई और वह हमारे लिए मूल्यवान बन गई। अतः मूल्य और अनुभूति पर्याय है। इनमें कोई भेद नहीं है। यही मूल्य की मनोवैज्ञानिक धारणा है। इसी आधार पर विकसित सिद्धान्त को मनोवैज्ञानिक मूल्य सिद्धान्त कहते हैं।

रिचर्ड्स ने अपने सिद्धान्त-निरूपण में जिस मनोविज्ञान का उपयोग किया है। वह मनोविज्ञान दो सर्वथा भिन्न शाखाओं का मिश्रण है- एक व्यवहारवादी मनोविज्ञान और दूसरा मनोविश्लेषण इनके मिले-जुले रूप पर ही उनकी आलोचना-पद्धति आश्रित है।

मूल्य की परिभाषा

'मूल्य' को परिभाषित करते हुए रिचर्ड्स ने कहा है-

(1) Anything is valuable which satisfies an appedency.

(2) Value as capacity for satisfying feelings and desire in various intricate ways.

(3) Anything is valuable which will satisfy as appetency without involving the frustration of some equal or more important appedency.

अर्थात्

(1) कोई भी वस्तु जो इच्छा को संतुष्ट करती है, मूल्यवान है।

(2) विभिन्न जटिल रूपों में भावना और इच्छा की संतुष्टि की क्षमता मूल्य है।

(3) ऐसी कोई भी वस्तु मूल्यवान है जो समान या अधिक महत्त्वपूर्ण इच्छा को बिना कुण्ठित किए किसी इच्छा को संतुष्ट करती है।

इन परिभाषाओं के अनुसार सबसे मूल्यवान वस्तु वह है जिसमें अधिकतम इच्छाओं की अधिकतम संतुष्टि हो। इस प्रकार रिचर्ड्स अधिक शक्तिशाली एषणा या इच्छा को महत्त्वपूर्ण मानते हैं।

II रागात्मक अर्थ

जिस प्रकार रस सिद्धान्त रागपरक सिद्धान्त है। उसी प्रकार रिचर्ड्स कविता का मूल्य उसकी रागात्मकता में मानते हैं। उनके अनुसार काव्यानुभूति का मूल्य पाठक के मन पर पड़े प्रभाव में है। ''मन आवेगों का तन्त्र है'' (The mind is a system of impulses) और ''आवेग वह प्रक्रिया है जिसमें कोई मानसिक घटना घटित होती है और उस प्रक्रिया का आरम्भ होता है किसी उद्दीपन से और अवसान होता है किसी कार्य में।''

अर्थात् आवेग मन की एक प्रकार की प्रतिक्रिया है, जो किसी उद्दीपन से उत्पन्न होकर किसी कार्य में परिणत हो जाती है। "An impulses is roughly, the mindes reponse to a stimulus - its stir from any cause."

रिचर्ड्स मानव के सम्पूर्ण आवेगों को दो प्रमुख कोटियों में विभाजित करते हैं-

(1) इच्छा या आसक्तिमूलक

(2) द्वेष या निव त्तिमूलक

इनमें इच्छा प्रव त्तिमूलक आवेग है, और द्वेष विरक्तिमूलक। इसलिए मनुष्य इच्छा की संतुष्टि के लिए जितना प्रयत्न करता है, उतना ही द्वेष की निव त्ति के लिए। क्योंकि एक की अनुभूति अनुकूल होती है और दूसरी की प्रतिकूल। रिचर्ड्स के अनुसार मूल्य का सम्बन्ध इच्छाओं की संतुष्टि से है और चूँकि कविता इच्छाओं और व त्तियों को संतुष्ट करती है, अतः मूल्यवान है। यह कविता और भी मूल्यवान है, जो ऐसी श्रेष्ठ आकांक्षाओं की संतुष्टि करे जिससे कम-से-कम व त्तियाँ क्षुब्ध होती हों।

जीवनगत और काव्यगत सामंजस्य

मनोवेगों का सामंजस्य तो जीवन में भी सिद्ध होता है, किन्तु काव्य के द्वारा जो सामंजस्य उत्पन्न होता है, वह अधिक जटिल और मूल्यवान होता है। काव्य की यह विशिष्टता है कि उसमें साधारण जीवन की सरल मनः स्थिति की तुलना में अधिक मानसिक संकुलता मिलती है। कलाकार की अनुभूति में ऐसे आवेगों का सामंजस्य मिलता है जो अधिकांश लोगों के मन में अस्त-व्यस्त, परस्पर अनुस्यूत एवं द्वन्द्वरत रहते हैं। अधिकांश लोगों के मन में अव्यवस्थित रूप से विद्यमान भावों को ही कलाकार की रचना व्यवस्था देती है।

मनोवेगों की निष्प्रयोजनता

मनोवेगों का सामंजस्य इस रूप में निष्प्रयोजन है कि वह कार्य में प्रेरित नहीं करता। रिचर्ड्स द्वारा निष्प्रयोजनता का यह उल्लेख काण्ट के 'निष्प्रयोजन आनन्द' की याद दिलाता है। किन्तु विवेचन के स्तर पर दोनों में अन्तर है। काण्ट का विवेचन दर्शन पर आधारित है, जबकि रिचर्ड्स के विवेचन का आधार मनोविज्ञान है। रिचर्ड्स ने मनोवेगों के संतुलन की अवस्था की तुलना उस खिलाड़ी से की है जो खेल में भाग लेने के लिए तैयार है। खिलाड़ी की सन्नद्धता का अभिप्राय है कि मानसिक संतुलन की यह स्थिति कर्म से विच्छिन्न नहीं है। उसमें कार्य में संस्कार विद्यमान रहते हैं। कर्म के प्रति आसक्ति होती है, किन्तु कर्म में प्रव त्ति नहीं होती।

काव्य का वर्गीकरण

रिचर्ड्स के अनुसार आवेगों की संतुष्टि मूल्य का ही आधार नहीं है, बल्कि काव्य के वर्गीकरण का

भी आधार है। आवेगों के सामंजस्य के आधार पर रिचर्ड्स काव्य के दो भेद करते हैं-

(1) अपवर्गी काव्य

(2) अन्तर्वेशी-काव्य

अपवर्गी-काव्य में अन्य आवेगों का अपवर्जन हो जाता है या एक ही आवेग रहता है या एक से अधिक हुए तो वे सजातीय होते हैं और विरोधी अपवर्जित हो जाते हैं। जहाँ विजातीय या विरोधी आवेगों का अन्तर्वेशन होता है, वहाँ विरोधी आवेगों के सामंजस्य द्वारा अनुभूति में व्यवस्था आती है। यह अन्तर्वेशी-काव्य है और अपवर्गी की अपेक्षा श्रेष्ठ है। अन्तर्वेशी-काव्य का सबसे बड़ा उदाहरण है-त्रासदी। जिसमें भय और करुणा जैसे विरोधी भावों का संश्लेषण पाया जाता है। हिन्दी में प्रगतिशील कविताओं को अन्तर्वेशी-काव्य के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

कला और नैतिकता

रिचर्ड्स ने कलागत मूल्य के विचार के सन्दर्भ में नैतिकता के प्रश्न पर भी विचार किया है। उन्होंने कला में नैतिकता को स्वीकार किया है, किन्तु वह प्रचलित और परम्परागत धारणा से प थक् है। उनके अनुसार नैतिकता की समस्या मूल्य की समस्या से भिन्न नहीं है। ''नैतिकता की समस्या अर्थात् जीवन से हम अधिकतम मूल्य कैसे प्राप्त करें, यह समस्या वस्तु-संघटन की समस्या बन जाती है। संघटन की यह समस्या व्यक्ति विशेष के जीवन से ही सम्बद्ध नहीं है, बल्कि व्यक्तियों के जीवन के पारस्परिक समंजन से भी सम्बद्ध है।'' अतः नैतिकता और मूल्य में कोई भेद नहीं है तथा मूल्यवत्ता आकांक्षाओं की संतुष्टि में है। इसलिए नैतिकता भी इच्छाओं की संतुष्टि में ही है। इससे नैतिकता, मूल्य और इच्छाओं की संतुष्टि समानार्थक है। रिचर्ड्स की नैतिकता सम्बन्धी धारणा अविकल रूप में फ्रायड से ग हीत है। अतः जो दोष फ्रायड के मनोविश्लेशण में हैं, वे अनायास इसमें भी विद्यमान हैं। इस द ष्टि से रिचर्ड्स का यह दावा कि वे नैतिकता की सर्वथा नई रूपरेखा दे रहे हैं, यथार्थ से बहुत दूर है।

इस प्रकार काव्य के प्रभाव और प्रयोजन के सम्बन्ध में रिचर्ड्स द्वारा प्रतिपादित मनोवैज्ञानिक मूल्य के सिद्धान्त में निम्नलिखित तथ्यों पर बल दिया गया है-

(1) कला अन्य मानव-व्यापारों से सम्बन्ध है उनसे भिन्न या प थक् नहीं है।

(2) मानव-क्रियाओं में कला या कविता सर्वाधिक मूल्यवान है।

(3) किसी मानव-क्रिया का मूल्य इस बात से निर्धारित होता है कि वह कहाँ तक मनोवेगों में संतुलन और सुव्यवस्था उत्पन्न करने में सक्षम है।

सम्प्रेषण सिद्धान्त

रिचर्ड्स ने क्रोचे के अभिव्यंजनावाद के समान सम्प्रेषण की अनिवार्यता पर बल दिया है। उन्होंने सम्प्रेषण को कला का अनिवार्य गुण माना है। उनके अनुसार कला वह माध्यम है जिसके द्वारा कलाकार अपनी अनुभूतियों को दूसरों तक पहुँचाने का प्रयास करता है। अतः प्रभावपूर्ण अभिव्यंजना को ही सम्प्रेषण कहते हैं तथा सम्प्रेषण में समर्थ व्यक्ति को कलाकार।

रिचर्ड्स के अनुसार, ''सम्प्रेषण का अर्थ न तो अनुभूति का यथावत् (हू-ब-हू) अन्तरत है और न दो व्यक्तियों के बीच अनुभूति का तादात्म्य, बल्कि कुछ अवस्थाओं में विभिन्न मनों की अनुभूतियों की अत्यन्त समानता ही सम्प्रेषण है।''

"Communication defined as strict transference of a participation in indentical experience

does not occur..... All that occurs is that under certain conditions separate minds have closely similar experiences."

वस्तुतः सम्प्रेषण तब होता है जब वातावरण पर किसी मन की ऐसी क्रिया होती है कि दूसरा मन उससे प्रभावित हो उठता है तथा दूसरे मन की अनुभूति पहले मन की अनुभूति के समान होती है। अनुभूति की इस समानता में कलाकार की अभिव्यंजना-क्षमता, भावक की योग्यता और सहृदयता, सुरुचि अवधान आदि का होना आवश्यक है। अतः सम्प्रेषण की सफलता के लिए असाधारण मात्रा में अनुभूति की समानता अपेक्षित है, इस द ष्टि से रिचर्ड्स का सम्प्रेषण भारतीय काव्यशास्त्र के साधारणीकरण का ही एक रूप है।

काव्य भाषा एवं अर्थ-मीमांसा

रिचर्ड्स ने काव्य-भाषा के दो रूप माने हैं-

(1) वैनिक

(2) रागात्मक

वैज्ञानिक भाषा में निरूपण या निर्देशन अभिमत होता है, जबकि रागात्मक भाषा में भाव का उद्‌बोधन। एक में भाषा सीधी, सरल और सपाट होती है तथा दूसरी में रमणीयता-सम्पन्न। भारतीय आचार्य भामह ने भी भाषा के दो भेद किए हैं, जो रिचर्ड्स से मिलते-जुलते हैं। उनके अनुसार वैज्ञानिक भाषा 'वार्ता' है और रागात्मक भाषा 'वक्रता'।

इन्हीं को क्रमशः स्वभावोक्ति प्रधान तथा वक्रोक्ति प्रधान कहा जा सकता है। प्रश्न उठता है कि भाषा के भावोद्‌बोधक प्रयोग की क्या विशेषताएँ हैं? किन तत्त्वों के प्रयोग द्वारा काव्य भाषा भाव जगाने में समर्थ होती है? इस सन्दर्भ में रिचर्ड्स ने भाषा के विविध तत्त्वों का विवेचन करते हुए काव्य-भाषा में अर्थ के प्रमुख तीन प्रकार माने हैं-

(1) मुख्यार्थ या वस्तु-बोध - वस्तु-स्थिति की परिचायिका शब्द-शक्ति।

(2) वचन-भंगी या ध्वनि - सहृदय या श्रोता के प्रति लेखक की चेष्टा या मनोभाव।

(3) उद्देश्य - कलाकार का अभिप्राय जो उसके अनुभव आदि की समग्रता को विशिष्ट बनाता है।

रिचर्ड्स के अनुसार श्रेष्ठ काव्य-भाषा में इन सब तत्त्वों की सहज योजना रहती है, किन्तु प्रकरण के अनुसार तीनों की मात्रा में अन्तर हुआ करता है। जैसे विज्ञान में मुख्यार्थ प्रधान होता है, किन्तु काव्य में भावना की प्रधानता हो जाती है। जहाँ भावना की प्रमुखता होगी, वहाँ भाषा स्वभावतः रागात्मक हो जाएगी।

मूल्यांकन

रिचर्ड्स के विचार मौलिक और चमत्कारपूर्ण हैं। उन्होंने पहली बार अँग्रेजी साहित्य में व्यापक और व्यवस्थित सौन्दर्यशास्त्र के निर्माण का श्लाघनीय प्रयास किया है। उन्होंने आलोचना का एक पूर्ण और स्वतन्त्र शास्त्र प्रस्तुत किया। इसके लिए उन्होंने मनोविज्ञान को अपनी आलोचना-पद्धति का आधार बनाया है, साथ ही मानव-विज्ञान, अर्थ-विज्ञान जैसे नव-विकसित विज्ञानों का भी उपयोग किया है।

रिचर्ड्स के मूल्य सिद्धान्त के केन्द्र में व्यक्ति है, समाज नहीं। क्योंकि मनोविज्ञान की जिन शाखाओं पर उनकी आलोचना-पद्धति आश्रित है, वे व्यक्ति मूलक हैं। इसलिए अपनी समग्र मीमांसा के मूल

में, चाहे वह मूल्य की मीमांसा हो या नैतिकता की, व्यक्ति को ही रखा है। उन्होंने आर्नल्ड की तरह समाज और संस्क ति की बात कभी-कभी उठाई है, परन्तु उसका पल्लवन नहीं किया। मूल्य और सम्प्रेषण रिचर्ड्स की आलोचना के आधार स्तम्भ हैं। मूल्य का सम्बन्ध आवेगों की संतुष्टि से है और सम्प्रेषण का सम्बन्ध भाषा से है। इसी कारण उनकी आलोचना-पद्धति मनोवैज्ञानिक या अर्थवैज्ञानिक कही जाती है।

रिचर्ड्स काव्य के प्रयोजन में आनन्द को स्थान नहीं देते। अपितु उसके स्थान पर काव्य का एकमात्र प्रयोजन आवेगों की संतुष्टि के द्वारा 'संतुलित विश्रान्ति' की उपलब्धि मानते हैं।

रिचर्ड्स के आलोचना-सिद्धान्तों पर मूलतः अरस्तू, आर्नल्ड, जार्ज सांतायना और फ्रायड आदि का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है।

रिचर्ड्स में विषयान्तर, विरोधाभास, स्वल्पता, अनावश्यक शुष्कता आदि त्रुटियाँ लक्षित होती हैं। फिर भी अँग्रेजी भाषी जगत में उनका बहुत मान और प्रभाव रहा है। तो भी, इलियट की अपेक्षा रिचर्ड्स का चिन्तन अधिक वैज्ञानिक, क्रमबद्ध और पूर्ण है। हिन्दी में शुक्ल जी ने भी रिचर्ड्स की चर्चा की है।

III व्यावहारिक आलोचना

व्यावहारिक आलोचना किसी सिद्धान्त पर आधारित नहीं रहती, फिर भी उसका उद्देश्य किसी भी क ति के सौन्दर्य और विशेषताओं को स्पष्ट कर अनुभूतिगम्य बनाना है। इस द ष्टि से आलोचना के अनेक स्वरूप विकसित हुए, पर कोई एक इस उद्देश्य की पूर्णतया पूर्ति न कर सका। अतएव व्यावहारिक समीक्षा की आवश्यकता का अनुभव हुआ।

व्यावहारिक समीक्षा के सिद्धान्तों या नियमों को अनुसंधान की पूर्वगामिनी आलोचना की एक सामान्य प्रक्रिया है जो इसको समुचित द ष्टि प्रदान करती है। इस प्रक्रिया को व्यवहार में लाने वाले अँग्रेजी के प्रसिद्ध समालोचक और विद्वान श्री आई.ए. रिचर्ड्स हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म' में इस प्रक्रिया को स्पष्ट किया है और निष्कर्षस्वरूप अपने विचार प्रस्तुत किए हैं।

श्री रिचर्ड्स महोदय ने अनेक अँग्रेजी कविताओं को अपने शीर्षकों और लेखकों के नामो को हटाकर विभिन्न प्रकार के शिक्षा-स्तर के शिक्षित व्यक्तियों को स्वतंत्र समालोचनार्थ भेजा और उनकी समालोचनाएँ प्राप्त होने पर उनमें से तेरह का विश्लेषण अपनी पुस्तक में प्रस्तुत किया है। इसी के आधार पर उन्होंने समीक्षा की कुछ विशिष्ट बातों और नियमों का संग्रह किया है। इसके पूर्व कि हम उन नियमों पर विचार करें, हमें पहले इस प्रयोग की महत्ता पर विचार कर लेना चाहिए। रिचर्ड्स महोदय का उद्देश्य केवल साहित्यिक समीक्षा का एक प्रयोग करना ही न था, वरन् संस्क ति की समकालीन स्थिति और शिक्षा-पद्धति का एक नवीन मार्ग भी स्पष्ट करना था।

इसके अतिरिक्त स्वयं हम काव्य के सम्बन्ध में किस प्रकार सोचते-विचारते हैं यह ज्ञान भी अपने आपको इस प्रकार के प्रयोगों द्वारा ही हो जाता है। इस प्रकार आत्मविश्लेषण और शिक्षा-पद्धति के साथ-साथ इस प्रयोग का सबसे बड़ा महत्त्व सांस्क तिक और ऐतिहासिक है। यदि इस प्रकार के व्यावहारिक समीक्षा के प्रयोग चलते रहें और विभिन्न देशों में एक ही समय चलें, तो निश्चय ही हमें इनके द्वारा संस्क ति और साहित्यिक अभिरुचि का तुलनात्मक यथार्थ का ज्ञान हो सकता है। इस द ष्टि से सचमुच इसका बहुत बड़ा महत्त्व है।

व्यावहारिक समीक्षा-सम्बन्धी प्रयोगों से यह बात स्पष्ट होती है कि भावों या विचारों का सहज और सरल प्रकाशन कितना कठिन है, साथ ही यह निष्कर्ष भी निकाला जा सकता है कि समीक्षा का प्रयास

भी भावों और विचारों के आदान-प्रदान की सहजतम रीति निकालना है। समीक्षा सम्बन्धी अनेक सिद्धान्त इसी के परिणाम हैं, परन्तु वास्तविकता तो कुछ इस प्रकार की है कि वे सिद्धान्त या नियम बुद्धिमानों के लिए तो बड़े सहायक सिद्ध होते हैं परन्तु अन्यों के लिए वे स्वयं एक भ्रम या उलझन डालने वाली वस्तु बन जाते हैं। मनुष्य की विभिन्न अभिरुचियों और विभिन्न मनोव त्तियों के परिणामस्वरूप तथा विभिन्न युगों की जीवन-शैली और आदर्शों की परिवर्तनशीलता और विकास के कारण कोई भी नियम या सिद्धान्त सर्वांगीण रूप से उपयोगी सिद्ध नहीं हो पाता। इसके अतिरिक्त सिद्धान्त-विशेष का आग्रह समीक्षा को अपनी सीमा में बाँधने वाला भी होता है और उसके स्वच्छंद विकास में बाधा पहुँचाता है, अतः उसके स्वच्छन्द और विकासशील रूप को ही प्रेरणा देने का प्रयत्न श्रेयस्कर है।

इस प्रकार व्यावहारिक समीक्षा के मार्ग में कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। इन कठिनाइयों में से कुछ प्रमुख पर यहाँ विचार किया जाता है।

सबसे प्रथम कठिनाई है- कविता के वास्तविक अर्थ-ग्रहण की। किसी भी छन्द का यथार्थ तात्पर्य ग्रहण करना अत्यावश्यक है, क्योंकि अन्य बातें इसी पर निर्भर करती हैं। यह बात आश्चर्यकारी है, परन्तु व्यावहारिक समीक्षा के प्रयोगस्वरूप जो निष्कर्ष निकाला, वह यही था कि अधिकांश व्यक्ति कविता का अर्थ, सहज तात्पर्य नहीं समझ पाते और इसके परिणामस्वरूप उसमें व्यक्त भावानुभूति, ध्वनि और उद्देश्य को समझने में भी भ्रम कर बैठते हैं। यह भाव सरल, जटिल और क्लिष्ट सभी प्रकार की कविताओं के लिए सत्य बैठता है। किसी भी समीक्षा के लिए काव्य का अर्थ-ज्ञान तो प्रारम्भिक आवश्यकता है।

दूसरी इसी के समकक्ष कठिनाई है- कविता के ऐन्द्रिक प्रभाव के ग्रहण की। यह तो निर्विवाद तथ्य है कि कविता में शब्दक्रम गद्य के शब्दक्रम से भिन्न होता है और उसका एक लयात्मकता या ध्वन्यात्मकता प्रभाव होता है। इस प्रभाव को ग्रहण करने के लिए हमारी श्रवण-शक्ति की योग्यता आवश्यक है। लयात्मक प्रभाव को ग्रहण कर सकने वाली व्यक्तियों पर जो प्रभाव किसी छन्द का पड़ सकता है वह अन्यों पर नहीं, हम कवि भी तद्विषयक प्रतिभा और कविता के इस गुण की विशेषता नहीं जान सकते, यदि हममें ये लयात्मक संस्कार नहीं हैं। इस त्रुटि का परिहार किन्हीं अंशों में कवि द्वारा या किसी अन्य दक्ष व्यक्ति द्वारा लयात्मक ढंग से पढ़कर किया जा सकता है, परन्तु उसके भी समग्र प्रभाव का आनन्द लेने के लिए पाठक को इस द ष्टि से संस्क त होना आवश्यक है।

ऐन्द्रिक प्रभाव का दूसरा रूप है - द श्य दर्शन। इसका सम्बन्ध हमारी प्रत्यक्ष करने की शक्ति से है। कवि के भीतर प्रत्यक्षीकरण की शक्ति असाधारण रूप से विद्यमान होती है। वह प्रत्यक्षीक त वस्तुओं का वर्णन करता है। परन्तु प्रत्यक्ष करने का द श्य-दर्शन की शक्ति सबमें बराबर या एक-सी नहीं होती।

इसके अतिरिक्त कभी-कभी ऐसा होता है कि संयोग से कवि उस भावना को प्रकट करता है जो हमारी अपनी भावना भी है। ऐसी दशा में हम उस भावना में इतने अभिभूत हो जाते हैं कि वह कवि की न रहकर अपनी हो जाती है। समीक्षा की द ष्टि से यह स्थिति भी आपत्तिपूर्ण है; क्योंकि ऐसी दशा में या तो हम कवि के साथ पक्षपात करेंगे या उसे कोई श्रेय न देंगे।

समीक्षा के क्षेत्र में भावुकता एक बहुत बड़ी कठिनाई है। इस भावुकता के वशीभूत होकर निश्चय ही या तो हम कुछ ऐसी अच्छाइयाँ देखने लगते हैं जो उसमें है नहीं और या हम प्रसंग से पूर्णतया बहक जाते हैं। यहाँ पर यह बात स्पष्ट कर देनी आवश्यक है कि भावुक और भावक, सहृदय या समीक्षक में अन्तर है। वास्तविक गुणों का समुचित ग्रहण और प्रशंसा भावक या सहृदय का काम है, जबकि भावुक अवास्तविक या काल्पनिक गुणों की प्रशंसा करता है। उसकी अभिव्यक्ति सदैव समीक्षा नहीं कही जा सकती।

इसके विपरीत स्थिति है-अरसिकता की। इसमें पाठक या समीक्षक गुणों को देखते और प्रभावित होते हुए भी उदारता से उनकी प्रशंसा नहीं करना चाहता। यह दशा काव्य-गुणों और कवि के उत्साह पर पानी फेरने वाली होती है। इसलिए कहा गया है- **''अरसिकेषु कवित्वनिवेदनं, शिरसि मा लिख मा लिख।''** अतः समीक्षा में इस अरसिकता की स्थिति से भी सावधान रहने की आवश्यकता है।

एक और बहुत बड़ी कठिनाई है- सैद्धान्तिक आग्रह। यह सैद्धान्तिक आग्रह दो रूपों में देखा जा सकता है। प्रथम इस रूप में कि कविता में सत्य या जीवन के सम्बन्ध में क्या विचार प्रकट किए गए हैं? यदि पाठक या समीक्षक किसी विशेष सम्प्रदाय, विचार या सिद्धान्त का व्यक्ति है तो उस काव्य-खण्ड का मूल्यांकन उसके आधार पर करेगा। उसके होने पर उनकी प्रशंसा और न होने पर निन्दा की जा सकती है। अन्य सिद्धान्त या विचारधारा के कारण उसे निकृष्ट बताया जा सकता है। समीक्षक के सामने एक और प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या काव्य का महत्त्व उसमें व्यक्त किसी विशिष्ट सिद्धान्त या विचारधारा के कारण है या इसके अतिरिक्त किसी अन्य बात पर? यदि विचारधारा इतर बात को इतना महत्त्व देती है, तो वह कविता की शैली या शिल्प हो सकती है।

उपर्युक्त कुछ प्रमुख कठिनाइयाँ हैं जो व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में उपस्थित होती हैं। इन बातों को सामने रखने पर देखते हैं कि मानव-अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में चार बातें प्रमुख सामने आती हैं जिन्हें हम अभिव्यक्ति के चार पक्ष कह सकते हैं। ये हैं- अर्थ, भावानुभूति, ध्वनि और उद्देश्य। किसी भी समीक्षक के लिए इन चारों पक्षों का समुचित ज्ञान अपेक्षित है। विभिन्न प्रकार की अभिव्यक्तियों में इन पक्षों की कमी या अधिकता देखी जा सकती है। एक वैज्ञानिक कृति के लिए अर्थ ही सर्वोपरि महत्त्व का है। उसका भावानुभूति, ध्वनि से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं। हाँ उद्देश्य अवश्य उसके अर्थ का पथ-प्रदर्शन करता है। परन्तु एक साहित्यकार या वक्ता के लिए भावानुभूति का पक्ष महत्त्वपूर्ण है, जहाँ पर वह अपने वक्तव्य या भाषण का प्रभाव डालना चाहता है। भाव के विशिष्ट प्रभाव के लिए ध्वनि का अपना स्थान है, विशेष रूप से कविता की स्मरणीय रमणीयता के लिए ध्वनि का सहारा आवश्यक है। उपदेशात्मक और सैद्धान्तिक उक्तियों में उद्देश्य प्रधान होता है। इस प्रकार विभिन्न अभिव्यक्तियों की प्रकृति के अनुसार इन चार पक्षों के स्वरूपों का प्राधान्य या उनकी अपेक्षा रहती है।

इन पक्षों का सम्बन्ध काव्य के तत्त्वों से भी जोड़ा जा सकता है। काव्य भी एक विशिष्ट प्रकार की अभिव्यक्ति है। वरन् यह कहा जाए कि काव्य एक सजीव और पूर्ण अभिव्यक्ति है तो असमीचीन न होगा। इस अभिव्यक्ति में शब्द, अर्थ, भाव, कल्पना और बुद्धि-तत्त्वों का सामंजस्यपूर्ण समन्वय रहता है। काव्य के अतिरिक्त अन्य उक्तियों में समस्त तत्त्व विद्यमान नहीं रहते। वैज्ञानिक उक्तियों में अर्थ और बुद्धि-तत्त्व प्रधान है। दार्शनिक उक्तियों में अर्थ, बुद्धि-तत्त्वों के साथ कभी-कभी कल्पना-तत्त्व का भी समावेश हो जाता है। शब्द-तत्त्व केवल अर्थ-तत्त्व का वाहक होकर आता है, उसका अपना पूर्ण स्वस्थ प्रकट नहीं होता और उसकी ध्वनि-सम्बन्धी विशेषता प्रस्फुटित नहीं हो पाती। शास्त्रीय, धार्मिक और नैतिक उक्तियों में भी यही बात देखी जा सकती है। अतः वह काव्य या उसके समक्ष ही कोई उक्ति है जिसमें उन पाँचों तत्त्वों का समुचित एवं सजीव प्रभावपूर्ण सम्मिश्रण देखा जा सकता है। इसलिए उक्तियों में सबसे महत्त्वपूर्ण काव्योक्ति मानी गई है। पूर्वोक्त चार पक्षों का समाहार भी इन पाँचों तत्त्वों में हो जाता है।

17. सिद्धान्त और वाद

स्वच्छन्दतावाद
(Romanticism)

यद्यपि स्वच्छन्दतावादी प्रव त्तियाँ प्रत्येक देश और प्रत्येक युग के साहित्य में न्यूनाधिक मात्रा में उपलब्ध रहती हैं तथापि एक व्यापक साहित्यिक आन्दोलन के रूप में स्वच्छन्दतावाद आधुनिक युग की देन है। इस शब्द का प्रथम प्रयोग जर्मनी के प्रसिद्ध आलोचक श्लेगर ने किया और इसे अभिजात्यवाद का विपरीतार्थक माना। इसके पश्चात् इस शब्द को जनबुद्धि ने ग्रहण कर लिया और इसकी अनेक प्रकार से परिभाषा की गई। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में रूसो ने मानवीय स्वच्छन्दतावाद का प्रबल समर्थन किया। उन्होंने एक ओर प्रक ति की सहजता एवं रम्यता का प्रतिपादन किया, वहीं दूसरी ओर मानवीय स्वतन्त्रता का भी समर्थन किया। स्वातन्त्र्य के विषय में उनका निश्चित वाक्य था - "Man is born free but is found every where in chain." अर्थात् मानव स्वतन्त्र रूप से जन्म लेता है, लेकिन वह सर्वत्र निष्प्राण रूढ़ियों तथा क त्रिम सिद्धान्तों की जकड़ में दिखाई देता है। रूसो के इन विचारों का परवर्ती विचारकों पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा। 1800 में वर्ड्सवर्थ ने 'लिरिकल बैलेड्स' के द्वितीय संस्करण की भूमिका में स्वच्छन्दतावाद का द ढ़ स्थापन किया। अपने व्यापक महत्त्व के कारण इस भूमिका को स्वछन्दतावाद का घोषणा-पत्र माना जाता है। इसके पश्चात् यह जर्मनी, इंग्लैण्ड, फ्रांस आदि देशों में विकसित हुआ तथा विश्व के अन्य देश भी इससे प्रभावित हुए।

प ष्ठभूमि

स्वच्छन्दतावाद की प ष्ठभूमि में तत्कालीन परिस्थितियों का बहुत बड़ा हाथ है। औद्योगिकीकरण, वैज्ञानिक उन्नति तथा शिक्षा के प्रचार-प्रसार ने जनसाधारण को व्यक्ति-महिमा से मण्डित किया। व्यक्ति अपना महत्त्व समझने लगा। विज्ञान ने धर्म एवं विश्वास पर आधारित अनेक सिद्धान्तों का प्रबल खण्डन किया और नवीन सिद्धान्तों की स्थापना की। शिक्षा के व्यापक प्रचार और पुरातन ग्रन्थों की शास्त्रीयता ने लोक-जीवन पर आधारित साहित्य की आवश्यकता को जन्म दिया। रूसो आदि विचारक काफी पहले ही मानव-स्वातन्त्र्य का उद्घोष कर चुके थे। फलतः जनसाधारण निष्प्राण रूढ़ियों एवं निरर्थक सिद्धान्तों का परित्याग कर स्वतन्त्र एवं स्वच्छन्द जीवन-यापन के लिए आतुर हो उठा।

आभिजात्यवाद का प्रभाव

अठारहवीं शताब्दी में यूरोपीय साहित्य पर आभिजात्यवाद का विशेष प्रभाव था। यह वाद (Ism) जीवन के सामान्य तत्त्वों पर बल देकर बाह्य नियमों को ही विशेष मानता है। इससे रूढ़िबद्धता तथा गतानुगतिका को प्रश्रय मिलता है तथा रचनात्मकता कुण्ठित हो जाती है। नए कवियों ने देखा कि साहित्य आभिजात्यवादी नियमों एवं सिद्धान्तों से आक्रांत है और तत्कालीन जीवन यान्त्रिकता की जटिलता से परिपूर्ण। एक ओर जीवन की सहजता एवं रम्यता नष्ट होती जा रही है तो दूसरी ओर काव्य में भाव-तत्त्व की न्यूनता। फलतः इन नवीन कवियों ने विद्रोह कर दिया-साहित्यिक नियमों

एवं मान्यताओं के प्रति, जीवन की रूढ़ परम्पराओं के प्रति, वैज्ञानिक एवं बौद्धिक प्रगति के प्रति। इन कवियों ने नियमों या सिद्धान्तों की अपेक्षा व्यक्ति को अधिक महत्त्व दिया और काव्य में आन्तरिकता पर बल दिया। इन्होंने रचनात्मक एवं आलोचनात्मक दोनों ही धरातलों पर बाह्य नियमों को अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार कला या साहित्य की मुक्ति का प्रयास यहीं से प्रारम्भ हो जाता है, जो आगे चलकर प्रकृतिवाद, प्रतीकवाद और अभिव्यंजनावाद में विशेष बल पकड़ता है।

मूल मनोद ष्टि

वस्तुतः स्वच्छन्दतावाद एक मनोद ष्टि है, जो निरर्थक नियमों एवं निष्प्राण रूढ़ियों का परित्याग कर नूतन मूल्य स्थापित करने का प्रयास करती है। स्वच्छन्दतावाद का विद्रोह अत्यधिक व्यापक तथा गम्भीर है। एक आलोचक के शब्दों में- ''वह रचना के सन्दर्भ में बाह्य नियमों की अपेक्षा कवि के व्यक्तित्त्व को प्रधान मानता है। काव्य-प्रयोजन के रूप में नैतिकता के विरुद्ध आनन्द की प्रतिष्ठा करता है, बँधे-बँधाए छन्दों को नकार कर लय और गति पर आधारित छन्दों की सर्जना पर बल देता है, कार्य और बौद्धिकता के विरुद्ध मनोवेगों के महत्त्व की स्थापना करता है, संस्क तनिष्ठ भाषा के विरोध में जन-भाषा के प्रयोग पर बल देता है तथा नाटक के स्थान पर गीतिकाव्य को साधना का मुख्य केन्द्र बनाता है।'' एक अन्य आलोचक ने स्वच्छन्दतावादी मनोव त्ति को स्पष्ट करते हुए कहा है- ''स्वच्छन्दतावादी कवि नियमों और परम्पराओं का उल्लंघन करता है, यथार्थ और समाज के प्रति विद्रोह करता है, तथ्यों और कर्त्तव्यों के जगत को स्वप्नों और भावोन्माद की वेदी पर बलिदान कर देता है। इन सबसे स्पष्ट है कि स्वच्छन्दतावादी का मन, शिशु और असंस्क त, मुक्त वनवासी के समान होता है, जो केवल अनियन्त्रित भावों के जगत् में विहार करता है और अपनी ही द ष्टि से सारी वस्तुओं को देखता है, दूसरों की चिन्ता नहीं करता।'' इन उद्धरणों से स्वच्छन्दतावादी द ष्टि को समझने में काफी सहायता मिलती है। इनसे स्पष्ट हो जाता है कि वह किसी भी प्रकार की रूढ़ियों एवं निरर्थक नियमों में विश्वास नहीं करता।

स्वच्छन्दतावादी पुरातन रूढ़ियों एवं निरर्थक नियम-संघात के विरोधस्वरूप उत्पन्न हुआ था। दूसरे शब्दों में, इसे आभिजात्यवाद के विरुद्ध भी कहा जा सकता है। फलतः इसे आभिजात्यवादी तथा परम्परा-प्रेमी विचारकों का कोपभाजन भी बनना पड़ा है। किसी ने इसे जनता में विष फैलाने वाला बताया तो किसी ने इसे रोग। जर्मन के महाकवि गेटे ने तो यहाँ तक कहा है- ''ये सब कवि इस प्रकार लिखते हैं, मानो ये रुग्ण हों और सारा संसार मानो अस्पताल हो। इनमें से प्रत्येक अन्य से अधिक निराशा और असन्तोष का स्वर मुखरित करने के लिए उद्विग्न दिखाई देता है। वास्तव में यह काव्य का दुरुपयोग नहीं तो और क्या है, क्योंकि काव्य मनुष्य को संसार और अपने भाग्य के प्रति अधिक सन्तुष्ट और सहिष्णु रहने के लिए मिला है। किन्तु वर्तमान पीढ़ी सभी तरह की ठोस शक्ति से त्रस्त है, उसका मन निश्चिन्त है और वह निर्बलता में ही काव्य की प्रतीति पाती है। इन सब महानुभावों को खिझाने के लिए मुझे एक अच्छी अभिव्यक्ति सूझ पड़ी हैः ''मैं उनके काव्य को अस्पताली काव्य कहूँगा।'' यह विरोध न केवल स्वच्छन्दतावाद, बल्कि प्रत्येक नवीन काव्य-प्रव त्ति को सहन करना पड़ता है। स्वच्छन्दतावाद भी इससे कैसे बचता? लेकिन युग का समर्थन विरोधियों की अपेक्षा स्वच्छन्दतावादियों को ही मिला। फलतः वह विजयी हुआ और एक साहित्यिकवाद के रूप में न केवल फ्रांस, इंग्लैण्ड और जर्मनी, बल्कि समग्र संसार में समाद त हुआ।

काव्य-विषय

स्वच्छन्दतावादियों ने न केवल प्राचीन काव्यादर्शों का अनुशासन अस्वीकार किया, बल्कि काव्य-विषय को भी बाह्य से आन्तरिकता की ओर ले जाने का प्रयास किया। स्वछन्दतावाद-काव्य को आत्मा की अभिव्यक्ति मानता है। यही कारण है कि वह कवि के रूप या सिद्धि के लिए बाह्य नियमों को

अस्वीकार करता है। कविता का मूल उत्स कवि का व्यक्तित्व है और उसी के प्रति आस्थावान रहने में कविता की अर्थवत्ता है। यह ऐसा सिद्धान्त है जिसे न केवल स्वच्छन्दतावादी, बल्कि आभिजात्यवादी काव्य पर भी लागू किया जा सकता है। व्यक्तित्व की इस प्रतिष्ठा के कारण ही स्वच्छन्दतावादी कवियों ने स्वानुभूतियों को ही काव्य का मूलाधार बनाया है। ''स्वच्छन्दतावादी लेखकों ने कभी किसी उद्देश्य या प्रयोजन-विशेष को लेकर अपने काव्य की रचना नहीं की, साहित्य उनके लिए वैयक्तिक अनुभूति और आत्माभिव्यक्ति का प्रसाद था, इसीलिए उनकी काव्य-वस्तु की परिधि नव्यशास्त्रवादियों की अपेक्षा अधिक विस्त त और उनसे सर्वथा भिन्न थी। आत्मानुभूति और उसकी अभिव्यक्ति को विशेष महत्त्व दिया गया।'' आत्मानुभूति के प्रकटीकरण की सबसे सुविधाजनक विधा गीत है; सम्भवतः इसीलिए स्वच्छन्दतावादियों ने इसे सर्वाधिक अपनाया है।

व्यक्तित्त्व की महत्ता

स्वच्छन्दतावाद कवि-व्यक्तित्त्व को महत्त्व देकर ही शान्त नहीं हो जाता, बल्कि व्यक्तित्त्व-विश्लेषण के मार्ग को भी प्रशस्त करता है। व्यक्तित्त्व क्या है? क्या वह विरासत में प्राप्त पैत क सम्पदा है अथवा पूर्णतः परिवेशजन्य? क्या वह चेतन के सद श ही है अथवा चेतन से नितान्त भिन्न अचेतन के समान? इन सभी प्रश्नों पर परवर्ती विचारकों ने गम्भीरता से विचार किया। इसी के परिणामस्वरूप आई.ए. रिचर्ड ने मनोवैज्ञानिक भित्ति पर अवलम्बित काव्य-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की तो फ्रायड ने अचेतन और काम-सिद्धान्त के आधार पर काव्य-प्रक्रिया की व्याख्या करने का प्रयास किया। क्रोचे ने आत्मवादी धरातल पर अभिव्यंजनावाद की प्रतिष्ठा की तो मार्क्स ने परिवेश को ही प्रमुखता दी। इस प्रकार व्यक्तित्त्व के विश्लेषण का मार्ग स्वछन्दतावाद ने उद्घाटित किया, जिससे काव्यविषयक अनेक द ष्टिकोण सामने आए।

मूल प्रव त्ति

स्वच्छन्दतावाद की प्रव त्ति व्यापक नियम, समूह तथा जटिलता से हटकर सरलता एवं सहजता की ओर रही है; इसीलिए उसने कवि-व्यक्तित्त्व को कविता का मूल उत्स स्वीकार किया है। यद्यपि व्यक्तित्त्व भी जटिल वस्तु है और उसमें भावों एवं विचारों दोनों का समुचित समावेश है, लेकिन स्वच्छन्दतावादी भावों को ही विशेष महत्त्व प्रदान करता है। यद्यपि उसमें विचार-तत्त्व का नितान्त बहिष्कार नहीं मिलता, तथापि प्राधान्य भाव-तत्त्व का ही रहा है। इन कवियों की काव्य-विषयक परिभाषाओं से इन्हीं तथ्यों की पुष्टि होती है। वर्ड्सवर्थ ने कविता को 'सशक्त भावनाओं का स्वतः प्रेरित प्रवाह' कहा है। अन्य कवियों ने भी इसी प्रकार की शब्दावली का प्रयोग किया है। ''यह भाववादी द ष्टि एक ओर तो जीवन की प्राकृतिक एवं सरल अवस्था की स्वीक ति का परिणाम है तो दूसरी ओर काव्य में बुद्धिवाद के विरोध में भाव के महत्त्व की प्रतिष्ठा का प्रयास है। यह बौद्धिकता दो रूपों में लक्षित होती है। वैज्ञानिक प्रगति के प्रभावस्वरूप आस्था और भावना के स्थान पर तर्क एवं बुद्धि की प्रधानता प्रतिष्ठित हो रही थी। दूसरी ओर नव्य आभिजात्यवादी द ष्टि भी नियमों एवं सिद्धान्तों के महत्त्व की स्वीक ति में बौद्धिकता के महत्त्व को स्वीकार कर रही थी।'' भाव की प्रबल स्वीक ति से स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन को व्यापक जन-समर्थन प्राप्त हुआ तथा आनन्द को काव्य का प्रयोजन माना जाने लगा।

भाव को कविता के रूप में कैसे ढाला जाए - इसके उत्तर स्वरूप स्वच्छन्दतावादियों ने कल्पना की प्रतिष्ठा की। वस्तुतः शिल्प-विषयक नियमों की अस्वीक ति के पश्चात् नवीन मूल्यों की स्थापना आवश्यक हो गई थी और इसकी पूर्ति कल्पना-तत्त्व से की गई। यह नितान्त स्वाभाविक है, क्योंकि काव्य में बाह्य विषय के स्थान पर कवि-व्यक्तित्त्व को महत्त्व दिया गया था। कल्पना भी कवि की मनःशक्ति ही है। कल्पना का विशद् विवेचन किया गया, स्वरूप-विवेचन भी और दार्शनिक विवेचन

भी तथा कल्पना-शक्ति को ही क तित्त्व का सर्वसम्मत आधार माना गया। राइमर ने इस काव्य के विषय में लिखा है- ''यहाँ कल्पना उछलती-कूदती है और 'पल-भर' में हवा हो जाती है, जबकि तर्क श ंखलाओं को खड़खड़ाकर उसका अनुसरण करता है।'' भाव तथा कल्पना-तत्त्व दोनों मिलकर काव्य में आन्तरिक अनुभूति की सघनता प्रदान करते हैं, यही स्वच्छन्दतावादी द ष्टि में काव्य का प्राण-तत्त्व है। एबरक्राम्बी ने इसी को लक्ष्य करके कहा है- ''स्वच्छन्दतावाद बाह्य अनुभूतियों से पलायन है, जिससे आन्तरिक अनुभूतियों में केन्द्रित हुआ जा सके।''

स्वच्छन्दतावाद का भाव-विषयक सिद्धान्त यह है कि मानव विचार के धरातल पर भिन्न हो सकता है, लेकिन भाव के धरातल पर वह समान ही है। मानव राजनीति या दार्शनिक द ष्टि भिन्न रख सकता है; लेकिन हर्ष, पुलक, क्रोध, विषाद आदि सभी के समान होते हैं। अतः भाव के धरातल पर वे सभी समान हैं। यदि इसी धरातल पर काव्य का प्रणयन किया जाए तो उसकी सत्ता सार्वभौम तथा सार्वकालिक होगी। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि स्वच्छन्दतावाद विचार पक्ष या वस्तु-तत्त्व का बहिष्कार करता है, बल्कि यह है कि वह उसे गौण ही मानता है, प्रधानता भाव-तत्त्व को ही स्वीकारता है। इस भावमूलक मानवतावाद के विषय में वर्ड्सवर्थ ने कहा है कि आवेग मानव-स्वभाव के आधारभूत सिद्धान्तों का प्रकाशन करते हैं। आवेग के धरातल पर मानवमात्र समान है और इसी में काव्य की सार्वकालिक शक्ति का रहस्य सन्निहित है। कवि की अनुभूति विशिष्ट ही होती है, लेकिन वह निजी अनुभूति को लोक-साधारण अनुभूति के रूप में व्यक्त करता है, जिससे वह पढ़ने वाले सभी मानवों को अपनी प्रतीत होती है। यही कारण है कि सहृदय को काव्य का आस्वादन करते समय अपनी सत्ता का भी आभास नहीं रहता।

यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि भाव और कल्पना-तत्त्व के प्राधान्य ने काव्य का वह मार्ग प्रशस्त किया, जिससे वह अधिकाधिक व्यक्तित्त्व-प्रधान एवं कल्पना-प्रवण होता गया और बाह्य जीवन से उसका सम्बन्ध कटता चला गया। काव्य भाव-प्रधान एवं कल्पना-प्रवण तो हो सकता है, लेकिन यथार्थ जीवन से उसकी सम्प क्ति आवश्यक है अन्यथा वह न पाठक को विश्वसनीय लगेगा और न युगीन समस्याओं पर प्रकाश डाल सकेगा।

काव्य-भाषा

स्वच्छन्दतावाद काव्य को अभिजात वर्ग की वस्तु न मानकर जनसाधारण की वस्तु स्वीकारता है। फलतः काव्य में परिनिष्ठित भाषा के स्थान पर लोक-भाषा, दुरूह आलंकारिता के स्थान पर सहज अलंकरण तथा लय-ध्वनि पर आधारित छन्दों को विशेष महत्त्व देता है। शास्त्रीय जटिलता को दूर कर वह भाव-तत्त्व पर विशेष बल देता है, जिससे काव्य-मर्मज्ञ ही नहीं, बल्कि साधारण व्यक्ति भी काव्य का आनन्द प्राप्त कर सके। काव्य को जन-साधारण के निकट लाने की इस मनोद ष्टि ने न केवल यूरोप, बल्कि समग्र संसार के साहित्य को प्रभावित किया है। जिस साहित्यिक आन्दोलन को भी देखिए, कला को मुक्ति प्रदान करने, कठिनता से सरलता की ओर जाने तथा काव्याधिकारी की सीमा को विस्त त करने का नारा दे रहा है।

काव्य-मूल्य

स्वच्छन्दतावाद ने सौन्दर्य और आनन्द को काव्यमूल्य के रूप में स्वीकार किया है। इनमें सौन्दर्य साधन है और आनन्द साध्य। सौन्दर्यानुभूति के माध्यम से पाठक को आनन्द प्रदान कराना ही काव्य-प्रयोजन माना गया है। सौन्दर्य के अन्तर्गत प्रकृति-विषयक सौन्दर्य भी आता है और भाव-विषयक सौन्दर्य भी। इस भाव एवं प्रकृति-विषयक सौन्दर्य की स ष्टि करने में कवि को कल्पना-शक्ति से सहाय्य प्राप्त होता है, जो उसकी ही मनःशक्ति है। पेटर महोदय ने सौन्दर्य को दो भागों-सौन्दर्याकांक्षा और सौन्दर्य के प्रति जिज्ञासा में विभाजित करते हुए उनके समुचित संतुलन पर बल दिया है। यदि वह संतुलन

भंग होता है तो उसके परिणाम असंगत ही होंगे। स्वयं **पेटर** के शब्दों में- ''यदि जिज्ञासा निर्बल हो, यदि नए प्रभावों को तथा नई सुखानुभूतियों को ग्रहण करने की पर्याप्त उत्कण्ठा न हो तो व्यक्ति कोरे शास्त्रीय औचित्य को बहुत अधिक मूल्य देगा, घिसे-पिटे रूढ़िवादी रूपों से सन्तुष्ट हो जाएगा और प्रकृति या कलाकार द्वारा अंकित सूक्ष्म कुशल छवियों को वह नहीं छू पाएगा और अत्यन्त प्रेरणादायी कलाव त्तियाँ भी असंतुलित होकर उसमें झुंझलाहट ही उत्पन्न करेंगी। यदि जिज्ञासा का अतिरेक हो, वह सौन्दर्याकांक्षा से भी ऊपर निकल जाए तो हो सकता है कि कलाक ति में जो अकलात्मक हो, उसे ही व्यक्ति मूल्यवान समझने लगे, कला में जो कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण हो, उसी से उसका परितोष हो।'' पेटर महोदय ने जिज्ञासा और सौन्दर्य-प्रेम को ही स्वच्छन्दतावाद के मूल तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है।

स्वच्छन्दतावाद व्यक्तिमूलक होते हुए भी सामाजिक स्वीक ति के लिए आतुर रहता है। एक ओर वह कवि-व्यक्तित्त्व को प्रमुख मानता है, उसे अभिव्यक्ति देने के लिए तत्पर रहता है तो दूसरी ओर भाव तत्त्व पर, जो सभी मानवों में समान रूप से विद्यमान है, विशेष बल देता है। इस प्रकार वह यदि एक ओर व्यक्तित्त्व पर बल देने के कारण व्यक्तिवादी हो सकता है तो दूसरी ओर जनसामान्य के भावों की अभिव्यक्ति उसे जनवादी बनाती है। दोनों में संतुलन बनाने के लिए स्वच्छन्दतावाद ने एक नियम बनाया कि अनुभूति तो कवि की निजी ही होगी, लेकिन उसे उसकी अभिव्यक्ति लोकसामान्य के धरातल पर करनी चाहिए, जिससे वह विशिष्ट होकर भी उसकी अपनी न रहे, बल्कि जनसामान्य की अपनी हो जाए।

सीमा

स्वच्छन्दतावाद के स्वरूप के साथ उसकी सीमाओं पर भी विचार कर लेना चाहिए। कुछ विचारकों को यह शब्द ही उपयुक्त नहीं लगा है। उनके मतानुसार स्वच्छन्दतावाद का अर्थ प्रत्येक व्यवस्था, नियम-सिद्धान्त, परम्परा और मान्यता का उल्लंघन करना है। निश्चय ही यह द ष्टि पूर्वाग्रह से ग्रस्त है, इसे स्वस्थ दर्शन नहीं कहा जा सकता। कुछ आलोचकों ने कल्पना की अतिशयता के प्रति भी अपनी शंका प्रदर्शित की है, जो बहुत कुछ सत्य भी है। इन कवियों ने कल्पना के बल पर अपनी अनुभूतियों की मनोरम अभिव्यक्ति की है और प्रक ति के अत्यन्त हृदयग्राही चित्र अंकित किए हैं, लेकिन उसकी अतिशयता से कवि धीरे-धीरे अनुभूतियों से हटता जाएगा और पूर्णतः कल्पना-जगत में ही विचरण करने लगेगा। फलतः वह ऐसे काल्पनिक चित्र अंकित करेगा, जिनका यथार्थ से कोई सम्बन्ध ही नहीं होगा। उसकी स्थिति उस दरिद्र भिक्षुक जैसी हो जाएगी, जो स्वप्न में अपने को राजमहल में सभी सुख-सम द्धियों से परिपूर्ण पाता है और आँखें खुलते ही अपने को सड़क पर पूर्ण विपन्नता के साथ पड़े हुए। यह प्रव त्ति निश्चय ही काव्य के लिए लाभकर नहीं होगी। अतः यह आलोचना निराधार नहीं है।

स्वच्छन्दतावाद निश्चय ही पुरातन रूढ़िवाद जीवनदर्शन के प्रति एक स्वस्थ प्रतिक्रिया थी, लेकिन अतिवाद ने उसके भूषणत्व को दूषणत्व में परिणत कर दिया। यह वह आसव है, जिसका उचित मात्रा में सेवन मानव को स्वस्थ बनाता है, लेकिन मात्राधिक्य मानव में अजीर्ण उत्पन्न करके उसे उतना ही अशक्त एवं अस्वस्थ भी बना सकता है। स्वच्छन्दतावादी प्रव त्तियों के साथ ऐसा ही हुआ। जब तक कवियों ने कल्पना के बल पर अनुभूतियों एवं प्रक ति के मनोरम चित्र अंकित किए, वे जनसमर्थन प्राप्त करते रहे और जब उन्होंने शुद्ध काल्पनिक जगत में भ्रमण करना प्रारम्भ कर दिया और काव्य-जगत्, यथार्थ जगत् से नितान्त असम्प क्त हो गए तो जनता ने उनका साथ छोड़ दिया।

शक्ति

भारतीय साहित्य में इस प्रकार का वाद-सापेक्ष विवेचन नहीं मिलता। यद्यपि संस्क त-साहित्य में

वाल्मीकि, कालिदास आदि कवियों ने काव्य में प्रकृति-चित्रण को विशेष महत्त्व दिया है और उसे पूर्णतः मानव-जीवन से सम्प क्त करके देखा है, लेकिन वे किसी वाद जैसी विचारधारा से प्रेरित एवं निर्देशित नहीं रहे हैं। पाश्चात्य स्वच्छन्दतावाद का प्रभाव हिन्दी में छायावाद के उदय एवं उसकी प्रव त्तियों पर काफी दिखाई देता है। स्वच्छन्दतावादी काव्य के समान छायावादी काव्य भी रीतिकालीन श ंगार वर्णन एवं द्विवेदी युगीन इतिव त्तात्मकता के विरुद्ध उत्पन्न हुआ है। इन कवियों ने भी वैयक्तिक आधार पर विद्रोह किया है और अभिव्यक्ति की रूढ़ पद्धति के स्थान पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यंजना को विशेष महत्त्व दिया है। अत्यधिक प्रक ति प्रेम, मानवतावाद और स्वच्छन्द अभिव्यक्ति- ये तीन ऐसी प्रव त्तियाँ हैं, जो स्वच्छन्दतावाद और छायावाद दोनों में समान रूप से मिली हैं। छायावाद में कुछ नूतन प्रव त्तियाँ अवश्य जाग्रत हुई हैं; जैसे- नारी की महत्ता, राष्ट्र प्रेम, सांस्क तिक गरिमा का चित्रण आदि। इसके कारण युगीन परिवेश में ही खोजे जा सकते हैं। छायावाद में कविवर सुमित्रानन्दन पन्त स्वच्छन्दतावाद से सर्वाधिक प्रभावित जान पड़ते हैं, जो न केवल प्रक ति के साथ एकाकार हो जाना चाहते हैं, बल्कि उन्हें प्रक ति-सौन्दर्य के समक्ष मानव-सौन्दर्य भी हीन प्रतीत होता है-

''छोड़ द्रुमों की म दु छाया,

तोड़ प्रक ति से भी माया,

बाले! तेरे बाल जाल से कैसे उलझा दूँ लोचन?

भूल अभी से इस जग को!

तजकर तरल तरंगों को,

इन्द्रधनुष के रंगों को,

तेरे भ्रूभंगों में कैसे बिंधवाहू निज म ग-सा मन?

भूल अभी से इस जग को!''

- सुमित्रानन्दन पन्त : पल्लव, प ० ८६

अभिव्यंजनावाद

अभिव्यंजनावाद के प्रवर्तक बेनेदेत्तो क्रोचे (Benedetto Croce) मूलतः आत्मवादी दार्शनिक हैं। उनका उद्देश्य साहित्य में आत्मा की अन्तः सत्ता स्थापित करना था। इनसे पूर्व काण्ट ने मन तथा बाह्य जगत् के तादात्म्य और समन्वय का प्रतिपादन करते हुए द श्य जगत् की उपेक्षा की और हीगेल ने काण्ट की मान्यता स्वीकार करते हुए द श्य जगत् को भी महत्त्व प्रदान किया। इसके विपरीत क्रोचे ने केवल मानसिक प्रक्रिया को ही महत्त्व दिया है। उनकी द ष्टि में बाह्य उपकरण गौण साधन मात्र हैं।

क्रोचे का अभिव्यंजनावाद कला के मूल तत्त्व की खोज का प्रयास है। कला का वास्तविक तत्त्व क्या है अथवा उसकी आत्मा क्या है? इस विषय में क्रोचे ने अपना गम्भीर विवेचन प्रस्तुत किया है, जो सूक्ष्म भी है। क्रोचे के समस्त सौन्दर्य-विवेचन में आत्म-तत्त्व प्रतिष्ठित है। यह आत्म-तत्त्व कलाकार की चेतना है। इस आत्म-तत्त्व को क्रोचे ने आन्तरिक अभिव्यक्ति कहा है, जो इस जगत् में मुख्य रूप से दो प्रकार की प्रतिक्रिया करता है।

मानसिक व्यापारों की कोटियाँ

क्रोचे के अनुसार मानसिक या ज्ञान की क्रियाओं के दो भेद हैं- सैद्धान्तिक या मानसिक और व्यावहारिक। इन्हीं को क्रोचे ने क्रमशः सांसारिक ज्ञान बोध (Knowledge) और सांसारिक क्रियाएँ (Action) कहा है।

कलाकार की मानसिक शक्ति या उसका सांसारिक बोध दो प्रकार से व्यक्त होता है। एक प्रकार सहज बोध का है, जो भावात्मक है। इसमें तर्क का आश्रय नहीं लिया जाता, अपितु हृदय की सहज गति को अंकित करने का प्रयास रहता है। इसे क्रोचे ने सहजानुभूति या अन्तःप्रज्ञात्मक (Intuitive) कहा है। इसी सहजानुभूति (स्वयं प्रकाश्य ज्ञान) से कला का जन्म होता है।

मानसिक बोध का दूसरा प्रकार बुद्धि प्रधान है। इसमें व्यक्ति विचार या तर्क द्वारा जगत् के रहस्यों को समझता है और उनके विषय में अपनी धारणा बनाता है। इसे क्रोचे ने तर्कज्ञान (Conceptual) कहा है।

व्यावहारिक क्रिया पक्ष के भी दो प्रकार हैं- एक आर्थिक (Economical) और दूसरा नैतिक (Moral)। आर्थिक का अर्थ है उपयोगिता तथा नैतिक का अर्थ है जीवन और जगत् के व्यवहारों का सामाजिक द ष्टि से मूल्यांकन।

इनमें सहजानुभूति क्रिया ही प्रमुख हैं। वही क्रोचे के कला-विवेचन का आधार प्रस्तुत करती है। ये चार व्यापार निम्नलिखित हैं-

(1) **सहज-ज्ञान** (Intuitive)

(2) **तर्क-ज्ञान** (Logical)

(3) **आर्थिक** (Economical)

(4) **नैतिक** (Moral)

सहज-ज्ञान और अभिव्यंजना

सहज-ज्ञान या अन्तःप्रज्ञा और अभिव्यंजना का अभिन्न सम्बन्ध है। जहाँ सहज ज्ञान होगा वहाँ अभिव्यंजना अवश्य होगी। सहज-ज्ञान अभिव्यंजना के बिना या अभिव्यंजना सहज-ज्ञान के बिना सम्भव नहीं है। क्रोचे ने 'अभिव्यंजना' शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया है, जो शाब्दिक अभिव्यंजना के बोध के साथ-साथ रेखा, स्वर, गीत आदि सभी माध्यमों का बोधक है। जिसे चित्र, संगीत, न त्य आदि को किसी भी रूप में अभिव्यंजना होती है।

जो सहज-ज्ञान अभिव्यंजना का रूप धारण नहीं कर सकता वह वास्तव में सच्चा प्रतिभ-ज्ञान नहीं है, वह केवल प्राक तिक तथ्य और संवेदन बनकर रह जाता है।

"Every true intuition is also expression. That, which does not objectify itself in expression, is not intuition but sensation and more natural fact."

उदाहरणार्थ, जब कोई चित्रकार किसी वस्तु की झलक मात्र देखता है तो हम यह नहीं कह सकते कि उसे सहज-ज्ञान हुआ है। हम सहज ज्ञान की उपलब्धि तब मानेंगे जब वह उसका प्रत्यक्षीकरण कर लेगा अर्थात् जब वह अपने अन्तर्मन में उसे पूरी तरह अभिव्यक्त कर लेगा। इस प्रकार क्रोचे सहजानुभूति को आन्तरिक अभिव्यंजना या आन्तरिक रूप-रचना मानता है, जो सौन्दर्य-तत्त्व को जन्म देती है। वह उसे आत्मा का अभिव्यंजनात्मक कर्म मानता है। इसी कर्म के द्वारा कलाकार भावनाओं तथा संवेगों के आवेग को नियंत्रण में रखता है और प्रभावों को बिम्बों में अभिव्यक्त कर स्वयं उनसे मुक्त हो जाता है। अतः क्रोचे सहजानुभूति को ही अभिव्यंजना मानता है। यह अभिव्यंजना आन्तरिक होती है, बाह्य नहीं।

सौन्दर्य-ज्ञान की व्याख्या करते हुए क्रोचे ने कलात्मक निर्माण की चार श्रेणियां स्थिर की हैं-

(1) **अन्तःसंस्कार** (Impression) - जब द्रष्टा किसी वस्तु को देखता है तो उसके चित्त पर कुछ संस्कार पड़ते हैं।

(2) **अभिव्यंजना** (Expression) - इन संस्कारों के जाग त होने पर मन-ही-मन इनकी आन्तरिक अभिव्यक्ति होने लगती है, जो अभिव्यंजना कहलाती है।

(3) **आनुषंगिक आनन्द** (Pleasure) - द्रष्टा के मन में सौन्दर्य-बोध से एक प्रकार के आनन्द की उत्पत्ति होती है।

(4) **अभिव्यक्ति** (Translated Beauty) - जब अभिव्यंजना आन्तरिक न रहकर शब्दों आदि के माध्यम से स्थूल रूप में अभिव्यक्त होती है।

किन्तु दूसरी श्रेणी में आने वाली आन्तरिक अभिव्यक्ति ही सच्ची अभिव्यंजना है, क्योंकि क्रोचे इसी को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करता है। क्रोचे का कवि कोई भाषा नहीं बोलता अपितु मन-ही-मन जो मूर्तिमान होता रहता है, वह उसका आनन्द उठाता है।

लेकिन जब तक बाह्य अभिव्यक्ति नहीं होती तब तक संसार में कविता का जन्म नहीं होता। वैसे भी सामान्य भाषा में अभिव्यंजना से प्रयोजन शब्दों द्वारा अभिव्यक्ति से ही है। कला में शब्दों के अतिरिक्त अभिव्यंजना के अन्य माध्यम भी होते हैं; जैसे- रंग, पत्थर आदि।

किन्तु अभिव्यंजना सिद्धान्त की मान्यता है कि बाह्य प्रकाशन अथवा सम्प्रेषण के बिना ही अभिव्यंजना की सम्पूर्ण क्रिया सम्पन्न हो जाती है।

सहजानुभूति और अन्य मानसिक व्यापार

क्रोचे के सौंदर्य-दर्शन में केन्द्रीय तत्त्व है सहज-ज्ञान। उन्होंने पूर्ववर्ती इस धारणा का खण्डन किया कि बिना बुद्धि के सहज-ज्ञान सम्भव नहीं। सच तो यह है कि बौद्धिक तत्त्व भी सहज-ज्ञान में घुल-मिलकर उसी का रूप ग्रहण कर लेते हैं।

इसी प्रकार सहज ज्ञान और प्रत्यक्ष ज्ञान में भी भेद है। प्रत्यक्ष-ज्ञान का सम्बन्ध वास्तविक-अवास्तविक तथा देश-काल में रहता है, जबकि सहज-ज्ञान इनका भेद नहीं करता। सहज-ज्ञान की सीमा प्रत्यक्ष वस्तुओं तक ही नहीं अपितु दिशा और काल की परिधि से भी आगे तक स्पष्ट है।

सहज-ज्ञान और संवेदना में भी स्पष्ट अन्तर है, क्योंकि संवेदनाएँ (Sensation) समुचित बिम्ब अर्थात् रूप (मूर्ति) की स ष्टि नहीं कर पातीं, वह सहज-ज्ञान नहीं समझी जा सकतीं। सहज-ज्ञान प्रभावों की सक्रिय अभिव्यंजना है, जबकि संवेदना यांत्रिकता है, निष्क्रियता है। अतः सहजानुभूति ही अभिव्यंजना है। स्कॉट जेम्स का कथन है कि ''क्रोचे के दर्शन के अनुसार कला कुछ नहीं, सहजानुभूति अथवा मानव-प्रभावों की अभिव्यक्ति है।'' इस प्रकार सहज ज्ञान अन्य मानसिक व्यापारों से भिन्न है।

सहज-ज्ञान और कला

कला का सम्बन्ध सहजानुभूति से है। जिस समय सहजानुभूति जाग त होकर अभिव्यंजित होने लगती है तभी कला जन्म लेती है। क्रोचे के अनुसार कला की अभिव्यक्ति के लिए इतनी प्रक्रिया पर्याप्त है। सामान्यतः जब हम कला की चर्चा करते हैं तो हमारा अभिप्राय लिखित क तियों अथवा रचनाओं से होता है। किन्तु क्रोचे जब कला की चर्चा करता है तो उसका अभिप्राय आन्तरिक अभिव्यक्ति से होता है, जिसका बाह्य अभिव्यक्तिकरण नहीं होता। जब सहजानुभूति स्फुरित होती है तो वह अभिव्यंजना के द्वारा कला में परिणत हो जाती है। यह पूरी प्रक्रिया आन्तरिक है, अर्थात् कला की स ष्टि तथा सिद्धि कलाकार के भीतर होती है, बाहर नहीं, क्योंकि- "The work of art (the aesthetic work) is always internal. And that is called external is no longer a work of art." अतः कला की स ष्टि ही नहीं, उसकी सत्ता भी बाहर नहीं है।

क्रोचे के अनुसार कला आन्तरिक होने के साथ-साथ अखण्ड है, क्योंकि अन्तःप्रज्ञा या सहजानुभूति अखण्ड होती है। जब सहजानुभूति अखण्ड होगी तो उसकी अभिव्यंजना भी अखण्ड होगी, तब स्वभावतः कला भी अखण्ड होगी। वस्तुतः क्रोचे का अभिप्राय यह है कि कोई भी काव्य, चित्र या मूर्ति अपने पूर्ण, अखण्ड, अविभक्त रूप में ही कवि के मन में स्फुरित होती है और उस स्फुरण में ही वह अभिव्यंजना या कलात्मक रूप ग्रहण कर लेती है। बाद में कवि उस अन्तःस्थित रूप को कागज पर केवल लेखनीबद्ध करता है। इसलिए जिस कलाकार का प्रत्यक्षण एवं संवेदन जितना व्यापक, सूक्ष्म और सम द्ध होता है उसकी कला उतनी ही उत्क ष्ट, मनोरम तथा प्रभावशाली होती है। अतः क्रोचे के अनुसार-

(1) सहज-ज्ञान और अभिव्यंजना में अभेद है।

(2) प्रत्येक सहज-ज्ञान कला है।

(3) कला-स ष्टि केवल आन्तरिक है।

(4) कला वस्तु में नहीं अपितु रूप में है।

(5) कला अखण्ड है।

प्रश्न उठता है कि अभिव्यंजनावाद में कलागत बाह्य प्रकाशन और सम्प्रेषण का क्या स्थान है? क्रोचे बाह्य-प्रकाशन चित्र, काव्य, मूर्ति आदि को 'स्मरण दिलाने में सहायक' अथवा 'उत्तेजना प्रदान करने वाला' मानता है। इसके द्वारा कलाकार फिर से उस सहज-ज्ञान को या उस क्षण की अनुभूति को लौटा लाता है जब उसके मन में उस सौन्दर्य का प्रादुर्भाव हुआ था। अतः बाह्य अभिव्यक्ति केवल व्यावहारिक उपयोग के लिए है। यही कारण है कि कला के सामाजिक उपयोग एवं सहृदय सम्वेध होने के लिए बाह्य प्रकाशन का आश्रय लेना पड़ता है। किन्तु बाह्य प्रकाशन की समस्त प्रक्रिया ज्ञान की अपेक्षा इच्छा-शक्ति से निकटतर सम्बन्ध रखती है। दूसरों के आनन्द के लिए, नैतिक परिवार के लिए, आलोचक के मन में पुनराव त्ति के लिए अभिव्यंजना का बाह्य निरूपण के रूप मे होना उसे गौण बना देता है।

अभिव्यंजनावाद में बाह्य प्रकाशन की व्यावहारिक उपयोगिता को तो माना गया है, किन्तु कला के मौलिक स्वरूप में उसका कोई उसका स्थान नहीं है। अभिव्यंजना ज्ञान-रूप है और बाह्य प्रकाशक कर्म-रूप। बिना ज्ञान के कर्म असम्भव है, किन्तु ज्ञान का अस्तित्व कर्म पर आश्रित नहीं रहता। वह अपने में ही परिपूर्ण है। निष्कर्षतः-

(1) अभिव्यंजना सिद्धान्त की स्वीक ति के उपरान्त ऐसी समस्त आलोचना, जो शिल्प-विधान और शैलीगत विशेषताओं पर आद्ध त है, अनावश्यक प्रतीत होने लगी।

(2) क्रोचे ने साहित्यिक वर्गीकरण को अमान्य घोषित कर दिया। उन्होंने अभिव्यंजना को अखण्ड मानते हुए कला के क्लासिकल, रोमांटिक, प्राचीन, अर्वाचीन आदि भेदों को निरर्थक बताया। वस्तुतः अभिव्यंजना के रूप को कोटियों, विधाओं और शैलियों में वर्गीक त करके बांध देना न तो न्यायसंगत है और न वांछनीय।

अभिव्यंजना और सौन्दर्य

क्रोचे ने सौन्दर्य जैसे विवादास्पद विषय को भी सरल ढंग से समझाते हुए कहा है- ''सफल अभिव्यक्ति का ही दूसरा नाम सौन्दर्य है अथवा ''सफल'' विशेषण भी अनावश्यक है, केवल अभिव्यंजना को ही सौन्दर्य के नाम से जानना चाहिए, क्योंकि जो अभिव्यंजना सफल नहीं होती उसे अभिव्यंजना की संज्ञा नहीं दी जा सकती।'' "Beauty is successful expression, or rather as expression and nothing

more, because expression when it is not successful it is not expression." क्रोचे की मान्यता है कि कला अन्तर की भावना या सहज-ज्ञान है और कलात्मक वस्तु का अस्तित्व उसके अभिव्यंजित होने में है। किसी कविता या सुन्दर प्राक तिक द श्य को हम उस समय सुन्दर मानते हैं जब हमारी भावनाएँ उसमें अभिव्यंजित होती हैं तथा हम उन वस्तुओं में अपनी भावनाओं की अभिव्यंजना करते हैं। कलाकार अपनी कलाक ति द्वारा अपनी भावनाओं को अभिव्यंजित करता है। उसका आनन्द लेने वाला वही हो सकता है जिसमें वह भावना विद्यमान है।

क्रोचे के अनुसार किसी कलाकार के काव्य अथवा शिल्प में ही सौन्दर्य की यथार्थ अभिव्यक्ति होती है। प्रक ति में कोई सौन्दर्य नहीं है और न सौन्दर्य की बाह्य सत्ता है। वस्तुतः सौन्दर्य-बोध ही सुन्दर होता है। अतः बाह्य वस्तु को सुन्दर कहना 'सुन्दर' शब्द का लाक्षणिक प्रयोग मानना चाहिए।

क्रोचे के मतानुसार सौन्दर्य सहज-ज्ञान की अभिव्यक्ति है। चूँकि सहज-ज्ञान और अभिव्यंजना अभेदात्मक हैं इसलिए यह भी कहा जा सकता है कि सौन्दर्य सहज-ज्ञान है अथवा सौन्दर्य ही अभिव्यंजना है। इस प्रकार क्रोचे सौन्दर्य को सहज ज्ञान या अन्तर का धर्म मानता है। इसलिए उसकी बाह्य अभिव्यक्ति मानने में उसे संकोच है।

क्रोचे का मत है कि प्रत्येक व्यक्ति में कलाकार का अंश अवश्य रहता है। इसका अभिप्राय है कि प्रत्येक व्यक्ति में संवेदन-शक्ति है, उसमें सहजानुभूति और अभिव्यंजना की क्षमता है। साधारण व्यक्ति की अपेक्षा कलाकार में यह सहजानुभूति प्रखर होती है।

इस मत के अनुसार साहित्यालोचक कलाक ति का अध्ययन और मूल्यांकन तर्क से नहीं करता, अपितु उसके अध्ययन में अपनी भावना या अनुभूति का आश्रय होता है। वह कलाक ति में निहित अन्तर्द ष्टि या सहजानुभूति को हृदयंगम करता है। इस प्रकार आलोचक भी कलाकार-सिद्ध होता है। कलाक ति पर निर्णय देने के क्षण में आलोचक अपनी अनुभूति द्वारा कवि की आत्मा से एकीकरण स्थापित कर लेता है। इस प्रसंग में डॉ० सावित्री सिन्हा का मत उल्लेखनीय और विचारणीय है। उनकी धारणा है कि ''सहजानुभूति पण्डित रामचन्द्र शुक्ल की मुक्तावस्था के निकट है। शुक्लजी ने माना है कि कविता की रचना करते समय कवि और कविता का रसास्वादन करते समय पाठक हृदय की मुक्तावस्था को प्राप्त करते हैं। शुक्लजी के विचार में काव्य-रचना अथवा काव्यास्वादन के समय व्यक्ति इतना भाव-विभोर हो उठता है कि वह अपने शरीर तथा शरीर-सापेक्ष सम्बन्धों की चिन्ता को कुछ समय के लिए स्वतः बिसार देता है। उसका शरीर-बुद्धि दोनों क्षीण हो जाते हैं, उसका अन्तःकरण आत्मा के सहज गुणों को ग्रहण करने लगता है। आत्मा के व्यापक और आनन्दमय होने के कारण उस क्षण व्यक्ति का हृदय व्यक्तिगत सीमाओं को पार करके व्यापक हो जाता है और अपूर्व आनन्द की अनुभूति प्राप्त करने लगता है। संक्षेप में मुक्तावस्था का अर्थ हुआ- हृदय की व्यापकता और आनन्दोपलब्धि।

डा० सिन्हा के मत को यदि स्वीकार किया जाए तो कलाकार या व्यक्ति सहजानुभूति की स्थिति में अपनी सीमाओं को भूल जाता है और उसकी अनुभूति इतनी प्रखर हो उठती है कि वह एकाग्र होने के कारण आनन्द की उपलब्धि करता है।

मूल्यांकन

क्रोचे के अभिव्यंजनावाद की साहित्यिक द ष्टि से उपयोगिता विचारणीय है। क्रोचे ने काव्य के मूल तत्त्वों और कवि के मानस में काव्य-स जन की प्रक्रिया का दिग्दर्शन इस सिद्धान्त द्वारा किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार काव्य के रसास्वादन और आलोचना में भी उस आत्म-तत्त्व के हृदयंगम करने पर बल दिया गया है। जहाँ तक काव्य की आत्मा और इसकी रचना-प्रक्रिया का सम्बन्ध है, यह सिद्धान्त बड़ा मूल्यवान है।

किसी भी अनुभूति या कला का प्रकाशन कलाक ति के रूप में हो रहा है और वह सामाजिक व आलोचक के लिए सम्वेध बनते हैं, ऐसी स्थिति में सामाजिक के मध्य प्रेषण का माध्यम कलाक ति ही है। कला के सम्बन्ध में विचार करते समय कलाक ति की नितान्त उपेक्षा नहीं की जा सकती, भले ही कलाक ति के बाह्य रूप का इस सम्पूर्ण स्थिति में गौण महत्त्व क्यों न हो। इस बात को स्पष्ट करने के लिए मनुष्य की उपमा दी जा सकती है। मनुष्य में आत्म-तत्त्व या प्राण-तत्त्व ही प्रमुख है, इसके बिना उसके अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती है। किन्तु फिर भी मनुष्य के शारीरिक-तत्त्व की कदापि उपेक्षा नही की जा सकती। मनुष्य का शरीर भले ही गौण महत्त्व का हो किन्तु उस शरीर के बिना उसमें निहित आत्म-तत्त्व का प्रकाशन असम्भव है। शरीर के बिना प्राण-तत्त्व अपने अस्तित्व को व्यक्त नहीं कर सकता।

अतः स्पष्ट है कि क्रोचे के सिद्धान्त में कलाक ति के शिल्प-विधान की चर्चा को अनावश्यक समझकर अस्वीकार किया गया है। शिल्प अभिव्यंजना का अनिवार्य पक्ष है। इस पर यदि विचार नहीं किया जाएगा तो आत्म-तत्त्व की अभिव्यक्ति और उसे हृदयंगम करने की विधि में असुविधा होगी। क्रोचे के अनुसार शैलीगत विशेषताओं के आधार पर कलाकार की आलोचना निरर्थक होगी।

यह सही है कि उपयोग और औचित्य का सम्बन्ध मूलतः सौन्दर्य या अभिव्यंजना से नहीं है। फिर भी जब काव्य-कला बाह्य प्रकाशन प्राप्त करके कलाक ति का रूप धारण करती है, उस समय जीवन के सहज नियम उपयोगिता और औचित्य उसके स्वाभाविक अंग बन जाते हैं। इस तथ्य की क्रोचे ने अवहेलना की है। जैसा कि कहा गया है, क्रोचे का यह सिद्धान्त बड़े महत्त्व का है, किन्तु यह नितान्त आत्मगत हो जाने के कारण एकांगी हो गया है।

अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्तिवाद

हिन्दी में क्रोचे के सिद्धान्त को लेकर काफी भ्रम फैला है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अभिव्यंजना को 'भारतीय वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान' कहकर उसे 'वाग्वैचित्र्यवाद' की संज्ञा दी। शुक्ल जी के इस कथन के बाद से आचार्य कुन्तक के वक्रोक्तिवाद के साथ क्रोचे के अभिव्यंजनावाद की तुलना करने की परम्परा चल पड़ी है। किन्तु यह उचित प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः क्रोचे के अभिव्यंजनावाद में उक्ति वैचित्र्य नहीं है, इसे वक्रोक्तिवाद कहना भी गलत है।

संस्क त के प्रसिद्ध आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा माना है। वक्रोक्ति से उनका अभिप्राय कथन की वक्रता से है। कुन्तक और क्रोचे के सिद्धान्तों में कुछ साम्य अवश्य है, परंतु वैषम्य कहीं अधिक है, जो संक्षेप में इस प्रकार है-

साम्य

(1) क्रोचे और कुन्तक दोनों अभिव्यंजना को काव्य का प्राण-तत्त्व मानते हैं। इस द ष्टि से दोनों कलावादी आचार्य हैं।

(2) दोनों आचार्यों ने काव्य में कल्पना-तत्त्व को प्रमुखता प्रदान की है।

(3) दोनों आचार्य अभिव्यंजना अथवा उक्ति को मूलतः अखण्ड, अविभाज्य और अद्वितीय मानते हैं।

(4) दोनों आचार्य अभिव्यंजना अथवा सौन्दर्याभिव्यंजना में श्रेणियां नहीं मानते। अभिव्यंजना सफल होती है, कम या अधिक सफल नहीं।

वैषम्य

(1) क्रोचे और कुन्तक में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि मूलतः कुन्तक आलंकारिक आचार्य हैं,

जबकि क्रोचे दार्शनिक। दोनों के द ष्टिकोण में मौलिक अन्तर है।

(2) कुन्तक आनन्द को सौन्दर्य की सिद्धि ही नहीं, अपितु कारण भी मानते हैं, जबकि क्रोचे के अनुसार सौन्दर्य और उसकी प्रतिरूप अभिव्यंजना अपना उद्देश्य आप ही है।

(3) क्रोचे की अपेक्षा कुन्तक के सिद्धान्त में वस्तु-तत्त्व की स्वीक ति अधिक गहती है।

(4) क्रोचे के अभिव्यंजनावाद में नीति-अनीति का प्रश्न ही नहीं उठता, जबकि वक्रोक्तिवाद भारतीय दर्शन और विचार-परम्परा के अनुरूप नीतिवादिता नहीं त्याग सका।

(5) क्रोचे के अनुसार काव्य की सहजानुभूति है, जबकि कुन्तक के अनुसार कवि-व्यापार।

(6) कुन्तक वक्रता और वार्ता में स्पष्ट भेद मानते हैं, जबकि क्रोचे उक्ति को कला का मूलाधार मानते हैं, किन्तु वक्रता और वार्ता आदि का भेद नहीं मानते।

मार्क्सवाद

काल मार्क्स (Karl Marx) वस्तुतः अपने समय के काव्यशास्त्रीय समीक्षक अथवा चिन्तक की अपेक्षा महान् राजनीतिज्ञ और क्रान्तिकारी विचारों के उन्नायक थे। उन्होंने जिस समाजवादी विचारधारा को जन्म दिया, उसका स्वरूप इतना व्यापक था कि कला अथवा साहित्य भी उसकी सीमा के बाहर न रह सके। उनका समाजवाद सम्पूर्ण मानव-जीवन से सम्बन्धित था, इसलिए उसने जीवन के सभी क्षेत्रों को प्रभावित किया।

मार्क्स की महान् कृति है- 'दास केपिटल', जो द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism) पर आधारित है। कार्ल मार्क्स का समाजवाद भी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की स ष्टि है। इस वाद का मूलाधार है-वर्ग-संघर्ष। कला और साहित्य के क्षेत्र में प्रगतिवादी विचारधारा का जन्म इसी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से हुआ है।

मार्क्स की दार्शनिक मान्यता

मार्क्स ने अपनी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की मान्यता के आधार पर स्पष्ट किया है कि मानवीय जीवन और इतिहास के मूल में आर्थिक और वर्ग-भेद प्रमुख हैं। उत्पादन और वितरण के साधनों में समाज और संस्क ति में परिवर्तन होता है। इस द ष्टि से व्यष्टि की अपेक्षा समष्टि का महत्त्व अधिक है तथा वर्ग-संघर्ष प्रगति का स्रोत है। इस आधार पर मार्क्स ऐसे समाज की कल्पना करते हैं जो वर्ग और आर्थिक विषमता से रहित हो। उनका विश्वास है कि ऐसी ही समाज-व्यवस्था में वास्तविक मूल्यों की स्थापना हो सकती है। साहित्य, कला, ज्ञान और विज्ञान आदि सभी इसी आर्थिक और वर्ग-व्यवस्था पर आधारित है। मार्क्स के अनुसार पूँजीवादी अर्थव्यवस्था अपने अन्तर्विरोधों के कारण नष्ट हो जाती है और इसका स्थान सर्वसहारा वर्ग द्वारा संचालित व्यवस्था ग्रहण कर लेती है। मार्क्स ने विकास की इस प्रक्रिया को पदार्थ के स्तर पर स्वीकार किया है और इसे आर्थिक व्यवस्था के रूप में मानते हुए स्थूल एवं गोचर परिस्थितियों तथा उनके संघर्ष के आधार पर मानव-संस्कृति के विकास की व्याख्या का प्रयास किया है। उन्होंने इसके लिए गेहूँ के पौधे का तथा जड़ प्रकृति के लिए चट्टानों का उदाहरण दिया है, जिसमें वाद (Thesis), प्रतिवाद (Anti-thesis) एवं संवाद (Synthesis) के मेल से यह विकास-क्रम ऊर्ध्वगामी होता है। इस प्रक्रिया के अनुसार ही मानव-समाज के सभी क्षेत्रों में परिवर्तन और विकास होता रहता है।

कला और साहित्य विषयक मान्यताएँ

मार्क्स की मान्यता के अनुसार, ''भौतिक जीवन की उत्पादन-पद्धति से सामान्य सामाजिक, राजनीतिक

और बौद्धिक जीवन की प्रक्रियाएं निरूपित होती हैं। यही कला के उद्‌गम का भी आधार है। मानव-अस्तित्त्व उसकी चेतना से निर्धारित नहीं होता, अपितु उसके विपरीत उसका सामाजिक अस्तित्त्व उसकी चेतना को निरूपित करता है।'' इससे स्पष्ट है कि मार्क्स मानव की सामाजिक स्थिति को चेतना का आधार मानते हैं। सामाजिक स्थिति का अर्थ है- आर्थिक स्थिति। यही सम्पूर्ण मानवीय जीवन का आधार है। युग की कसौटी मानव-चेतना नहीं, अपितु भौतिक जीवन के अन्तर्विरोध, उत्पादन की सामाजिक शक्तियों तथा उत्पादन सम्बन्धों का वर्तमान संघर्ष है।

लेलिन के अनुसार- "Literature like all products of the human mind is ultimetely determined by the society's economic relationship; its means of material production."

मार्क्स के अनुसार, ''साहित्ययुगीन अर्थव्यवस्था और उससे विकसित सामाजिक तन्त्र की अभिव्यक्ति है।'' इस प्रकार साहित्य प्रचार का साधन है। इसकी उपयोगिता इसकी चेतना के आधार पर है। **मार्क्स का कथन है-** "Philosophers have only interpreted the world in various ways, the point is... to change it."

साहित्य सामाजिक जीवन की व्याख्या और समीक्षा से आगे बढ़कर बुनियादी बदलाव का साधन बनकर मानव-मुक्ति के संघर्ष की व्यापक प्रक्रिया का अंग बन सकता है।

वस्तुतः साहित्य मनुष्य की सामाजिक चेतना और सामाजिक चिन्ता की देन है। इसलिए उसमें मानव-जीवन की वास्तविकता और सम्भावना की अभिव्यक्ति होती है। वह यथार्थ और चेतना के सम्बन्ध-बोध का माध्यम ही नहीं, सामाजिक चेतना के निर्माण और सामाजिक जीवन की रूपान्तरणशीलता का साधन भी है। इस द ष्टि से साहित्य मानव-समाज के विकास का परिणाम और प्रमाण भी है। वह मनुष्य की सामाजिक चेतना की उपज है और सामाजिक चेतना को उपजाने वाला भी। साहित्य शोषक समाज व व्यवस्था के विरुद्ध मुक्तिगामी वर्ग के वैचारिक संघर्ष का एक शक्तिशाली माध्यम और हथियार भी होता है।

साहित्य में आत्माभिव्यक्ति

मार्क्स साहित्य में कलाकार या रचनाकार की स्वतन्त्रता के विरोधी हैं। उनके अनुसार व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का सिद्धान्त असंगत और भ्रान्तिपूर्ण है। मार्क्स का कथन है- ''जो लेखक अपने लेखन को व्यावसायिक बनाता है, उसे भौतिक जरूरतों का साधन समझता है, वह अपनी आन्तरिक स्वतन्त्रता के अभाव में बाहरी स्वतन्त्रता से भी वंचित किए जाने के काबिल होता है।

(प्रेस की स्वतन्त्रता सम्बन्धी बहस से, प ० 174)

अतः व्यक्ति कभी भी स्वतन्त्र नहीं होता, वह तो परिस्थितियों का दास होता है। जैसी सामाजिक स्थिति होती है वैसी ही व्यक्ति की दशा होती है। व्यक्ति का निर्माण समाज के द्वारा ही होता है। व्यक्तिगत समाज की कृति है और इस व्यक्तित्त्व की कृति है साहित्य। इस प्रकार साहित्य कृति की कृति है। साहित्य में सामाजिकता अनिवार्य रूप से आती है, क्योंकि कला-स जन व्यक्तिगत चेतना का परिणाम नहीं है, वह तो सामाजिक चेतना का प्रतिफल है।

कलात्मक सर्जन और आस्वादन

मार्क्स का विचार है कि आर्थिक उत्पादन केवल आवश्यकता को संतुष्ट करने के लिए ही वस्तु उपलब्ध नहीं कराते, अपितु वे वस्तु की आवश्यकता भी उत्पन्न करते हैं। जब उपभोग अपनी आरम्भिक, बुनियादी, अपरिष्क त अवस्था और तात्कालिकता से मुक्त हो जाता है तब वह स्वयं वस्तु से उत्पन्न एक इच्छा बन जाता है। वस्तु की आवश्यकता की इच्छा वस्तु के बोध से प्रभावित होती है। इस प्रकार

एक कला-वस्तु कलात्मक अभिरुचि से सम्पन्न ऐसे पाठक और दर्शक समुदाय को तैयार करती है जो सौन्दर्यानुभूति के योग्य होता है। इस प्रकार उत्पादन केवल चेतना के लिए वस्तु ही उत्पन्न नहीं करता, अपितु यह वस्तु के लिए चेतना भी पैदा करता है, जो कलात्मक सर्जन के आस्वाद का आधार है।

साहित्यालोचन के मानदण्ड

कला-साहित्य की समालोचना के दो मानदण्ड होते हैं- राजनीतिक और कलात्मक। इस प्रकार अच्छे और बुरे के बीच प्रयोजन (मनोगत इच्छा) अथवा परिणाम (सामाजिक व्यवहार) द्वारा अन्तर कम किया जा सकता है। इनमें आदर्शवादी प्रयोजन पर बल देते हैं और परिणाम की उपेक्षा करते हैं, जबकि भौतिकवादी परिणाम पर बल देते हैं और प्रयोजन की उपेक्षा करते हैं। किन्तु मार्क्सवादी (द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी) प्रयोजन और परिणाम दोनों की एकता पर बल देते हैं। जनसामान्य की सेवा करने का प्रयोजन उसका समर्थन प्राप्त करने के परिणाम से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है, अतः इन दोनों की एकता जरूरी है। इसलिए कला या साहित्य का मूल्यांकन कलाकार या साहित्यकार के कथनों के आधार पर नहीं, बल्कि समाज में आम जनता पर उसके कार्यों का (मुख्य रूप से उसकी रचनाओं का) जो असर पड़ता है उसके आधार पर करना चाहिए।

इस प्रकार मार्क्स साहित्य के मूल्यांकन का एकमात्र मानदण्ड सामाजिक उपयोगिता को मानते हैं। उनके अनुसार साहित्य सामाजिक कृति है, अतः उसका मूल्यांकन भी सामाजिक उपयोगिता की द ष्टि से होना चाहिए।

समाजवादी यथार्थवाद

'समाजवादी यथार्थवाद' यथार्थवादी आन्दोलन का नव्यतम विकास है। इसके मूल सिद्धान्तों को निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है-

(1) समाजवादी द ष्टि के आधार पर वस्तुगत यथार्थ का उनके क्रान्तिकारी विकास की अनुरूपता में चित्र।

(2) समाज-विकास की द्वन्द्वात्मक तथा ऐतिहासिक प्रक्रिया के बीच प्रगतिशील तथा प्रतिगामी शक्तियों की परख एवं उनका चित्रण।

(3) जीवन के रचनात्मक पक्ष पर विशेष बल देते हुए सम्पूर्ण कलात्मक क्षमता के साथ उसका चित्रण।

(4) नई उभरती हुई वास्तविकता को समर्थन देते हुए जर्जर तथा ह्रासमूलक शक्तियों का विरोध।

(5) समाज में व्याप्त वर्ग-संघर्ष तथा वर्गीय असंगतियों का गहरा और सूक्ष्म विश्लेषण तथा उद्‌घाटन।

(6) मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्त्व का चित्रण तथा जीवित सक्रिय एवं सामाजिक मनुष्य की प्रतिष्ठा करते हुए सक्रिय नायक की स ष्टि करना।

(7) लेखक की भविष्य द ष्टि को मूर्त रूप देना, जो उसकी कृति के बीच से उभरती हुई समाजवादी द ष्टि को सार्थक बनाती है।

आलोचना-द ष्टि

प्रश्न उठता है पूर्वाग्रहयुक्त आलोचना द ष्टि का। क्या कोई समीक्षक पहले से एक विशिष्ट सिद्धान्त का आदर्श मानकर उसकी कसौटी पर सम्पूर्ण साहित्य को परखकर उसके साथ न्याय कर सकता

है ? क्या ऐसी समीक्षा, कृति की मूल एवं प्रधान संवेदना को ग्रहण करके सभी पक्षों को उचित महत्त्व दे सकती है? वस्तुतः यह आलोचक की निष्पक्षता का प्रश्न है। आलोचक के अपने कुछ सिद्धान्त और आदर्श होते हैं, जिन्हें वह कृति के अध्ययन में प्रयुक्त करता है। आलोचक का प्रधान दायित्व कृति के प्रति है। अपनी मान्यताओं को उपेक्षित न करते हुए भी वह कृति को केन्द्र बनाता है तथा कृतिकार एवं उसके युग को भी अपेक्षित महत्त्व देता है। इस प्रकार अपने पूर्वाग्रहों को पूर्णतः कृति पर आरोपित करना समीक्षा के क्षेत्र में अराजकता या विषमता उत्पन्न कर सकता है।

मार्क्सवादी समीक्षा-द ष्टि इतिहास-सापेक्ष होने के कारण व्यापक कार्य-क्षेत्र रखती है। इसमें उन रचनाकारों को भी उद्घाटित किया जा सकता है जो अन्य समीक्षा-पद्धतियों द्वारा उपेक्षित हो सकते हैं। जैसे- तुलसी, कबीर, भारतेन्दु आदि के साहित्य का मूल्यांकन युग-सापेक्ष द ष्टि से किया जा सकता है। अतः किसी भी लेखक को व्यक्तिगत द ष्टिकोण से नहीं परखा जा सकता।

इस प्रकार मार्क्सवादी समीक्षा-द ष्टि साहित्य में उन्हीं तत्त्वों को स्वीकार करती है और उन्हीं की समीक्षा करती है जो उसकी अपनी द ष्टि में महत्त्वपूर्ण हों। इस प्रकार इस पद्धति में चयन ही मूलाधार है। चयन की इस प्रक्रिया में जहाँ मार्क्सवादी द ष्टि अपने आपको पुष्ट करती है, वहीं सम्पूर्ण कृतित्त्व और कृति का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व छूट जाता है। इस प्रकार मार्क्सवादी समीक्षा कृतिकार और कृति के साथ पूरा न्याय नहीं कर पाती।

साहित्य के प्रयोजन या उद्देश्य

मार्क्स ने सर्वहारा वर्ग की स्थिति और उसके वर्ग-संघर्ष के उद्देश्य के संदर्भ में साहित्य के उद्देश्य पर विचार किया है। उनके अनुसार साहित्य का उद्देश्य इस प्रकार है-

(1) बुजुर्आ संस्कृति की वास्तविकता की छानबीन करना और उसकी कमजोरियों का चित्रण करना।

(2) समाज के सम्पूर्ण जीवन के साथ बुजुर्आ जीवन-पद्धति की असंगति और जीवन पद्धति के बाधक स्वरूप का उद्घाटन करना।

(3) सामाजिक सम्बन्धों की समग्रता के बीच सर्वहारा के जीवन-संघर्ष का चित्रण करना।

(4) सर्वहारा द ष्टिकोण के अनुरूप एक अधिक मानवीय संसार की रचना की कोशिश करना।

(5) सर्वहारा के सामाजिक संघर्ष का चित्रण करते हुए सर्वहारा वर्ग की एकता को मजबूत करने और उसे आगे बढ़ाने की कोशिश करना।

(6) सर्वहारा वर्ग में ऐतिहासिक दायित्व का बोध जगाना।

इस प्रकार मार्क्स के अनुसार जनवादी शक्तियों को पुष्ट करना, उन्हें संगठित और सशक्त करना, शासक वर्ग के ह्रास को, उसके आन्तरिक संघर्ष एवं खोखलेपन को, उसकी मानव-द्रोही प्रव त्ति को जीवन्त रूप देना साहित्य का प्रयोजन या लक्ष्य है। इस प्रकार के चित्रण से जनवादी शक्तियों का पक्ष प्रबल होता है और शोषक-वर्ग का पक्ष कमजोर होता है।

निष्कर्ष

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि मार्क्स कला एवं साहित्य के उन सब प्रतिमानों के तीव्र विरोधी हैं जो सर्वहारा वर्ग के हितों की रक्षा नहीं करते अथवा जो वर्ग-संघर्ष को तीव्र न बनाकर सर्वहारा वर्ग की उन्नति में बाधक बनते हैं। इसी कारण साहित्य एवं कला में प्रभाववाद, अभिव्यंजनावाद, प्रतीकवाद, कलावाद और रहस्यवाद आदि सभी वादों के मार्क्स विरोधी हैं जो विशुद्ध सौन्दर्यवादी

अथवा रूपवादी चमत्कारों एवं बौद्धिक वाग्जालों के स जन में संलग्न हैं, क्योंकि मार्क्स सभी मानवीय भावनाओं के निर्माण की प ष्ठभूमि में 'अर्थ' प्रमुख को मानते हैं।

मार्क्स के कला और साहित्य विषयक द ष्टिकोण का विश्व-साहित्य पर गम्भीर प्रभाव पड़ा है। हिन्दी का प्रगतिवादी साहित्य मार्क्सवाद की गूँज से अनुप्राणित है। इतना कुछ होते हुए भी मार्क्स की द ष्टि व्यावहारिक अधिक है, क्योंकि उन्होंने प्रत्येक कार्य को आर्थिक द ष्टि से देखा है। यद्यपि उनका यह द ष्टिकोण सही है तथापि साहित्य की यह द ष्टि एकांगी ही है, क्योंकि सर्वांगीण द ष्टि से विवेचन करने पर साहित्य का प्रधान लक्ष्य आनन्द की प्राप्ति है और इसके लिए अर्थ का प्रभुत्व व्यर्थ है। साहित्य का अपना क्षेत्र है। यद्यपि जीवन से सम्बद्ध होने के कारण उसका 'अर्थ' से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है तथापि मार्क्स की यह द ष्टि एकांगी ही कही जाएगी और यही कहा जाएगा कि मार्क्स मात्र वस्तुपरक होकर रह गए।

फ्रायडवाद (मनोविश्लेषण)

मनोविश्लेषण शास्त्र के जन्मदाता सिग्मण्ड फ्रायड (Sigmund Freud) ने युगीन सभ्यता और सामाजिक व्यवस्था से क्षुब्ध और असन्तुष्ट होकर मानव-मूल्यों के समक्ष प्रश्नचिह्न लगाते हुए यह स्पष्ट किया कि सभ्यता और संस्कृति की श्रेष्ठतम उपलब्धियाँ मनुष्य की काम-प्रव त्ति की विविध अभिव्यंजनाएँ हैं। मनुष्य के जीवन में कुछ भी मूल्यवान और धार्मिक नहीं है। मनुष्य वास्तव में काम-प्रव ृत्ति के हाथों की कठपुतली मात्र है।

फ्रायड उपचार ग ह से दर्शन की ओर बढ़े हैं तथा रोगियों का उपचार करते-करते उन्होंने व्याधियों के मूल उद्‌गम तक पहुँचकर अन्तर्मन के विज्ञान की खोज की है।

अचेतन सम्बन्धी धारणा

फ्रायड ने स्पष्ट किया है कि मन के दो भाग है- चेतन (Conscious) और अचेतन (Unconscious)। इनके बीच एक तीसरा भाग भी है, जिसकी स्थिति चेतन से कुछ पहले की है। इसे फ्रायड ने पूर्व चेतन (Pre-conscious) कहा है, जो चेतन के लिए एक प्रकार का द्वार है। चेतन की अपेक्षा अचेतन अधिक प्रबल है। इसे समझाने के लिए फ्रायड ने जल में तैरते हिमखण्ड का उदाहरण दिया है। जिसका तीन-चौथाई भाग जल में और एक-चौथाई भाग जल से ऊपर है, यह तीन-चौथाई अचेतन है और एक-चौथाई चेतन है। चेतन सामाजिक जीवन में सक्रिय रहता है और अचेतन सामाजिक स्वीकृति के अभाव में मन के अन्तःस्थल में रहकर अभिव्यक्ति के लिए संघर्ष करता है।

तीन स्तरों वाले मानस-तन्त्र को फ्रायड ने पुनः तीन अंगों में विभाजित किया है- Id, Ego और Super Ego अर्थात् इदम्, अहं और अतिअहं। ये क्रमशः अचेतन, चेतन और अधीक्षक (सेन्सर) में बहुत भिन्न नहीं है। इदम् रोगों का पुंज है। यह अत प्त वासनाओं का अंधकारमय कोष है। अहं चेतन मन है, जो सामाजिक मूल्यों के प्रति सचेष्ट रहता है। अति अहं संचित सामाजिक मान्यताओं का प्रतीक है, जिसका काम आलोचना और अधीक्षण करना है। फ्रायड के शब्दों में- "It is easy to see that the ego is that part of the id which has been modified by the direct influence of the external world acting through the perception... Moreover, the ego has the task of bringing the influence of the external world to bear upon the id and its tendencies and endeavour to suitable the reality principle for the pleasure principle which reigns supreme in the id."

अर्थात् अहं इदं का वह भाग है जिसका निर्माण ऐन्द्रिय ज्ञानमय चेतन के माध्यम से बाह्य जगत् के सम्पर्क द्वारा हुआ है। इदं का प्रेरक सिद्धान्त है- आनन्दवाद और अहं का प्रेरक सिद्धान्त है- वस्तुवाद।

फ्रायड के अनुसार जीवन की मूल व त्ति है काम, क्योंकि अचेतन जिन दमित इच्छाओं का पुंज है, वे मूलतः 'काम' के चारों ओर केन्द्रित हैं। 'काम' को फ्रायड ने लिबिडो (Libido) कहा है। मानव के व्यक्तिगत और समष्टिगत सभी कार्य-व्यापारों के मूल में काम-व त्ति (Libido) की ही प्रेरणा रहती है।

काव्य-रचना प्रक्रिया का रहस्य

फ्रायड ने कल्पना को महत्त्व दिया है। वे कवि-कल्पना को दिवा-स्वप्न मानते हैं। उनकी मान्यता के अनुसार, कवि बच्चों के समान अति-कल्पना का संसार बनाता है, जिसमें यथार्थता नहीं होती। इस कल्पनात्मक काव्य-संसार की अयथार्थता का साहित्यिक प्रविधि पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है; जैसे बच्चा वयस्क होने पर शैशव की क्रीड़ाएँ छोड़ देता है, किन्तु दीर्घावधि के बाद भी उसकी स्म ति में शैशव की क्रीड़ाएँ और उनसे प्राप्त होने वाला आनन्द बना रहता है। वह वयस्क जीवन तो ग्रहण कर लेता है किन्तु शैशवकालीन आनन्द की स्म ति से विरत नहीं होता। वास्तव में हम किसी वस्तु का त्याग नहीं करते अपितु एक वस्तु का दूसरी वस्तु से विनिमय कर लेते हैं। उसी प्रकार बच्चा वयस्क होने पर शैशव क्रीड़ाओं का त्याग कर देता है और उसके स्थान पर कल्पना चित्रों की स ष्टि आरम्भ कर देता है। उनसे भी उसे वही आनन्द मिलता है जो शैशवकालीन क्रीड़ाओं से मिलता था। इन कल्पना-चित्रों को दिवा-स्वप्न कहा जाता है।

यहीं वयस्कों के दिवा-स्वप्न (कल्पना-चित्र) और शिशुओं की क्रीड़ा में अन्तर स्पष्ट कर देना भी आवश्यक है। बच्चे अपनी क्रीड़ाएँ बड़ों से नहीं छिपाते, किन्तु वयस्क अपने कल्पना-चित्रों को अन्यों से छिपाते हैं। फ्रायड के अनुसार दिवा-स्वप्न बाल-क्रीड़ा की ही श ंखला है। बच्चों की क्रीड़ाएँ बड़ों के कार्यों की अनुकृति होती है, जिन्हें वह छिपाने की आवश्यकता नहीं समझता, किन्तु वयस्क अपने दिवा-स्वप्न (कल्पना-चित्रों) को दूसरों पर प्रकट करना उचित नहीं समझता और इन इच्छाओं से उद्भूत कल्पना-चित्रों को छिपाने का यत्न करता है।

फ्रायड ने दिवा-स्वप्नद्रष्टा अथवा कल्पना-चित्रस्रष्टा व्यक्तियों को 'स्नायविक विकारग्रस्त' व्यक्तियों का समूह कहा है। उन्होंने दो प्रकार के साहित्यकार माने हैं- प्रथम वे जो प्राचीन रचनाकारों एवं त्रासदी प्रणेताओं के पूर्व प्रस्तुत लोकमान्य सामग्री ग्रहण करके साहित्य का निर्माण करते हैं और दूसरे वे जो अपने साहित्य की स्वयं रचना करते हैं। ये ही दिवा-स्वप्नद्रष्टा अथवा स्नायविक विकारग्रस्त समुदाय के व्यक्ति हैं। ऐसे साहित्यकार प्रेमाख्यान, कहानी, उपन्यास आदि की रचना करते हैं, जो मूलतः कल्पना पर आधारित होती है। उनकी अत प्त इच्छाएं या काम-वासना ही उनकी रचनाओं के मूल में रहती है।

कला चिन्तन का मूल स्रोत

फ्रायड के अनुसार कला चिन्तन का मूल स्रोत है। काम और धर्म, अर्थ तथा साहित्य एवं संस्क ति के मूल में इसी की प्रेरणा स्थित है। व्यक्ति की दमित एवं कुण्ठित असामाजिक प्रव त्तियाँ अपने परिशोधित रूप में कला और संस्क ति का निर्माण करती हैं। किन्तु यह मौलिक वस्तु न होकर कुण्ठा का उदात्तीक त रूप है अथवा वर्जना का मात्र रूप-परिवर्तन है। विविध कलाएँ भौतिक और शारीरिक वर्जनाओं से ही उत्क ष्ट होती हैं। इसीलिए फ्रायड ने साहित्य-सर्जना को मल त्याग करने की प्रव त्ति की तुष्टि मात्र माना है।

मनोविज्ञान के आधार पर समीक्षा करने वाले आई.ए. रिचर्ड्स भी प्रव त्तिमूलक और निव त्तिमूलक दो प्रकार की त ष्णाएँ मानते हैं। उनके अनुसार ये त ष्णाएँ अधिकांश अचेतन की क्रियाएँ हो सकती हैं। किन्तु चेतन मन की अनुभूति की विवेचना के लिए अचेतन की इन त ष्णाओं की अपेक्षा नहीं की जा सकती। वस्तुतः जीवन की अव्यवस्थित व त्तियों की व्यवस्था का नाम ही आनन्द है। जहाँ फ्रायड काम

अथवा राग की माध्यम सहज व त्तियों के परिष्क त या उदात्तीक त रूप को ही सर्वोपरि मानते हैं वहाँ रिचर्ड्स उससे भी आगे बढ़कर विरोधी मनोवेगों के संतुलन या समन्विति में काव्य के चरम मूल्य की बात कहते हैं।

इसके विपरीत एडलर का विचार है कि ''काम-व त्ति जीवन की प्राथमिक समस्या नहीं है। जब व्यक्ति कामविषयक समस्याओं का अनुभव करता है तब उसकी जीवन-शैली निर्मित हो चुकी होती है। 'काम' जीवन-शैली का एक अंश मात्र है। किन्तु इतना अवश्य है कि कुण्ठाओं और वर्जनाओं से श्रेष्ठ और उत्क ष्ट साहित्य की रचना सम्भव नहीं है और यदि ऐसा होता तो विश्व से सुन्दर-असुन्दर, सत्साहित्य और असत्साहित्य का भेद ही मिट जाता।

क्षतिपूरक सिद्धान्त

फ्रायड ने मानव की समस्त सर्जनात्मक क्रियाओं को क्षतिपूरक क्रिया के रूप में विवेचित किया है और कुण्ठा के उदात्तीक त रूप को कला का नियामक तत्त्व स्वीकार किया है। इस द ष्टि से साहित्य और कला प्रकृतमूल्य-सम्पन्न नहीं है। वे भ्रम हैं और थोथी क्षतिपूरक क्रियाएँ हैं, क्योंकि कल्पना-प्रवण लेखक की कृति में उसी की वर्जनाएँ काम-प्रतीकों के माध्यम से स्वयं को अभिव्यक्त करती हैं। कला-स जन वस्तुतः काम प्रतीकों का पुनर्निर्माण है। लेखक जीवन की यथार्थता और विभीषिका को वहन नहीं कर पाता, इसलिए वह संघर्षशील जगत् से पलायन करता है और कल्पना का बहुरंगी वातायन निर्मित करता है। इससे उसे क्षणिक संतोष प्राप्त होता है। अतः कला विशुद्धतः एक शारीरिक प्रतिक्रिया है। इसमें नैतिकता या आध्यात्मिकता की खोज करना व्यर्थ है।

काव्य-मूलक

फ्रायड का मत है कि कला का उदात्तीक त रूप सभ्यता और संस्क ति के मूल्यों की एक प्रगतिशील उपलब्धि है। जब कुण्ठा के उदात्तीकरण की प्रक्रिया सम्पन्न हो जाती है, तब उसकी बर्बरता और एकान्तिकता जाती रहती है तथा उसमें एक सांस्क तिक मूल्य का समावेश हो जाता है। इस प्रकार कला से प्राप्त आनन्द की उपलब्धि हल्के उन्माद के रूप में होती है, जो जीवन की कठोरताओं से बचने के लिए एक अस्थायी आश्रय प्रदान करता है। इसी से फ्रायड कला में सम्प्रेषण को महत्त्वपूर्ण समझते हैं और साधारणीकरण की आवश्यकता पर बल देते हैं।

समीक्षात्मक द ष्टि

फ्रायड की समीक्षा-द ष्टि उनकी इस मान्यता पर आधारित है कि कल्पना-चित्र अपनी अन्तर्हित इच्छा तथा तीनों कालों से सम्बद्ध है। इस द ष्टि से लेखक की क तियों का परीक्षण तथा जीवन और क तियों के पारस्परिक सम्बन्ध का अध्ययन करना चाहिए। एक यथार्थ अनुभव जो लेखक के मानस पर प्रबल प्रभाव अंकित करता है, किसी पूर्व अनुभव-स्म ति अथवा साधारण बाल्यकाल की अनुभव-स्म ति को उद्वेलित करता है। उससे एक इच्छा स्फुरित होती है, जिसकी पूर्ति उस कलाक ति के माध्यम से होती है। इस प्रकार उस कृति में वर्तमान की घटना एवं अतीत की स्म ति के तत्त्व प थक्-प थक् स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं।

इस प्रकार किसी भी स जनात्मक साहित्य के अध्ययन का प्रकार व्यर्थ नहीं हो सकता।

दिवा-स्वप्न की अभिव्यक्ति ही काव्य

फ्रायड कवि-कल्पना को दिवा-स्वप्न और दिवा-स्वप्न की अभिव्यक्ति को काव्य मानते हैं। अभिव्यक्ति के कलात्मक स्वरूप को ही काव्य, कला या साहित्य आदि कहा जाता है। फ्रायड का यह भी मानना है कि दिवा-स्वप्नों के अध्ययन से उन समस्याओं की ओर पहुँचा जा सकता है, जो कल्पना-प्रधान रचनाओं से उत्पन्न प्रभाव से सम्बद्ध हैं।

फ्रायड के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त ने विश्व-चिन्तना को व्यापक रूप से प्रभावित किया है। विश्व साहित्य-समाज पर उनका युगान्तरकारी प्रभाव है। ब्रिटिश विश्व-कोश के अनुसार- "Psycho-analysis has exerted from the beginning a profound influence on literature and the other arts and on the whole body of social thought."

फ्रायड ने कल्पना-प्रवण लेखक की तुलना क्रीड़ारत शिशु से की है, जिसका क्रीड़ा-जगत यथार्थ जगत् से बिल्कुल प थक् होता है। कवि भी बालक के समान कल्पना-छवियों का निर्माण करता है। उसे गम्भीर भाव से ग्रहण कर अपनी मानसिक स ष्टि को तीव्र रूप से यथार्थ से प थक् करता है और अपनी बहुत सी भावनाएँ उसमें अभिनिविष्ट कर देता है।

शक्ति और सीमा

डॉ० नगेन्द्र ने 'फ्रायड और हिन्दी साहित्य' नामक अपने निबन्ध में फ्रायड-दर्शन की शक्ति और सीमाओं की ओर संकेत किया है।

(1) फ्रायड की सबसे बड़ी शक्ति यह है कि उन्होंने अचेतन का अन्वेषण कर मानव-मनोविश्लेषण के लिए असीमित क्षेत्र का उद्घाटन कर दिया है। रहस्य के घने आवरण में पड़ी व्यक्ति और समाज की अनेक समस्याएँ बुद्धि और विवेक के प्रकाश में आई, जिससे जीवन के पुनर्मूल्यन के लिए नवीन साधन उपलब्ध हुए।

(2) काम को मूलभूत व त्ति मानते हुए उन्होंने मनुष्य के रागात्मक सम्बन्धों का सटीक व्याख्यान प्रस्तुत किया, जिससे जीवन में बौद्धिक मूल्यों की प्रतिष्ठा में सहायता मिली।

फ्रायड की कुछ सीमाएँ भी स्पष्ट हैं-

(1) फ्रायड के निष्कर्ष अस्वस्थ व्यक्तियों की मनःस्थिति पर आधारित है। अतः विकृतियों के आधार पर प्रतिपादित जीवन-दर्शन स्वस्थ मानव का जीवन दर्शन कैसे हो सकता है।

(2) 'काम' जीवन की मूल प्रव त्ति अवश्य है, परंतु वह अंग ही है, सर्वांग नहीं। फ्रायड ने उसे सर्वस्व मानकर अपने दर्शन को एकांगी बना लिया है।

(3) फ्रायड का दर्शन अभावात्मक है, उसमें समाधान नहीं है। वह व्यष्टि तक सीमित है, समष्टि के लिए उसके पास कोई सन्देश नहीं।

किन्तु यह आरोप अनुचित है। प्रारम्भ में उनके प्रयोग और निष्कर्ष अभावात्मक थे, धीरे-धीरे उनकी द ष्टि भावात्मक होती गई तथा भावों के उन्नयन और अहं के समाजीकरण में अपना समाधान प्रस्तुत किया।

निष्कर्षतः

फ्रायड ने प्रगति की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए साहित्यकार के व्यक्तित्त्व और साहित्य की प्रव त्तियों के विश्लेषण-व्याख्यान के लिए नवीन मार्ग का प्रवर्तन किया, जिससे साहित्य के अध्ययन-आलोचन के इतिहास में नया अध्याय जुड़ा।

अस्तित्त्ववाद (Existentiation)

अस्तित्त्ववाद जर्मन भाषा के एग्जिस्टेन्ज फिलॉसॉफी के अनुवाद हेतु प्रयोग में लाया गया शब्द था। एग्जिस्टेन्ज शब्द प्रथम महायुद्ध के पश्चात् दार्शनिक शब्दावली का अंग बन गया। साधारण भाषा में इसका अर्थ है- ''जो भी है - पशु, पक्षी, वस्तु सभी का अस्तित्त्व है'', किन्तु अस्तित्त्ववादी भाषा में

अस्तित्त्व का सम्बन्ध केवल मानव के 'अस्तित्त्व' से है।

डॉ० पुष्पा बंसल के अनुसार- ''अस्तित्त्ववाद एक तर्कसंगत दार्शनिक मतवाद की अपेक्षा एक दार्शनिक के द ष्टिकोण का प्रतीक है।''

(पाश्चात्य काव्यशास्त्र : द ष्टि एवं दर्शन, प ० 206)

अस्तित्त्ववादियों का कथन है कि मानव अपनी समस्त स्थितियों के लिए स्वयं उत्तरदायी है। वह अपनी परिस्थितियों का; परिवेशगत सफलताओं, असफलताओं का स्वयं निर्माता एवं निर्णायक है। वह निर्णय करने के लिए स्वतन्त्र है।

अस्तित्त्ववाद अपने वर्तमान अर्थ में उन्नीसवीं सदी के मध्य की उपज है। इसकी प ष्ठभूमि में औद्योगिक क्रांतिजनित वह भौतिकता थी जो मनुष्य अस्तित्त्व की अवहेलना कर उसे निर्मूल्य कर रही थी। मनुष्य अस्तित्त्व के इस अवहेलनात्मक सामाजिक द ष्टिकोण की प्रतिक्रियास्वरूप कुछ चिन्तकों ने परम्परागत सामाजिक एवं धार्मिक मूल्य-मान्यताओं को निष्प्राण घोषित कर विशुद्ध मानवीय मूल्यों की स्थापना का प्रयास किया। इन चिन्तकों में जर्मनी के फ्रेडरिख नीत्से, कार्ल जेस्पर्स, मार्टिन हेडगर, फ्रांस के ग्रेब्रियल मार्शल, ज्यों पाल सार्त्र, अल्बर्ट कामू आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। डेनमार्क के सारेन किर्केगार्ड इस दार्शनिक प्रव त्ति के प्रवर्तक हैं। अस्तित्त्ववादी विचारकों में सर्वाधिक महत्त्व सार्त्र को दिया जाता है। साहित्य के क्षेत्र में इस दार्शनिक द ष्टिकोण को व्यापकत्व प्रदान करने वाले प्रथम दार्शनिक साहित्यकार सार्त्र ही हैं। अतः साहित्य में अस्तित्त्ववादी चिन्तन का प्रारम्भ सार्त्र से ही होता है जिसका अनुसरण वाद में बहुत से लेखकों ने किया।

(i) **अस्तित्त्ववाद का स्वरूप** - अस्तित्त्ववाद के अनुसार 'अस्तित्त्व' महत्त्वपूर्ण है। फलतः सभी अस्तित्त्ववादी परम्परागत सिद्धान्तों के विरोधी हैं। अस्तित्त्व के दो रूप हैं- धार्मिक और कला सम्बन्धी। धार्मिक को प्राथमिकता देने वाले दार्शनिकों का मत है कि मानवीय संघर्ष की क्रियाशीलता धार्मिक क्षेत्र में होनी चाहिए जो ईश्वर-प्राप्ति का माध्यम बन सके। दर्शन वस्तुतः इसी आधार पर विज्ञान से श्रेष्ठ होता है कि विज्ञान केवल वस्तु जगत का अध्ययन करता है, अस्तित्त्ववादी अनुभवों में वे रहस्य छिपे रहते हैं जिनसे मानव जूझता है और विश्वास श्रद्धा का आधार स्वयं ही बनता है। इन आन्तरिक आत्मिक अनुभवों को विज्ञान स्पर्श नहीं करता।

जर्मन अस्तित्त्ववादी कार्ल जेस्पर्स का मत है कि जगत् का कोई भी तर्कपूर्ण चित्र प्रस्तुत नहीं किया जा सकता और बुद्धिवादियों का इस दिशा में कोई भी प्रयास व्यर्थ है, क्योंकि यह बहुत सम्भव है कि अस्तित्त्व के लिए वह मूर्ति 'शून्य' ही हो जिसकी व्याख्या आवश्यक है। जगत् म गत ष्णा नहीं है, माया नहीं है। अस्तित्त्व का वास्तविक अर्थ जेस्पर्स की द ष्टि में, किसी मानव को किसी हठात् आघात (Snock) के माध्यम से ही ज्ञात हो सकता है। इस ज्ञान को आघात के माध्यम से प्राप्त करके ही मानव अपने दैनिक जीवन की दुश्चिन्ताओं से मुक्त हो सकता है।

अस्तित्त्ववाद के कला सम्बन्धी रूप में स्थापक एवं पोषक हैं- हेडेगर, कामू और सार्त्र। अस्तित्त्ववाद के इस 'वैयक्तिक आदर्शवादी कला सिद्धान्त' का प्रतिपादन ज्यों पाल सार्त्र ने 'अस्तित्त्व एवं मानव-स्वातन्त्र्य' में किया था। अलबर्ट कामू ने भी इस सिद्धान्त का विवेचन किया। इस सिद्धान्त के अनुसार कलाभिव्यंजना का उद्देश्य 'अस्तित्त्व सम्बन्धी विकीरण' (Existential illumination) है जिसका तात्पर्य है कि कला का उद्देश्य अतर्कवादी वैयक्तिक अनुभवों एवं द ष्टिबोध का विकीरण करना है। वस्तुतः अस्तित्त्ववाद के अनुसार कला एवं

साहित्य का उद्देश्य परोक्ष भावानुभूतियों का चित्रण करना होता है। आस्ट्रिया के प्रसिद्ध कवि रिल्के के सॉनेट एवं शोक गीतों में इस प्रकार का चित्रण कुशलतापूर्वक किया गया है।

अस्तित्त्ववादी पारम्परिक आस्थाओं, जीवन-विश्वासों, धारणाओं, नीति-नियमों के कट्टर शत्रु हैं, जो ईश्वर के अस्तित्त्व में विश्वास रखने के कारण समाज में प्रचलित हैं तथा व्यक्ति स्वच्छन्दता में बाधक हैं।

अस्तित्त्ववादी विचारक ज्ञान-विज्ञान (इतिहास, समाजशास्त्र, दर्शन, मनोविज्ञान आदि) को भी महत्त्वहीन मानते हैं। उनके लिए वह सब कुछ व्यर्थ है जिससे अस्तित्त्वबोध में सहायता नहीं मिलता। वे मात्र मानव-स्थिति (Human condition) जानने के आग्रही है, क्योंकि उससे अस्तित्त्व बोध में सहायता मिलती है। अस्तित्त्ववादी पूर्ण स्वच्छन्दता में जीकर अन्त में म त्यु को 'अस्तित्त्व' का अनिवार्य अंश मानकर उसका साहसपूर्वक वरण करना चाहते हैं। सार्त्र ने लिखा है- ''म त्यु नहीं आती है, जब तक 'मैं' हूँ, म त्यु के आने के बाद 'मैं' हूँ ही नहीं इसलिए बाधा कैसी? जन्म की भांति म त्यु भी एक शुद्ध तथ्य है।''

(पाश्चात्य साहित्यशास्त्र की भूमिका, प ० 232)

प्रत्येक क्षेत्र में अस्तित्त्ववादियों के लिए स्वच्छन्दता ही जीवन दर्शन का मूलाधार है और उनके मूल्यहीन साहित्य दर्शन का एकमात्र मूल्य।

चयन की स्वच्छन्दता अथवा वैयक्तिक स्वच्छन्दता ही चूँकि अस्तित्त्ववादी दर्शन का प्राणतत्त्व है, इसलिए उनके साहित्य में घोर अराजकता, उन्मुक्त भोग, यौनवादिता, नास्तिकता, असामाजिकता, विज्ञान विरोधिता आदि अनेक अनाचारी एवं अवांछनीय तत्त्वों की बहुलता पाई जाती है।

(पाश्चात्य समीक्षा : सिद्धान्त और वाद, प . 310)

(ii) **अस्तित्त्ववाद की विशेषताएँ-** अस्तित्त्ववादी दर्शन के अनेक विचारकों के अनुरूप उसके अनेक रूप पाए जाते हैं। फिर भी उसकी कुछ सामान्य विशेषताएँ हैं जिनका उल्लेख किया जा सकता है।

अस्तित्त्ववादी जीवन द ष्टि में मनुष्य की समस्या ही सर्वोपरि है। उसका ठोस अस्तित्त्व, व्यक्तिगत स्वच्छन्दता तथा अपने क्रिया-कलापों के निर्माण एवं उत्तरदायित्व का स्वतन्त्र अनुभव ही वे स्तम्भ हैं जिन पर अस्तित्त्ववादी जीवन-दर्शन का महल खड़ा है। साहित्य के क्षेत्र में यह जीवन-द ष्टि पूर्णतः व्यक्तिवादी, आत्मकेन्द्रित, अन्तःमुखी और आत्मनिष्ठ विचारधारा है। इसकी प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं-

(ख) **जीवन की निरर्थकता का अनुभव (Absurdity of human life)** – कामू मानव की अभिलाषाओं एवं आशाओं का इस निरर्थक संसार से अनवरत संघर्ष मानते हैं, क्योंकि उनका प्रतिफलन असम्भव है, अतः संसार के सभी व्यापार अकारथ हैं। मानव का जीवन एक निरर्थक प्रयास है, जैसे-सिसिपस का पत्थर पहाड़ पर चढ़ाने का प्रयास और फिर नीचे गिर पड़ने का क्रम। आधुनिक सभ्यता में मानव-जीवन भी इसी प्रकार व्यर्थ एवं अकारथ हैं। अस्तित्त्ववादी कामू के इसी अनर्गलता बोध से प्रभावित निराशावादिता, पीड़ा, एकाकीपन एवं वैयक्तिक स्वच्छन्दता की ओर अग्रसर है।

(ख) **मानव स्थिति (Human condition) को दुःखद और पीड़ाजनक मानना** - अस्तित्त्ववादी मानव-स्थिति को पूर्णतः दुःखद मानते हैं। इस द ष्टि से वे घोर निराशावादी

हैं। पीड़ा, संत्रास, दुःख, यातना, एकाकीपन अथवा आत्मनिर्वासन से युक्त जीवन जीना मनुष्य की अनिवार्य स्थिति है। वे मानव-स्थिति की सीमा निर्धारण करते हुए म त्यु को उसकी सीमा मानते हैं।

(ग) **वैयक्तिक स्वच्छन्दता पर बल** - अस्तित्त्ववादी सभी प्रकार के परम्परित जीवन मूल्यों के प्रति विद्रोह करना सच्ची वैयक्तिक स्वच्छन्दता मानते हैं। उनके अनुसार जीवन की निरर्थकता के प्रति विद्रोह करने वाले ही सच्चे अर्थों में मुक्त हैं और जिन्हें इस निरर्थकता का बोध हो गया है, वे जीवन के प्रति सही अर्थ में विद्रोही हैं। इस विद्रोह का अभिप्राय है- जीवन के परम्परागत मान मूल्यों के प्रति, समाज, धर्म, नीति आदि से सम्बन्धित धारणाओं एवं विचारों के प्रति विद्रोह।

(घ) **म त्यु बोध** - अस्तित्त्ववादी म त्यु को मानवीय स्थिति की सीमा मानते हैं। उनकी द ष्टि से म त्यु की उपयोगिता है। वह जीवन का शुद्ध तथ्य है, क्योंकि म त्यु से ही मनुष्य में निरासक्ति का भाव पैदा होता है तथा अपने अस्तित्त्व का सही ज्ञान भी। आज की भौतिक सभ्यता में अपने आपको जानने तथा अस्तित्त्व बोध के लिए म त्यु जैसे धक्के की आवश्यकता है। म त्यु-बोध मनुष्य को अस्तित्त्व बोध कराने में महत्त्वपूर्ण अनुभव है। जैसे टॉलस्टाय की कहानी 'ईवान इलिच की म त्यु' का प्रसंग, जिसमें अतिसम्पन्न पूर्णतः प्रतिष्ठित और अपने जीवन में अति सफल व्यक्ति ईवान इलिच को अचानक सीढ़ियों से गिरकर मरते हुए जीवन के प्रति मोह पैदा होता है। इलिच के शब्द ''काश! मैं जीवन फिर से प्रारम्भ करता'' इस बात के द्योतक हैं कि आज की सभ्यता ने मनुष्य को अकेला कर दिया है, वह अपना आपा खो चुका है।

हिन्दी की नई कविता में अस्तित्त्ववादी लहर व्याप्त है। धर्मवीर भारती, भारत भूषण अग्रवाल, दुष्यन्त कुमार, कुँवर नारायण, अज्ञेय आदि कवियों में अनास्था, अस्तित्त्व बोध, म त्युबोध, वैयक्तिक स्वच्छन्दता, निराशा, पीड़ा, उन्मुक्त भोग आदि प्रव त्तियों की अनुगूँज पाई जाती है। जैसे कुँवर नारायण के उन्मुक्त भोग की निक ष्ट अभिव्यक्ति को देखा जा सकता है-

''आमाशय,

यौनाशय,

गर्भाशय,

जिसकी जिन्दगी का यही आशय,

यही इतना भोग्य,

कितना सुखी है वह,

भाग्य उसका ईर्ष्या के योग्य''

(iii) **अस्तित्त्ववाद का विकास** - अस्तित्त्ववाद की भूमिका नीत्से एवं किर्कगार्ड ने उन्नीसवीं सदी में ही तैयार कर दी थी। यद्यपि उन्होंने कोई दर्शन प्रतिपादित नहीं किया, फिर भी उनके विचार अस्तित्त्ववादी द ष्टिकोण को प्रेषित करते हैं और इसी कारण वह आधुनिक युग के अस्तित्त्ववाद के प्रवर्त्तक बन गए। उनका कहना था कि ईश्वर को परोक्ष साधनों से अथवा प्रक ति में नहीं खोजा जा सकता। धर्म आन्तरिक विकल्प होता है जिसमें श्रद्धा की भी आवश्यकता होती है। कला, विज्ञान एवं इतिहास उसके पूरक हैं, उसके अंग हैं। जीवन मानव के निश्चय पर निर्भर करता है। मानव औत्सुक्य की स्थिति में रहता है और निराशा

के मार्ग से गुजरता है। इन्हीं विचारों को आधार मानकर जर्मन में अस्तित्त्ववादी विचारधारा का सूत्रपात हुआ। स्वयं 'अस्तित्त्व' (Existence) शब्द का भी किर्कगार्ड ने ही सर्वप्रथम प्रयोग किया था।

बीसवीं सदी के प्रारम्भ में जर्मनी के ही मार्टिन हेडेगर ने अस्तित्त्ववादी विचारधारा को आगे बढ़ाया। उनके दर्शन की मुख्य समस्या मानव के 'होने' की है। यह अस्तित्त्व म त्यु के लिए है। उनके अनुसार, मानव असहिष्णु संसार में अपने उद्देश्यों की पूर्ति के हेतु संघर्ष करता है, जिसका परिणाम अनिवार्यतः 'न कुछ' तक पहुँचते-पहुँचते म त्यु तक पहुँच जाता है।

कार्ल जेस्पर्स भी हेडेगर का समकालीन था। उसने भी इस विचारधारा को बल दिया। जेस्पर्स के अनुसार विज्ञान और दर्शन दोनों ही सत्य की खोज में असफल हैं। कोई भी व्यक्ति एकांतिक नहीं है। अस्तित्त्व का भी विस्तार होता है। समस्त अध्यात्मक दार्शनिक के लिए एक 'अस्तित्त्ववान' की खोज है। जेस्पर्स की द ष्टि में भी निराशा एवं खीझ का प्रतिपादन तथा म त्यु का अनिवार्य भय है जो अस्तित्त्व की चरम त प्ति है।

फ्रांसीसी साहित्यकार ज्यों पाल सार्त्र अस्तित्त्ववादी विचारकों में सर्वोपरि माने जाते हैं। वे नास्तिक अस्तित्त्ववाद के प्रतिपादक हैं। उनका मत है कि ईश्वर मर चुका है। (God is dead), वस्तुतः अस्तित्त्ववाद 'नास्ति' की स्थिति में निकाले गए परिणामों का प्रयास मात्र है- "Existentialism is no thing but an attempt to draw all the consequences from a consistent ethostic position." सार्त्र ने 'ईश्वर है' के विचार को नकारा है तथा 'अस्तित्त्व' को सार से भी पूर्व की स्थिति माना है। उनके मतानुसार चेतन-विषय अपने लिए (For itself) होता है और वस्तु जगत् (Object) स्वयं में होता है। मानव जीवन इन दोनों स्थितियों को एक सूत्र में जोड़ने का संघर्ष काल है जिसका पूर्व नियोजित परिणाम असफलता होता है। मानव कुछ भी करने के लिए स्वतन्त्र है। समाज उसकी द ष्टि में विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है। मानव म त्यु के भय से ग्रस्त रहता है। अन्य विचारक अल्बर्ट कामू के विचार भी सार्त्र जैसे ही हैं। वह भी म त्यु, विसंगत स्थितियों, वैयक्तिकता, संघर्ष आदि की ही बात करता है।

अस्तित्त्ववाद के अन्य उन्नायकों और पोषकों में मार्शल, रिल्के, पोलटेलिश आदि हैं। इनके विचार से वे अनुभव जिन्हें हम चुनते हैं, महत्त्वपूर्ण हैं। इसका कारण अस्तित्त्ववाद की 'चुनाव' की प्रकृति है, क्योंकि वे ही अनुभव व्यक्ति की विशेषता को प्रेषित करते हैं। ये अनुभव ही हमारी प्रकृति को दर्शाते हैं। वे ही क्षण होते हैं जिनमें हमारा अस्तित्त्व होता है।

आत्मनिष्ठा पर बल देने के कारण अस्तित्त्ववाद एक ऐसा मुक्त दर्शन है जिनमें सामाजिक सौहार्द में विश्वास का प्रकटीकरण नहीं है और मानवीय पूर्णता के प्रति आशा भी नही है।

निष्कर्षतः

अस्तित्त्ववाद आधुनिक युग की सबसे बड़ी विशेषता और माँग-व्यक्तिगत मानवीय स्वतन्त्रता-पर विशेष बल देता है। वह वर्ग समुदाय की सारहीनता को सिद्ध करता है और नए यथार्थ बोध के आधार पर नवीन मूल्य बोध के स जन द्वारा जीवन और जगत् में क्रान्ति लाते रहने का हामी है जिससे कोई मूल्य बोध जड़ न हो जाए।

अस्तित्त्ववाद की ये विशेषताएँ ही उसकी सीमाएँ बन गई हैं। व्यक्तिगत मानवीय स्वतन्त्रता का पक्षपाती अस्तित्त्ववादी मानव कर्मठ के स्थान पर विवश अधिक दिखाई देती है। उसकी मूल्यभावना

पलायनवाद की ही प्रव त्ति अधिक दर्शाती है। व्यक्तिगत मानवीय स्वतन्त्रता की अति के कारण ही अस्तित्त्ववादी रचनाओं में जीवन की व्यर्थता, नैतिक अवमूल्यन, निराशा, पलायन, भयंकर यौन व त्ति विश्लेषण आदि के भाव द ष्टिगोचर होते हैं। अस्तित्त्ववाद परम्परागत मानों एवं पूर्व बोधों को नकारता है जिसके बिना किसी नए मूल्य का निर्माण सम्भव नहीं है। इसके अभाव में न तो क्रान्ति आ सकती है और न कलाकार क्रान्तिद ष्टा बन सकता है।

खण्ड-ग

हिन्दी काव्यशास्त्र

18. हिन्दी आलोचना का विकास

हिन्दी आलोचना का अपना एक स्वतन्त्र अस्तित्त्व है। कुछ लोग उसके स्वतन्त्र अस्तित्त्व को स्वीकार नहीं करते। वे उसे संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा मात्र मानते हैं अथवा पाश्चात्य आलोचना का अनुकरण करते हैं। परन्तु हिन्दी आलोचना संस्कृत काव्यशास्त्र और पश्चिम समीक्षा से जुड़े रहने पर भी अपना स्वतन्त्र अस्तित्त्व रखती है। उसका सैद्धान्तिक पक्ष यदि उसे संस्कृत काव्यशास्त्र के निकट ले जाता है तो व्यावहारिक पक्ष पश्चिम समीक्षा से जोड़ देता है।

हिन्दी आलोचना अपने बीज रूप में भक्तिकाल में मिलती है। रीतिकालीन काव्यशास्त्र में उसका और अधिक विकसित रूप दिखाई देता है। यद्यपि हिन्दी आलोचना का स्वतन्त्र स्वरूप आधुनिक युग के भारतेन्दु काल में ही प्रकट होता है, परन्तु परम्परा से जुड़े रहने के व्यामोह के कारण हम उसकी जड़ें हिन्दी के भक्तिकाल और रीतिकाल के काव्यशास्त्र में खोज सकते हैं।

भक्तिकाल

भक्तिकाल का हिन्दी काव्यशास्त्र जिन रचनाओं में मिलता है, उनके नाम हैं- सूरदास की 'साहित्य लहरी'; नन्ददास की 'रसमंजरी' व 'विरहमंजरी'; ध्रुवदास की 'रसहीरावली'; कृपाराम की 'हिततरंगिणी'; बलभद्र मिश्र का 'नखशिख'; तथा रहीम का 'बरवैनायिका भेद'।

इन भक्तियुगीन ग्रन्थों की मूल प्रेरणा सिद्धान्त-विवेचन की लालसा न होकर प्रतिपाद्य का चित्रण मात्र है। इन कवियों का लक्ष्य नायिका भेद को समझना न होकर अपने इष्टदेव की लीलाओं का मान है। इन ग्रन्थों का आधार संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ नहीं हैं।

रीतिकाल

हिन्दी काव्यशास्त्र की अविच्छिन्न धारा रीतिकाल में मिलती है। केशवदास से इसका सूत्रपात हुआ और पद्माकर तक यह चलती रही। प्रमुख कवि एवं उनके ग्रन्थों के नाम इस प्रकार है-

1. केशवदास - कविप्रिया, रसिकप्रिया
2. चिन्तामणि - कविकुल
3. कुलपति - रस-रहस्य
4. देव - भाव-विलास, काव्य-रसादन
5. श्रीपति - काव्य-सरोज
6. सोमनाथ - रस-पीयूषनिधि
7. पद्माकर - जगद्विनोद

इस रीतिकालीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। इनमें मौलिकता का अभाव है। संस्कृत काव्यशास्त्र का ब्रजभाषा पद्य में अनुवाद कर देना ही इनका लक्ष्य रहा है। फिर इनमें विवेचन की प्रौढ़ता, गम्भीरता भी नहीं है। गद्य का प्रयोग न होने के कारण ये समीक्षा का सच्चा स्वरूप प्रस्तुत करने में असमर्थ रहे हैं। इन ग्रन्थों का महत्त्व केवल इस द ष्टि से है कि इन्होंने संस्कृत न जानने वाले जन-समूह को काव्यशास्त्र के सामान्य नियमों से परिचित कराया और संस्कृत की परम्परा को जीवित बनाए रखा।

आधुनिक काल

वस्तुतः भारतेन्दु युग हिन्दी समीक्षा का उद्भव काल है। रीतिकालीन संस्कृत ग्रन्थों की परिपाटी को छोड़कर हिन्दी आलोचना इस काल में सहसा एक नवीन मार्ग पर अग्रसर हो उठी। इसके कई कारण थे- गद्य का आविर्भाव, पत्र-पत्रिकाओं का निकलना, पाठक-समुदाय का बदल जाना। भारतेन्दु के 'भारत-दुर्दशा' या 'अन्धेर नगरी' जैसे नाटकों की समीक्षा प्राचीन लक्षण-ग्रन्थों के आधार पर नहीं की जा सकती है। इसके लिए एक नई कसौटी नितान्त अपेक्षित थी। यद्यपि परम्परा के प्रति मोह के कारण आलोचना का सैद्धान्तिक पक्ष अभी तक विद्यमान था। तथापि उसके सीमित दायरे से मुक्ति की आकांक्षा भी प्रबल हो उठी थी। इसलिए भारतेन्दुयुगीन समीक्षा में पुरानी और नई दोनों प्रव त्तियां दिखाई देती है जो इस प्रकार है-

(1) सैद्धाान्तिक विवेचन इस काल में भी किया गया। भारतेन्दु ने 'नाटक' लिखा, जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' ने 'छन्द प्रभाकर' लिखा।

(2) नागरी प्रचारिणी पत्रिका में साहित्यकारों के जीवन, रचनाकाल और रचनाओं के बारे में प्रामाणिक लेख प्रकाशित किए गए। इन्हें हम व्यावहारिक समीक्षा का प्रारम्भिक रूप मान सकते हैं।

(3) साहित्य का इतिहास लिखने की प्रव त्ति परिलक्षित हुई। 'शिवसिंह सरोज' में प्राचीन कवियों का जीवन-परिचय और रचनाएँ लिपिबद्ध की गई।

(4) पुस्तक समीक्षा की प्रव त्ति दिखाई थी। 'हिन्दी प्रदीप' और 'आनन्द कादम्बिनी' पत्रिकाओं में लाला श्रीनिवासदास के 'संयोगिता स्वयंवर' की समीक्षा प्रकाशित हुई। 'आनन्द कादम्बिनी' में रमेशचन्द्र दत्त के 'वंग विजेता' नामक उपन्यास के हिन्दी अनुवाद की समीक्षा छपी। इसमें मूल तथा अनुवाद दोनों के गुण-दोषों का विवेचन किया गया। कथावस्तु चरित्र-चित्रण, संवाद, सामाजिक मूल्यवत्ता आदि विविध द ष्टियों से कृति का परीक्षण किया गया। वे समीक्षाएँ हिन्दी की व्यावहारिक समीक्षा का आरम्भिक रूप प्रस्तुत करती है।

द्विवेदी युग

सन् 1900 ई० में 'सरस्वती' का प्रकाशन आरम्भ होना, हिन्दी-आलोचना के विकास-क्रम में बड़ा महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। 1903 में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' का सम्पादन भार सम्भाला, उन्होंने इसमें 'पुस्तक समीक्षा' के नाम से एक स्तम्भ रखा और स्वयं उस स्तम्भ में पुस्तकों की समीक्षाएँ लिखी।

द्विवेदीयुगीन आलोचना का स्वरूप निम्न बिन्दुओं के माध्यम से स्पष्ट किया जा सकता है-

(1) इस काल में पुस्तकों की पुस्तकाकार आलोचनाएं आरम्भ हुई।

(2) रचना के परीक्षण का मानदण्ड निर्धारित हो गया। आचार्य द्विवेदी ने नैतिकता और उपयोगितावाद को मानदण्ड माना। जिस रचना में उपयोगी एवं शिक्षाप्रद वर्ण्यविषय तथा

पात्र अपनाए गए हैं, वह उत्तम मानी गई। एक ओर विषय की उच्चता पर ध्यान दिया गया तो दूसरी ओर अभिव्यक्ति की सादगी का समर्थन किया गया।

(3) आचार्य द्विवेदी की आलोचना पद्धति की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता उनकी निर्भीकता थी। आलोचना करते समय वे बिना किसी हिचक के लब्ध-प्रतिष्ठित साहित्यकार में भी दोष बता देते थे।

(4) द्विवेदीयुगीन आलोचना की एक अन्य विशेषता जो हमारा ध्यान खींचती है। वह है- तुलनात्मक समीक्षा। देव और बिहारी के बीच श्रेष्ठता का निर्णय करने के लिए आरम्भ होने वाले इस विवाद में द्विवेदी युग के प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण आलोचकों ने भाग लिया।

(5) द्विवेदी युग में समसामयिक कथा साहित्य पर विवादों के रूप में एक नई समीक्षा द ष्टि भी सामने आई।

(6) साहित्य का इतिहास लिखने की परम्परा भी विकसित हुई। 'मिश्रबन्धु विनोद' लिखा गया, जिसमें लेखकों को इतिव त्त दिया गया था।

शुक्ल युग

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी समीक्षा को अपनी प्रखर प्रतिभा तथा क्षमता से गौरव के उच्च शिखर पर पहुँचा दिया। आचार्य शुक्ल ने प्राचीन और नवीन के समन्वय द्वारा एक ऐसी समीक्षा पद्धति की स्थापना की थी, जो अनुपम शक्तिसम्पन्न थी। शुक्ल जी जिस समय आलोचना-क्षेत्र में आए, उस समय द्विवेदीयुगीन नैतिकता और इतिव त्तात्मकता के विरुद्ध क्रान्ति का उद्घोष करते हुए छायावाद का उदय हो चुका था। कविता के क्षेत्र में छायावाद का बोलबाला था और कथा-साहित्य में प्रेमचन्द स्वयं एक युग बनकर अवतीर्ण हो चुके थे। रीतिकालीन संस्कार भी सर्वथा निःशेष नहीं हुए थे। उस संक्रमण काल में आचार्य शुक्ल ने युग-पुरुष की भूमिका निभाई।

शुक्ल जी के हाथों में हिन्दी आलोचना की बागडोर आते ही 'देव और बिहारी' तथा 'बिहारी तथा देव' जैसे तुलनात्मक अध्ययन से हटकर आलोचना का केन्द्र हिन्दी का भक्तिकालीन साहित्य हो गया। शुक्ल जी ने कविता में अनुभूति को प्रधानता दी। उन्होंने लोकमानस और लोक-हृदय के साथ रागात्मक का सम्बन्ध स्थापित होने को प्रमुखता दी। उन्होंने भारतीय रसवाद को जिस लोक-सम्व त्ति का भाव दिया, उसका निर्वाह प्रबन्ध काव्य में ही सम्भव था।

शुक्ल जी सिद्धान्त निरूपण में दक्ष थे, उन सिद्धान्तों का परीक्षण करने में उससे भी अधिक निपुण थे। काव्य का परीक्षण करने की उन्हें अन्तर्भेदिनी दिव्यद ष्टि प्राप्त थी। इसलिए उन्होंने सूर, तुलसी, और जायसी पर बड़ी प्रभावशाली व्यावहारिक समीक्षाएँ लिखीं। उनके आलोचक व्यक्तित्त्व की एक प्रमुख विशेषता उनकी सजग एवं व्यापक द ष्टि थीं। जिस लगन और उत्साह से उन्होंने मध्ययुगीन काव्य का विवेचन किया, उसी रुचि से आधुनिक साहित्य पर भी द ष्टिपात किया। शुक्ल युग की एक महान् विभूति बाबू श्यामसुन्दर दास थे। उनका महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने अपने 'साहित्यालोचन' द्वारा पहली बार हिन्दी समालोचना को अध्ययन-अध्यापन के विषय में प्रतिष्ठित किया। विश्वनाथ प्रसाद मिश्र सैद्धान्तिक समीक्षा के क्षेत्र में विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है। किंतु व्यवहारिक समीक्षा के क्षेत्र में उन्होंने विशेष कार्य किया है। रीतिकाल नामकरण, प्रव त्तियाँ, साहित्य आदि विषयों पर विद्वत्तापूर्ण विवेचन किया है। उनकी मुख्य कृत्तियाँ हैं- 'भूषण' 'बिहारी' 'घनानन्द' 'बिहारी की वाग्विभूति' तथा वाङ्.मय 'विमर्श'।

लक्ष्मीनारायण सुधांशु आचार्य शुक्ल की परम्परा के आलोचक हैं। 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त' तथा काव्य में अभिव्यंजनावाद उनकी प्रमुख कृतियाँ हैं।

कृष्णशंकर शुक्ल ने व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। 'महाकवि रत्नाकर' तथा 'केशव की काव्यकला' उनकी महत्त्वपूर्ण आलोचनात्मक पुस्तकें हैं।

शुक्लोत्तर युग

शुक्लोत्तर युग में हिन्दी समीक्षा की बहुमुखी प्रगति हुई। उसका अध्ययन इस प्रकार है-

स्वच्छन्दतावादी समीक्षा

इस समीक्षा का मूल आधार छायावादी काव्य है। छायावादी कविता की मुख्य विशेषता थी- स्वानुभूति की प्रधानता, कल्पना की अतिशयता, नवीन सौन्दर्य द ष्टि। इन्हीं विशेषताओं के आधार पर स्वछन्दतावादी समीक्षा में छायावाद का परीक्षण किया गया। शुक्ल जी ने नैतिकता और उपयोगिता के प्रति अपने अटूट आग्रह के कारण अनुभूति की मार्मिकता पर कम जोर दिया है। जोर तो दिया है, पर अनुभूति को सामाजिकता से जोड़ दिया था। केवल अनुभूति की मार्मिकता को समग्रता से ग्रहण करने का प्रयास स्वच्छन्दतावादी आलोचकों ने किया। इनमें सर्वप्रमुख नाम आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी का है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा नगेन्द्र भी इसी कोटि में आते हैं। इस समीक्षा पद्धति की निम्न विशेषताएँ हैं-

(1) अनुभूति जगत् को सर्वोपरि महत्त्व देना इसकी प्रधान विशेषता है। इसलिए इस धारा के समीक्षकों ने विषय-प्रधान काव्यों की उपेक्षा भाव-प्रधान गीतों को अधिक सराहा।

(2) इस समीक्षा पद्धति में नवीन सौन्दर्य-बोध को अपनाया गया। नवीन जीवन मूल्यों हृदय की संश्लिष्ट भाव-छवियों और अभिव्यक्ति के नवीन उपकरणों में इन्होंने सौन्दर्य के दर्शन किए।

(3) आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी छायावादी काव्य-जगत् के मोहक सौन्दर्य से इतने अभिभूत हो उठे कि उन्होंने उसी के आधार पर अपनी समीक्षा पद्धति को विकसित किया। इस परम्परा के दूसरे महत्त्वपूर्ण समीक्षक डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी रहे। उन्होंने स्वछन्दतावादी समीक्षक होते हुए भी अनुभूति का सम्बन्ध सामाजिक मंगल से जोड़ा।

प्रभाववादी समीक्षक

इस कोटि की समीक्षा में पण्डित शान्तिप्रिय द्विवेदी अग्रगण्य है। आचार्य शुक्ल ने इस समीक्षा को महत्त्वहीन मानते हुए कहा था- ''न ज्ञान के क्षेत्र में उसका कोई मूल्य है न भाव के क्षेत्र में। इसे समीक्षा या आलोचना कहना ही व्यर्थ। शान्तिप्रिय द्विवेदी को इस कोटि का समीक्षक इसलिए माना गया क्योंकि उन्होंने छायावादी ढंग पर कविता न लिखकर गद्य लिखा। इन समीक्षाओं में काव्यात्मक का इतना बाहुल्य हो गया कि सारभूत करने पर ही विचारों को देखा जा सकता है।

कवि समीक्षक

शुक्लोत्तर हिन्दी समीक्षा के विकास क्रम को समझते समय हम कवि समीक्षकों के योगदान को अनदेखा नहीं कर सकते। इन कवि समीक्षकों में जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पंत, निराला और महादेवी वर्मा का नाम आता है। प्रसाद जी ने 'काव्य और कला' तथा अन्य निबंध लिखकर अपने विचारों का प्रवर्त्तन किया।

सुमित्रानन्दन पंत की मान्यता थी कि पुराने सिद्धान्तों के आधार पर नए साहित्य का मूल्यांकन नहीं हो सकता।

निराला का कार्य पन्त से भिन्न था। 'पन्त और पल्लव', 'मेरे गीत और कला', 'परिमाल' की भूमिका आदि में उनके आलोचनात्मक विचारों की झाँकी मिलती है। इन निबन्धों में उनके सौन्दर्य-बोध, अध्ययन, सूक्ष्म द ष्टि और रसज्ञता के दर्शन होते हैं।

महादेवी वर्मा के आलोचनात्मक विचार उनकी 'यात्रा' और 'दीपशिखा' की भूमिकाओं में मिलते है। 'साहित्यकार' की आत्मा और अन्य निबन्ध में भी उनके इन विचारों का स्वरूप प्राप्त होता है।

प्रगतिवादी समीक्षा

प्रगतिवादी समीक्षा ने भी आलोचना के क्षेत्र में नवीन मान स्थापित किए। मार्क्सवाद के आधार पर आगे बढ़ने वाले समीक्षकों में शिवदान सिंह चौहान, अम तराय, प्रकाशचन्द्रगुप्त और रामविलास शर्मा के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। प्रगतिवाद के अभ्युदय ने रचना और समीक्षा के क्षेत्र में एक नई क्रान्ति का सूत्रपात किया। प्रकाशचन्द्रगुप्त भी अत्यन्त उदार और प्रगतिशील आलोचक है। उनके निबंध संग्रहों- 'आधुनिक हिन्दी साहित्य एक द ष्टि', 'हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा' तथा 'साहित्यधारा' से उनकी आलोचनाविषयक द ष्टि का परिचय मिलता है।

डॉ० रामविलास शर्मा प्रतिभावान, निर्भीक, ओजस्वी व्यक्तित्त्व वाले प्रगतिवादी समीक्षक हैं। इस आन्दोलन के प्रमुख कर्णधारों में से एक रहे हैं। वे सामाजिक यथार्थ के प्रबल समर्थक है। व्यावहारिक समीक्षाओं में भी शर्माजी ने प्रगतिशील मानदण्ड का प्रयोग किया है। डॉ० रामदरश मिश्र ने शर्मा जी की समीक्षा के विषय में लिखा है कि 'शर्मा जी की द ष्टि पकड़, समय और अनुभूतिशीलता में समीक्षक की पूरी-पूरी क्षमता है। जहाँ वे तटस्थ होकर विचार करते हैं, वहाँ उनका स्तर बड़ी उच्चकोटि का होता है। शर्मा जी में नवीनता है, अभिव्यक्ति प्रणाली बड़ी ही स्पष्ट, प्रत्यक्ष और तीखी है। वह पाठकों को सीधे प्रभावित करती है।''

मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा

फ्रायड, एडगर और यंग के मनोविश्लेषणवाद ने भी साहित्य-चिन्तन को प्रभावित किया है। उस प्रभाव को निम्न संकेतों द्वारा देखा जा सकता है-

(1) साहित्य-स जन की प्रेरणा का मूल मनुष्य का चेतन मन न होकर अवचेतन मन है।

(2) साहित्य में व्यक्तिगत अनुभूति अधिक है। साहित्य में जो सामाजिक तत्त्व उभरकर आते हैं, वे साहित्यकार के निजी अनुभव की अपेक्षा सामाजिक दबावजन्य होते हैं।

(3) साहित्य में प्रव त्तियाँ कार्य करती हैं न कि बौद्धिकता।

(4) अवचेतन की दमित वासनाओं पर परिस्थितियों का प्रभाव होता है, किन्तु यह प्रभाव आन्तरिक कम ही होता है।

(5) प्राचीन नैतिक मान्यताएँ व्यर्थ एवं आरोपित हैं। 'पाप-पुण्य', 'भले-बुरे', 'छोटे-बड़े' के बँधे-बँधाए पैमाने झूठे हैं। वे मनुष्य का विनाश करते हैं, क्योंकि वे मनुष्य के अवचेतन में स्थिति वेगवान वासनाओं की सहज सुन्दर तुष्टि में नहीं, उनके दमन में विश्वास करते हैं। यह दमन विकास का बाधक है। वस्तुतः मनुष्य परिस्थितिवश सहज प्रव त्तियों से प्रेरित होकर कार्य करता है, अतः उसके किसी भी कार्य का नैतिक दायित्व उस पर नहीं है।

मनोविश्लेषणवादी समीक्षकों में इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय प्रमुख हैं। देवराज उपाध्याय भी इस कोटि के समीक्षक हैं। डॉ० नगेन्द्र की स्वच्छन्दतावादी समीक्षा पर इसका प्रभाव देखा जा सकता है।

इलाचन्द्र जोशी एक ओर आनन्द को काव्य का उद्देश्य मानकर कामवाद को आनन्द और भारतीय रसवाद से जोड़ देते हैं तो दूसरी ओर मार्क्सवाद से जोड़कर यथार्थवाद का निर्माण करते हैं। श्री जोशी ने अनेक आलोचनात्मक पुस्तकें लिखी हैं।

अज्ञेय ने पाश्चात्य आलोचकों (फ्रायड तथा एडगर) के मनोवैज्ञानिक सत्यों कला-निर्माण का मूल

प्रेरणा-स्रोत मानकर उसे नैतिकता, सामाजिकता और प्रेषणीयता प्रश्नों से जोड़कर वह साहित्यिक रूप दिया जो भारतीय चिंतन से मेल खाता है और समीक्षा के नए आयामों को स्पष्ट करता है।

समकालीन समीक्षा

'आज की समीक्षा' प्राचीन समीक्षा से कई अर्थों से भिन्न है। वह प्राचीन समीक्षा से परिष्कार चाहती है, क्योंकि आज के नवलेखन का वही सही मूल्यांकन नहीं कर पाती है। नई रचनाओं की संवेदना और उसके सौन्दर्य की परख के लिए नई समीक्षा पद्धति की आवश्यकता है। आज की समीक्षा नवलेखन की उपज है। वह आज भी प्राचीन मानों को अस्वीकार कर नए मानों की खोज में है। नवलेखन से सम्बद्ध लेखकों में ही इस समीक्षा के सूत्र निहित हैं, मात्र सूत्र ही निहित है, क्योंकि नवलेखन के क्षेत्र में कोई ऐसा समीक्षक नहीं है, जो नवीन मानो को सुनिश्चित कर सका हो। वैसे समीक्षा क्षेत्र में आचार्य द्विवेदी से लेकर वि.ना. साही तक इस क्षेत्र में अनेक समीक्षक कार्य करते रहे हैं। नवलेखन के क्षेत्र में अज्ञेय और मुक्तिबोध ने ही विभिन्न कृतियों पर समय-समय पर विचार करते हुए या सम्पादन करते समय साहित्य के मूल प्रश्नों पर विचार व्यक्त किए हैं।

आज की समीक्षा का दूसरा सत्य है- स ष्टा और परिवेश का जीवित सम्बन्ध। यह परिवेश रचनाओं में नाना रूपों में व्यक्त होता है। प्राचीन कवि या लेखक कल्पना लोक में, वायवीय संसार में रहता हुआ स जन करता था, किन्तु आज का सर्जक अपनी रचना में पूर्णतः समाहित रहता है। उसका टूटा हुआ, खण्डित व्यक्तित्त्व रचना में घुला-मिला रहता है। अतः रचनाकार के व्यक्तित्त्व को समझना किसी रचना को समझने का मूल आधार है। अतः आज की समीक्षा का एक मान है- सर्जक का व्यक्तित्त्व और उसका परिवेश।

इस प्रकार आज की समीक्षा समाजशास्त्र और मनोविज्ञान दोनों की उपलब्धियाँ आलोकित है।

आज की समीक्षा एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है- शिल्प विधि का चिन्तन। आज की समीक्षा भाषा और भाव को अलग-अलग नहीं देखती। प्राचीन साहित्य में भी शब्द और अर्थ की एकता पर विचार हुआ था, किन्तु सर्जन की प्रक्रिया के स्तर पर भाषा विचार करने की प्रव त्ति का विकास नवलेखन में विशेष रूप से हुआ है। आज के लेखन की भाषा की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि बिम्ब-योजना है। आज की जटिल खंडित संवेदनाओं और बोधों को व्यक्त करने के लिए बिम्बों और विशेषतया खण्डित बिम्बों और मुक्त साहचर्य की योजना हो रही है।

आधुनिक समीक्षा में शिल्प सम्बन्धी अनेक तथ्यों पर विचार हुआ है। तुक, मात्रा, लय, छन्द, उपन्यास तथा कहानी की भाषा, आंचलिक उपन्यासों की शिल्प प्रक्रिया आदि पर भी आज की समीक्षा में विचार हुआ है और हो रहा है। अन्त में निष्कर्ष यही है कि आज की समीक्षा भी मूलतः अनुभव को ही प्रधानता देती है।

19. हिन्दी के प्रमुख आलोचक और उनकी आलोचना द ष्टि

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

हिन्दी आलोचना के भव्य भवन का शिलान्यास यद्यपि आचार्य शुक्ल से पूर्व ही हो चुका था, तथापि इस भवन को सुद ढ़ और गगनचुम्बी बनाने का कार्य शुक्ल जी ने ही किया। उन्हें हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में युग-प्रवर्तक होने का गौरव प्राप्त है। उनसे पूर्व हिन्दी आलोचना एक छोटे से पौधे के रूप में थी, जिसे उन्होंने अपनी प्रतिभा, विद्वता और चिन्तन के जल, वायु और प्रकाश द्वारा विशाल व क्ष के रूप में परिणत किया। आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी ने लिखा है, ''शुक्ल जी ने हिन्दी समीक्षा में क्रान्तिकारी परिवर्तन किया। वे नए युग के विधायक थे।''

आचार्य शुक्ल जी की सैद्धान्तिक आलोचना

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की आलोचनाएँ प्रस्तुत कीं। इनकी सैद्धान्तिक आलोचना का स्वरूप चिन्तामणि भाग-2 के 'काव्य में रहस्यवाद' और 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' शीर्षक लेखों में मिलता है। उनके 'रस-मीमांसा' नामक ग्रन्थ में भी इसका स्वरूप दिखाई देता है। उनकी सैद्धान्तिक आलोचना की प्रमुख विशेषताएँ अग्रलिखित हैं-

(1) शुक्ल जी ने आलोचना का मानदण्ड भारतीय 'रसवाद' को माना है। उनकी रसवादी मान्यता में तीन प्रमुख बातें हैं।

(क) नैतिकता, संयम, आदर्श और विशेष बल। 'शिवत्व' से अनुप्रणित होना।

(ख) प्राचीन आचार्यों का अनुकरण मात्र न होकर मौलिकता से युक्त होना।

(ग) आलोचना का पूर्ण उपयुक्त मानदंड स्वीकार करना।

(2) शुक्ल जी ने भाव, विभाव, अनुभाव और संचारीभाव के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये हैं। भाव को वे प्रत्यक्ष बोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रव त्ति का संश्लिष्ट रूप मानते हैं। विभाव को वे काव्य में प्रमुख ठहराते हैं और विभाव पक्ष के व्यापक चित्रण के लिए कल्पना का संबल ग्रहण करना उचित समझते हैं।

(3) रस-दशा का अभिप्राय शुक्ल जी ने ह्रदय की मुक्तावस्था से लिया है। व्यक्ति का लोक-सामान्य भाव-भूमि पर जा पहुँचना ही ह्रदय की मुक्तावस्था है। आचार्य शुक्ल ने भरतमुनि तथा पण्डित विश्वनाथ का रस-निष्पत्ति सिद्धान्त अपनाया है, किन्तु संस्कृत आचार्यों की रस के स्वरूप और काव्य के उद्देश्य सम्बन्धी धारणा उसे मान्य नहीं।

(4) काव्य के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल की धारणा है कि कविता वह साधन है, जिसके द्वारा शेष स ष्टि के साथ मानव के रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और उसका निर्वाह होता है। इस दशा में पाठक की स्थिति तीन रूपों में व्यक्त होती है-

(क) पाठक का ह्रदय मुक्तावस्था को प्राप्त हो जाता है।

(ख) वह पराये के भेदभाव से ऊपर उठकर काव्य के भाव में ही तन्मय हो जाता है।

(ग) किसी अन्य वस्तु व्यापार की उसे अनुभूति नहीं रहती है।

(5) साधारणीकरण के सम्बन्ध में शुक्ल जी का मत है, ''जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके, तब तक उसमें रसोद्‌बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती।

(6) क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का शुक्ल जी ने तीव्र विरोध किया।

(7) प्रकृति-चित्रण के सम्बन्ध में उनका विचार है कि प्राकृतिक द श्य हमारे समक्ष आलम्बन रूप में भी उपस्थित होते हैं और उद्दीपन रूप में भी।

(8) जिन कवियों को लोक हृदय की पहचान होती है और जो लोक सामान्य आलम्बनों का सफल विधान करते हैं, उन्हें शुक्ल जी ने श्रेष्ठ कवि माना है।

(9) शुक्ल जी ने काव्य-भाषा की चार मुख्य विशेषताएँ मानी हैं-

(क) लाक्षणिकता

(ख) रूप व्यापार-सूचक शब्दों का प्रयोग।

(ग) नाद, सौष्ठव

(घ) रूप गुण-बोधक शब्दों का प्रयोग।

(10) अलंकारों को वे कविता का साधन ही मानते हैं, साध्य नहीं।

व्यावहारिक आलोचना

आचार्य शुक्ल ने जिन सैद्धान्तिक मान्यताओं का निरूपण किया है उन्हें वे व्यवहार में भी लाये। इसलिए उनकी सैद्धान्तिक और व्यावहारिक आलोचना एकदम घुली-मुली है। उनकी व्यावहारिक आलोचना का स्वरूप जायसी ग्रन्थावली की भूमिका, भ्रमरगीत सार की भूमिका तथा गोस्वामी तुलसीदास व हिन्दी साहित्य के इतिहास में प्राप्त होता है। उनकी समस्त व्यावहारिक आलोचनाओं को हम दो भागों में बाँट सकते हैं-

(क) कवियों पर लिखी गई समीक्षाएँ तथा

(ख) काव्यधाराओं पर लिखी गई समीक्षाएँ।

आचार्य शुक्ल ने तुलसी, सूर, जायसी आदि कवियों पर जो समीक्षाएँ प्रस्तुत कीं, उनसे हिन्दी आलोचना की भित्ति सुद ढ़ बनी। तुलसी की समीक्षा करते हुए शुक्ल जी ने काव्य के अर्न्तबाह्य पक्षों की द ष्टि से उनके काव्य का विवेचन किया। तुलसी की भक्ति पद्धति, लोकधर्म, लोकमंगल, लोकनीति, ज्ञान-भक्ति विवेचन आदि पर भी विचार किया और तुलसी की काव्य पद्धति भाषाधिकार, उक्ति-वैचित्र्य आदि का भी निरूपण किया। इस प्रकार तुलसी की उन्होंने सर्वांगीण आलोचना प्रस्तुत की है। द्विवेदी युगीन नैतिकता और आदर्श के गहन पक्षपाती होने के कारण शुक्ल जी को तुलसी सबसे प्रिय कवि और तुलसी का रामचरित मानस सबसे प्रिय काव्य-ग्रन्थ प्रतीत हुआ। मानस के लोक धर्म के आदर्श की ओर वे सम्पूर्ण हृदय से आकर्षित हुए। यह लोकधर्म सत् की रक्षा और असत् के दलन में निरत दिखाई देता है। शुक्ल जी ने पूरी भावुकता और तन्मयता के साथ मानव की इस विशेषता को उजागर किया है।

आचार्य शुक्ल की समीक्षा पद्धति का मूल्यांकन

आचार्य शुक्ल की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समीक्षा का एक सम्यक् विवेचन करने के उपरान्त हम कह सकते हैं कि वे अन्यतम कोटि के समीक्षक थे। डॉ० रामलाल सिंह के शब्दों में, ''उन्होंने हिन्दी समीक्षा का स्वतन्त्र तथा नव्य दर्शन उपस्थित किया।''

आचार्य शुक्ल ने आलोचना के क्षेत्र में अनेक मौलिक उद्भावनाएँ कीं। उन्होंने साहित्य मानदण्ड का आधार मनोरंजन तथा चमत्कार के स्थान पर जीवन को बनाया। शुक्ल जी ने आलोचना के लिए शक्ति, शील और सौन्दर्य का उच्च आदर्श खोज निकाला और इसी के आधार पर सुर, तुलसी, जायसी आदि कवियों की समीक्षाएँ प्रस्तुत कीं। उन्होंने भारतीय रसवादी धारणा को परिवर्तित और परिवर्द्धित कर उन्होंने उसे मौलिक रूप प्रदान किया। उन्होंने काव्य में रस दशा के साथ-साथ शील दशा की भी अवतारणा की।

यह उनकी मौलिक उद्भावना थी। उनके अनुसार इस दशा में पहुँचने पर हम काव्य की उस भूमि पर पहुँच जाते हैं जहाँ मनोविकार अपने क्षणिक रूप में दिखाई देकर जीवनव्यापी रूप में दिखाई देते हैं।

आचार्य शुक्ल ने साहित्य के दार्शनिक आधार को संपुष्ट बनाया। उन्होंने पाश्चात्य समीक्षकों की काव्य कला मानने की धारणा का खण्डन किया और उसे सत्यानुशीलन का साधन बताया। उनका कहना था कि कविता जीवन और जगत् के मार्मिक पक्ष की मनुष्य के सामने इस प्रकार लाती है कि मनुष्य के स्वार्थ के संकुचित घेरे से बाहर निकल भूमा के साथ एकाकार हो जाता है।

आचार्य शुक्ल की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि वे अपने सिद्धान्तों के सम्बन्ध में उन्होंने कठोरता से पालन किया। चूँकि ये मान्यताएँ उन्होंने गहन अध्ययन और सूक्ष्मचिंतन के बाद निर्धारित की थीं, अतः वे स्वयं उनके सम्बन्ध में द ढ़ और अपरिवर्तनशील बने रहे। अपनी शक्ति एवं क्षमता के बल पर उन्होंने सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की आलोचनाएँ प्रस्तुत कीं।

शुक्ल जी ने यूरोप के साहित्य क्षेत्रों में जल्दी-जल्दी होने वाले परिवर्तनों पर अपनी आस्था नहीं रखी। उन्होंने इसे बदलते फैशन जैसी चीज बताया। न वे विभिन्न वादों की उलझन में पड़े और न सामाजिक या राजनैतिक क्षेत्रों की विचारधाराओं से जुड़े। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि अपने युग के प्रति उनमें कोई जागरुकता न थी। उन्होंने जिस लोकधर्म के सिद्धान्त का बार-बार उल्लेख किया है वह मध्यवर्ग की उन आदर्शवादी धारणाओं से संयुक्त है, जो बीसवीं सदी के प्रथम चरण की विशेषता थी।

शुक्ल जी ने आलोचना क्षेत्र में अपनी अमिट छाप अंकित की। डॉ० नगेन्द्र ने लिखा है, ''आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के विषय में कदाचित यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि उनके समान मेधावी आलोचक किसी भी आधुनिक भारतीय भाषा में नहीं है।'' न केवल आलोचना अपितु निबन्ध, कविता, इतिहास, अनुवाद और सम्पादन आदि विविध क्षेत्रों में शुक्ल जी की प्रतिभा का आलोक विकीर्ण हुआ।

डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सत्य ही लिखा है, ''आचार्य शुक्ल उन महिमाशाली लेखकों में हैं जिनकी प्रत्येक पंक्ति आदर के साथ पढ़ी जाती है और भविष्य को प्रभावित करती रहती है। 'आचार्य' शब्द ऐसे ही कर्त्ता साहित्यकारों के योग्य है। पं० रामचन्द्र शुक्ल सच्चे अर्थों में आचार्य थे।

19.2 आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने काव्य-कृत्तियों का भाव संवेद्य और नैतिक मूल्यांकन तो किया था, पर वे नवीन युग की विकासोन्मुख काव्यधारा के सौष्ठव का पूर्ण साक्षात्कार न कर पाए। छायावादी

काव्यधारा का मूल्यांकन करने में उनकी नीति प्रधान रसद ष्टि असमर्थ ही रही। यह कार्य हिन्दी की सौष्ठव तथा स्वच्छन्दतावादी समीक्षा पद्धति के प्रमुख समीक्षकों में से एक हैं- आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी।

समीक्षात्मक द ष्टिकोण

वाजपेयी जी ने हिन्दी आलोचना में अपने स्वच्छन्द विचारों के साथ पदार्पण किया। एक कहावत है- ''नई शराब पुरानी बोतल में नहीं भरनी चाहिए, वह टूट जाती है।'' इसी प्रकार नये काव्य की आलोचना भी पुरानी कसौटी पर ठीक-ठीक ढंग से नहीं हो सकती है। शुक्ल जी ने सूर, तुलसी, जायसी आदि की सर्वांगीण आलोचना करके हिन्दी आलोचना को सुद ढ़ भित्ति पर स्थापित अवश्य किया था, परन्तु उनकी नैतिकता की कसौटी पर सभी काव्य कसे नहीं जा सकते। इसलिए वाजपेयी जी ने शुक्ल की द ष्टि को छायावादी काव्य के संदर्भ में अनुपयुक्त माना।

छायावादी काव्य के प्रति आकर्षण

छायावादी काव्य ने वाजपेयी जी की समीक्षा द ष्टि के निर्माण में महत् योगदान दिया। छायावाद की नूतन कल्पना छवियाँ, वायतीयत, अमूर्त भावों का चित्रण और लाक्षणिकता आदि की ओर वे विशेष आकृष्ट हुए। परिणामस्वरूप द्विवेदीयुगीन नैतिकता और इतिव त्तात्मकता के प्रति वे स्वाभाविक रूप से विमुख रहे। साकेत की अभिव्यक्तियाँ उन्हें प्रभावित न कर सकीं। महावीर प्रसाद द्विवेदी के भाषा-परिष्कार और सम्पादन को महत्त्व देते हुए उनके भी साहित्य को उन्होंने महत्त्वपूर्ण ही माना। प्रेमचन्द्र के आदर्श को भी वे सराह न सके। ऐसा प्रायः उनकी आरम्भिक आलोचनाओं में हुआ है जहाँ वे संयम न रख सके हैं।

समन्वय भावना

वाजपेयी जी समन्वयवादी समीक्षक हैं। उन्होंने स्वच्छन्दता और सौष्ठववादी समीक्षा पद्धति का शुक्ल पद्धति से समन्वय किया। शुक्ल जी विश्लेषणात्मक पद्धति को विस्तार देते हुए उन्होंने उसे निगमनात्मक कर दिया। शुक्ल जी के नीतिवादी द ष्टिकोण को स्वीकार करते हुए उन्होंने उसे लोक-कल्याण में रूपान्तरित कर दिया। साहित्य का उद्देश्य चरित्र-निर्माण है, शुक्ल जी की इस धारणा को स्वीकार करते हुए साहित्य का उद्देश्य वे सांस्कृतिक चेतना प्रदान करना मानते हैं। शुक्ल जी की रसवादी धारणा को मानते हुए भी वे उसका पाश्चात्य संवेदनीयता से सम्बन्ध स्थापित करते हैं। वस्तुतः वाजपेयी जी को एक सम द्ध भाव-भूमि प्राप्त हुई थी, उस समय हिन्दी आलोचना विकास की ऊँचाइयों पर पहुँची हुई थी।

सौन्दर्य प्रेम

वाजपेयी जी की समीक्षात्मक द ष्टि को समझने के लिए हमें उसकी सूर और प्रसाद की आलोचनाएँ देखनी आवश्यक हैं। सूर के गोचरण तथा गोवर्धन धारण के कथात्मक प्रसंगों का सौन्दर्य उन्हें अभिभूत किए बिना नहीं रहता। तभी वे लिखते हैं, ''स्थिति-विशेष का पूरा दिग्दर्शन भी करें, घटनाक्रम का आभास भी दें और साथ ही समुन्नत कोटि के रूप सौन्दर्य और भाव-सौन्दर्य की परिपूर्ण झलक भी दिखाते जाएँ, यह विशेषता हमें कवि सूरदास में ही मिलती है। इससे यह प्रकट है कि सौन्दर्य-बोध पर वाजपेयी जी की पूर्ण आस्था है। कदाचित इसलिए जयशंकर प्रसाद उनके सर्वाधिक प्रिय कवि बने। सौन्दर्य के प्रति वाजपेयी जी में निरन्तर आग्रह का भाव विद्यमान रहा है। प्रेमचन्द की आलोचना में उन्होंने कहा है, ''इस 'शिव' शब्द को हम व्यर्थ समझकर निकाल देना चाहते हैं। 'सत्य' और 'सुन्दर'

पर्याप्त हैं।'' उनका विश्वास है कि 'सुन्दरतम् साहित्य रचनाओं में सार्वजनिकता होती है। युग का प्रतिबन्ध या वाद का वितण्डा नहीं होता।' इस प्रकार सौन्दर्यानुसंधान उनकी समीक्षाद ष्टि की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

रसविषयक द ष्टि

वाजपेयी जी ने प्राच्य एवं पाश्चात्य आलोचकों के अध्ययन एवं संतुलन द्वारा साहित्यिक व्यक्तित्त्व का निर्माण किया है। पाश्चात्य विचारधारा से प्रभावित होने के कारण वे काव्य को कला मानते हैं, जबकि भारतीय काव्यशास्त्र उसे कला नहीं मानता। वे रस को 'ब्रह्मानन्द सहोदर' कहने की परम्परागत मान्यता से भी सहमत नहीं हैं। उनका तर्क है कि रस को ब्रह्मानन्द सहोदर कहकर उसकी आड़ में अनेक ऐसे तत्त्वों का प्रतिपादन किया गया है, जो भारतीय संस्कृति और समाज का प्रतिनिधित्व नहीं कर पाते, उनकी यह भी मान्यता है कि रस-सिद्धान्त को इतना व्यापक रूप प्रदान करना चाहिए कि वह संपूर्ण साहित्यिक-समीक्षा का मूल आधार बन सके। रस को केवल वेद्यान्तर स्पर्श शून्य और ब्रह्मानन्द सहोदर कहना उसे संकुचित परिधि में बाँधना है। उसे इतना व्यपाक बना देना चाहिए कि कला मात्र के आनन्द को 'रस' नाम से अभिहित किया जा सके।

अलंकारविषयक द ष्टि

वाजपेयी जी का अलंकार सम्बन्धी द ष्टिकोण यह है कि अलंकार काव्य के लिए आवश्यक नहीं है। कविता अपने उच्चतम स्तर पर पहुँचकर अलंकारविहीन हो जाती है। कविता जिस स्तर पर पहुँचकर अलंकारविहीन हो जाती है वहाँ वह वेगवती नदी की भाँति हाहाकार करती हुई सहृदय को स्तम्भित कर देती है। उस समय उसके प्रवाह में अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि न जाने कहाँ बह जाते हैं और सारे सम्प्रदाय न जाने कैसे मटियामेट हो जाते हैं।'' वाजपेयी जी के अनुसार ऐसी उच्चस्तरीय कविता में अलंकार वही कार्य करते हैं जैसे दूध में पानी। इससे प्रकट है कि वाजपेयी जी काव्य में अनुभूति को प्रधानता देते हैं, अभिव्यक्ति को नहीं। उनकी समीक्षा पद्धति का निर्माण भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों विचारधाराओं के समन्वय से हुआ है। इसलिए उन्होंने विश्वासपूर्वक कहा है, ''पिछले पचास वर्षों से हिन्दी साहित्य की जो मर्यादा बन गई है, उसे हम किसी भी स्थिति में टूटने न देंगे।'' वे अतिवादी से बचते हुए भारतीय साहित्यशास्त्र की मान्यताओं को समुन्नत और व्यापक बनाना चाहते हैं। इसके लिए वे आवश्यकता पड़ने पर पाश्चात्य सिद्धान्तों को ग्रहण करने से भी नहीं हिचकते हैं।

वाजपेयी जी की मान्यता है कि साहित्य को जीवन के लिए अजसत्र स्त्रोत की भाँति होना चाहिए। उसमें समाज, संस्कृति, जीवन, सांस्कृतिक चेतना और भावनाओं के परिष्करण की शक्ति होनी चाहिए।

वाद-विमुखता

वाजपेयी जी किसी वाद में आस्था नहीं रखते हैं। उनका स्पष्ट कथन है, ''वाद पद्धति पर चलने का नतीजा साहित्य में कृत्रिमता बढ़ाना, दलबन्दी फैलाना और साहित्य की निष्पक्ष माप को क्षति पहुँचाना हो सकता है।'' आलोचक कर्म की सफलता के लिए वाजपेयी ने दो आवश्यक शर्तें बताई हैं- एक यह है कि समीक्षा का व्यक्तित्त्व समुन्नत हो और दूसरी यह है कि उसमें कला का मानसिक आधार ग्रहण करने की पूरी शक्ति हो- किसी मत-वाद का आग्रह न हो।

समीक्षा शैली

वाजपेयी जी की समीक्षा शैली व्याख्यात्मक और विवेचनात्मक है। उनकी मुख्य विशेषताएँ निम्न हैं-

(1) किसी कृति की विशेषताओं का उद्घाटन करते समय वे क्रमानुसार एक, दो, तीन नम्बर

देते हुए उनका वर्णन करते हैं। शुक्ल जी की भाँति किसी एक तथ्य को सूत्र रूप में उपस्थित करके उसकी व्याख्या नहीं करते, अपितु तथ्यों का क्रमानुसार वर्णन करते हैं।

(2) व्याख्या में पूर्णता और प्रभावात्मकता की स ष्टि के लिए वे तुलनात्मक पद्धति का प्रश्रय भी ग्रहण करते हैं।

(3) कहीं-कहीं विषय में डूबकर वे भाव-विभोर भी हो जाते हैं। ऐसे स्थलों पर उनकी आलोचना प्रभाववादी हो जाती है। सूर की आलोचना में ऐसा देखा जा सकता है, परन्तु ऐसे स्थल अत्यंत कम हैं।

(4) वाजपेयी जी कहीं-कहीं आवेश में आकर प्रश्नों की बौछार करने लगते हैं। यथा- 'शेखरः एक जीवनी' की आलोचना का यह स्थल देखिए- ''अब वह (शशि) और भी निराश्रित हो गई है किन्तु शेखर को और भी बल मिला। संस्कार के लिए? समाधान के लिए? शान्ति के लिए? नहीं, आत्म-प्रवंचना के लिए, विषाद-त प्ति के लिए, अहं पूर्ति के लिए।''

(5) हास्य-व्यंग्य का सन्निवेश वाजपेयी जी की आलोचना शैली की एक अन्य विशेषता है।

भाषा

वाजपेयी जी की आलोचनाओं की भाषा संयत व गंभीर है। डॉ० नगेन्द्र ने उनकी भाषा और विवेचन पर अस्पष्टता का आरोप किया है जो अनुसूचित है। वस्तुतः वाजपेयी जी की भाषा में भावाद्बोधन की अद्भुत शक्ति है। कहीं-कहीं पर अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग भी करते हैं, परन्तु उनके साथ हिन्दी शब्द भी रख देते हैं। उर्दू शब्दों का उनकी भाषा में अभाव है। तथ्यों के उल्लेख के अवसरों पर वाक्य छोटे-छोटे रहते हैं, जबकि भावों का प्रवाह रहने पर वाक्य बड़े हो जाते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से प्रकट होता है कि वाजपेयी जी आधुनिक हिन्दी समीक्षकों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। प्राचीन और नवीन के सहज सामंजस्य को नया रूप, नया जीवन और नई दिशा देने का उन्होंने सराहनीय कार्य किया है। प्राचीनता से उन्हें विरोध नहीं है और न नवीनता के प्रति व्यामोह है। पीटर और एडीसन की विचारधारा को भी उन्होंने अपनाया तथा भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परागत मान्यताओं को भी उपजीव्य बनाकर अपनी समीक्षा पद्धति का विकास किया।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी भावयित्री और कवयित्री प्रतिभा से सम्पन्न कलाकार थे। एक ही व्यक्ति में इन दोनों प्रतिभाओं के दर्शन विरल होते हैं या तो कोई व्यक्ति शास्त्रों का ज्ञाता होता है या फिर साहित्य का रचयिता। किन्तु दोनों गुण जिस व्यक्ति में विद्यमान होते हैं, वही श्रेष्ठ साहित्यकार माना जाता है। सौभाग्य से डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी को ये दोनों गुण प्राप्त हुए। आधुनिक हिन्दी साहित्य में इस द ष्टि से उनके समकक्ष केवल आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आते हैं। वे भी सिद्धान्तों के नियामक और साहित्य स ष्टा दोनों ही थे। यही विशेषता द्विवेदी जी में रही। 'साहित्य का साथी' तथा 'साहित्य का मर्म' यदि उनकी आलोचना-पद्धति में निरर्थक बने तो 'बाणभट्ट की आत्मकथा' 'चारुचन्द्र लेखा' 'पुनर्नवा' 'अशोक के फूल' 'कुटज' आदि ग्रन्थ उनके श्रेष्ठ रचनाकार होने के प्रमाण हैं।

आचार्य शुक्ल ने अपनी प्रतिभा, चिन्तन और पांडित्य द्वारा हिन्दी आलोचना के जिस भव्य पथ का निर्माण किया था, उसे और अधिक प्रशस्त बनाने का कार्य द्विवेदी जी ने किया। उनके सिद्धान्त और मान्यताएँ शुक्ल जी के विरुद्ध नहीं थी, अपितु उन्होंने शुक्ल जी द्वारा अधूरे छोड़े गए कार्य को पूरा किया। हिन्दी समीक्षा को उन्होंने एक नई उदार और वैज्ञानिक द ष्टि प्रदान की।

डॉ० बच्चन सिंह ने आचार्य द्विवेदी की हिन्दी 'साहित्य की भूमिका' को उनके सिद्धान्तों की बुनियादी पुस्तक कहा है। इसके एक वर्ष पश्चात् 'कबीर' का प्रकाशन हुआ। 'सूर साहित्य' पहले से ही सन् 1934 ई० में प्रकाशित हो चुकी थी। इन पुस्तकों ने सम्पूर्ण हिन्दी-संसार का ध्यान आकर्षित किया। 'सूर-साहित्य' में भावुकता का रंग कुछ प्रगाढ़ हो गया है, किन्तु शेष दोनों पुस्तकें द्विवेदी जी के विचारों की परिपक्वता की द्योतक है। उनका मानवतावादी द ष्टिकोण तथा ऐतिहासिकता पद्धति इनमें उभरकर सामने आई। उन्होंने बताया कि किसी साहित्य को व्यापक सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि आलोचक को अपनी सांस्कृतिक विरासत का पूर्ण ज्ञान हो।

मानवतावाद

डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने साहित्य के मर्म मानवतावाद को माना है। उनका कहना है- ''मैं साहित्य को मनुष्य की द ष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ। जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, दीनता और परमुखोपेक्षिता से बचा न सके, जो उसकी आत्मा को तेजोद्दीप्त न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है।'' अतएव स्पष्ट है कि उनकी द ष्टि मानवतावादी है। उनका मानवतावाद उपनिषदों से प्रभावित है, उसमें मनुष्य-मनुष्य में भेद नहीं माना जाता। इसका प्रतिपादन 'साहित्य का मर्म' बड़े विशुद्ध और वैज्ञानिक रूप में हुआ है। इसी मानवतावाद की अभिव्यक्ति 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' और 'कबीर' में इतिहास का आश्रय लेकर हुई है, तो 'साहित्य का मर्म' में विविध ज्ञान-विज्ञान के माध्यम से हुई है।

द्विवेदी जी साहित्यकार का लक्ष्य मनुष्य का हित-साधन करना मानते हैं। वे 'कला कला के लिए' के सिद्धान्त के समर्थक नहीं हैं। उनका इतिहासकार रूप उनके समीक्षक रूप में इस प्रकार घुल-मिल गया है कि उन्हें परस्पर प थक् करके अध्ययन करना संभव नहीं है। इसलिए उनके आलोचनात्मक साहित्य को मोटे रूप में यदि हम दो भागों में बाँटे- (1) इतिहास सम्बन्धी तथा (2) समीक्षा सम्बन्धी। तो ये दोनों रूप हमें परस्पर घुले-मिले दिखाई देंगे। अभी तक हिन्दी साहित्य के भक्तिकाव्य के सम्बन्ध में शुक्ल जी द्वारा निर्दिष्ट मान्यता ही चल रही थी कि मुसलमानों के सामने पराजित होने पर हिन्दू जाति के निराश और भग्न ह्रदय के सम्मुख ईश्वर की शरण में जाने के अतिरिक्त कोई उपाय न था, इसलिए इस साहित्य में भक्ति भावना विद्यमान है। द्विवेदी जी ने हिन्दी के साहित्य को हतदर्य पराजित हिन्दू जाति की संपत्ति नहीं माना।

काव्यरूप का विकास

द्विवेदी जी की समीक्षा के क्षेत्र में एक अन्य महत्त्वपूर्ण देन यह है कि उन्होंने हिन्दी के काव्यरूप के विकास की ओर ध्यान दिया। यह कार्य उनसे पूर्व अन्य किसी आलोचक ने नहीं किया। हिन्दी साहित्य के साथ उन्होंने अन्य प्रांतों के साहित्य का सम्बन्ध जोड़कर काव्य रूपों में तुलनात्मक विवेचन की दशा में भी कार्य किया है।

आलोचना शैली

द्विवेदी जी की आलोचना शैली के अनेक रूप मिलते हैं। विवेचनापूर्ण व्याख्यात्मक शैली में उन्होंने जो आलोचनाएँ लिखी हैं, उनमें विषय प्रतिपादन के लिए उद्धरण दिए हैं। अपने गहन अध्ययन द्वारा विषय का समर्थन करने के लिए उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। उनकी आलोचना शैली का दूसरा रूप भावात्मक है, जिसमें किसी कवि की विशेषताओं की प्रशंसा की है। मध्ययुगीन साहित्य और संस्कृति द्विवेदी जी का प्रिय क्षेत्र है। उन्होंने सांस्कृतिक गतिविधि लोक-जीवन आदि के बीच से साहित्य का परीक्षण करने की जिस वैज्ञानिक पद्धति को जन्म दिया, उसके लिए हिन्दी समीक्षा उनकी चिर ऋणी रहेगी। एक आलोचक ने ठीक ही लिखा है कि- ''ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक समीक्षा पद्धति का आदर्श रूप पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी की आलोचनाओं से प्रस्फुटित हुआ है।''

डॉ० रामविलास शर्मा

डॉ० रामविलास शर्मा मार्क्सवादी आलोचक हैं। उनके सम्बन्ध में डॉ० बच्चन सिंह ने लिखा है कि ''मार्क्सवादी आलोचकों में रामविलास शर्मा की द ष्टि सबसे पैनी, स्वच्छ और तलस्पर्शी है। विचारों के स्तर पर वे कहीं भी समझौतावादी नहीं होते। वे बहुत ही खरे, दो-टूक बात कहनेवाले निर्भीक आलोचक हैं।''

मार्क्सवादी आलोचना का प्रादुर्भाव शर्मा जी से पूर्व ही हो चुका था। 'हंस' के सम्पादन के रूप में डॉ० शिवदान सिंह चौहान उसके सैद्धान्तिक पक्ष पर बहुत कुछ लिख चुके थे। प्रकाशचन्द्र गुप्त ने भी इस सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किए थे। आरम्भ में प्रगतिवाद साहित्य की व्यापक प्रगतिशील चेतना के उन्मेष को लेकर अवतीर्ण हुआ था, किन्तु बाद में उसका आशय कम्युनिस्ट पार्टी की नीतियों का उद्घोषणा मात्र रह गया था। मार्क्सवादी साहित्यकार केवल उस साहित्य को उत्तम मानते हैं जिससे सर्वहारा वर्ग के धर्म-संघर्ष का चित्रण हो, पार्टी की नीतियों के आधार पर जनता को सशस्त्र क्रान्ति की चेतना प्रदान की गई हो। इस संकीर्णता की कटु आलोचना भी हुई। शनैः-शनैः साहित्यकारों ने इन संकीर्णताओं से मुक्त होने का प्रयास भी किया।

जहाँ तक डॉ० रामविलास शर्मा का प्रश्न है, वे मार्क्सवादी आलोचक होने के कारण साहित्य में सर्वहारा वर्ग के चित्रण पर बल देते हैं। 'साहित्य संदेश' में प्रकाशित अपने एक लेख में उन्होंने कहा है, ''साहित्य लिखते समय साहित्यकार को यह ध्यान रखना चाहिए कि वह 'सर्वहारा' का सहयोगी साहित्य निर्मित करे।'' पर यह एक संकीर्ण मनोव त्ति है। समाज में केवल सर्वहारा वर्ग की समस्याएँ नहीं हैं। वर्ग-वैमनस्य से पीड़ित जनता भी है। क्या प्रगतिशील साहित्य को उनके विषय में नहीं सोचना चाहिए। केवल 'सर्वहारा वर्ग' की बात कहना साहित्य को संकीर्ण परिधि में आबद्ध कर देता है।

रामविलास शर्मा की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि उन्होंने हर नये का समर्थन और हर प्राचीन का विरोध नहीं किया। उन्होंने उन मार्क्सवादी आलोचकों पर आरोप लगाया, जिन्होंने पंक्तियाँ खोज-खोजकर तुलसीदास को प्रतिक्रियावादी, ब्राह्मणवादी आदि सब कुछ कहा है। उनका मत है- ''यह अत्यंत आवश्यक है कि हम अपने साहित्य की पुरानी परम्पराओं से परिचित हों। परिचित होने के साथ-साथ हमें उनके श्रेष्ठ तत्त्वों को भी ग्रहण करना चाहिए।''

(संस्कृति और साहित्य की भूमिका)

समीक्षा शैली

रामविलास शर्मा की समीक्षा शैली की प्रमुख विशेषता है- व्यंग्य की मार करना। डॉ० नगेन्द्र की 'विचार और अनुभूति' नामक पुस्तक पर चुटकी लेते हुए वे कहते हैं कि ''नगेन्द्र जी के विचार उन्हें एक कदम आगे ढकेलते हैं तो उनकी अनुभूति उन्हें चार कदम पीछे घसीट ले जाती है। इस पुस्तक का नाम 'एक कदम आगे और चार कदम पीछे' भी हो सकता था।''

शर्मा जी की समीक्षा शैली की एक अन्य विशेषता यह है कि उसमें उदाहरण विद्यमान रहते हैं। इससे आलोचना में बल आ जाता है। उन्होंने जब महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन की विचारधारा की आलोचना की थी तो साहित्य में जैसे एक भूचाल आ गया था, किन्तु उन्होंने प्रमाण देकर अपनी बात कही थी, इसलिए आनेवाले तूफान से अप्रभावित रहे।

सफल आलोचक

शर्मा जी एक सफल आलोचक हैं। उनके जिन गुणों ने उन्हें सफल आलोचक बनाया है, वे हैं- विद्वता, भाषाधिकार, प्रामाणिक बात कहने की आदत, वैज्ञानिक द ष्टि, निष्पक्षता। निष्पक्षता के गुण में जहाँ एक ओर उनसे किसी भी बेहिचक आलोचना कराई है, वहीं दूसरी ओर छोटे-छोटे लेखकों को यथोचित् सम्मान भी दिलवाया है। उनकी विशेषता है कि उनमें अहंकार नाममात्र को भी नहीं है। प्रायः जाने-माने विद्वान् नवोदित साहित्यकारों की उपेक्षा करते हैं, किन्तु शर्मा जी किसी भी नये रचनाकार का उद्धरण बड़ी उदारता से अपनी रचना में दे देते हैं। यह उनकी निष्पक्षता ही है जो वे एक ओर पन्त और राहुल जैसे ख्यातिलब्ध साहित्यकारों को नहीं बख्शते और दूसरी ओर नये रचनाकारों की वांछनीय सराहना करते हैं।

रामविलास शर्मा ने हिन्दी सन्त साहित्य, भारतेन्दु युग, छायावाद, प्रेमचन्द, निराला आदि पर अत्यन्त सुलझे हुए विचार व्यक्त किए हैं।

नवीनता का अभिनन्दन

छायावादी काव्यधारा का उन्होंने अभिनन्दन किया और नई रोमांटिक कविता की दाद देते हुए कहा- ''नई रोमांटिक कविता में नायक-नायिकाओं की क्रीड़ा के स्थान पर व्यक्ति और उसके भावों-विचारों को प्रतिष्ठापित किया। निष्प्राण प्रतीकों के बदले सजीव भावों के द्वारा वे साहित्य को जीवन के निकट लाए।'' निराला के वे प्रशंसक हैं। उन्होंने ईमानदारी के साथ स्वीकार किया- ''बारह वर्ष तक इतने निकट-संपर्क में रहने के कारण उन पर पूर्ण तटस्थता से लिखना मेरे लिए प्रायः असम्भव है। किन्तु उन्होंने अपने प्रयास के विषय में घोषित किया है।

डॉ० रामविलास शर्मा आमतौर पर छन्दोबद्ध कविता के समर्थक हैं। फिर भी उन्होंने निराला के मुक्त छंद की प्रशंसा की है। कारण यह है कि निराला के मुक्त छन्द में गेयता, ध्वनि, साम्य, सानुप्रासिकता, काव्य गुणों की सत्ता आदि विशेषताएँ रहती हैं। इसके विपरीत जिन कवियों के मुक्त छन्द कोरे गद्य में बदल जाते हैं, उनकी उन्होंने कटु आलोचना की है।

डॉ० रामविलास शर्मा की विचारधारा में काव्यशास्त्र की परम्परागत मान्यताओं के लिए कोई स्थान नहीं है। वे रस तथा अलंकारविषयक प्राचीन मान्यताओं के विरुद्ध है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि डॉ० रामविलास शर्मा आधुनिक हिन्दी आलोचना में अग्रणीय हैं।